भूगोल के भौतिक आधार

लेखक

डा० रामनाथ दुबे, एम० ए०, डी० लिट्०

अध्यक्ष, भूगोल विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

कि ता ब म ह ल

इ ला हा बा द

प्रथम संस्करण, १९५३
द्वितीय संस्करण, १९५४
तृतीय संस्करण, १९५६

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७ जीरो रोड, इलाहाबाद।

भूमिका

यह पुस्तक लेखक की अँग्रेजी भाषा में लिखी हुई "फिजिकल बेसिस ऑफ जोग्रेफी" का हिन्दी अनुवाद है। इसका उद्देश्य भारतीय विद्यार्थियों के लिए भौतिक भूगोल की एक विस्तृत ज्ञान देने वाली पुस्तक प्रस्तुत करना है। भूगोल के उच्चकोटि के अध्ययन के लिए भौतिक भूगोल का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। यह खेद की बात है, कि अनेक कारणों से हमारे देश में ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में लिखी हुई छोटी कक्षा की पुस्तकें ही समुचित समझी जाती हैं। इस प्रकार की विदेशी पुस्तकों में प्रारम्भिक अध्ययन के अतिरिक्त उदाहरण भी विदेशों के ही होते हैं। इन कमियों को ध्यान में रखते हुए, एक भारतीय लेखक ने भारतीय विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक लिखी है। इस विषय की अधिकतर प्रचलित पुस्तकों की अपेक्षा इसमें अध्ययन की समुचित सामग्री देने का प्रयास किया गया है। आशा की जाती है कि इस पुस्तक से हमारे विद्यार्थियों को उनकी परीक्षा के लिए अधिक सहायता प्राप्त होगी।

इस पुस्तक के लिए अँग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा की प्रसिद्ध पुस्तकों से सहायता ली गई है। पैरिस यूनिवर्सिटी के प्राध्यापक दि मार्तोन्, जिनकी शरण में रह कर लेखक ने लगभग दो वर्ष भूगोल के गूढ़ तत्वों का अध्ययन किया था, उनकी महान् कृपा और प्रेरणा से ही यह पुस्तक सम्भव हो सकी है।

विषय की अध्ययन-प्रणाली, फ्रांस और जर्मनी के प्रमुख भूगोल के वेत्ताओं द्वारा मानी हुई प्रणाली ही इस पुस्तक की प्रणाली है। इस प्रणाली में विषय की एकता का ध्यान रखते हुए अध्ययन का प्रबन्ध वायु-मंडल से होता है। धरातल का अध्ययन इसके बाद आता है। इसका कारण वायु-मंडल का सार्वभौमिक प्रबल प्रभाव है। यह प्रभाव पृथ्वी पर पाये जाने वाले सभी तत्वों पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। यही नहीं, वरन् वायु-मंडल ही पृथ्वी की एक ऐसी विशेषता है जो पूरे ब्रह्मांड में किसी भी ग्रह [illegible] में नहीं देखा जाता है। इसीलिए वायु-मंडल ही भौतिक भूगोल का आधार है।

६ सितम्बर, १९५३ — रामनाथ दुबे

तृतीय संस्करण

तृतीय संस्करण में कुछ आवश्यक सुधार करके यह पुस्तक विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है कि पहले की भाँति यह फिर लाभप्रद होगी।

५ अप्रैल १९५६ — लेखक

भूमिका

यह पुस्तक लेखक की अँग्रेजी भाषा में लिखी हुई "फिजिकल बेसिस ऑफ जोग्रेफी" का हिन्दी अनुवाद है। इसका उद्देश्य भारतीय विद्यार्थियों के लिए भौतिक भूगोल की एक विस्तृत ज्ञान देने वाली पुस्तक प्रस्तुत करना है। भूगोल के उच्चकोटि के अध्ययन के लिए भौतिक भूगोल का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। यह खेद की बात है, कि अनेक कारणों से हमारे देश में ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में लिखी हुई छोटी कक्षा की पुस्तकें ही समुचित समझी जाती हैं। इस प्रकार की विदेशी पुस्तकों में प्रारम्भिक अध्ययन के अतिरिक्त उदाहरण भी विदेशों के ही होते हैं। इन कमियों को ध्यान में रखते हुए, एक भारतीय लेखक ने भारतीय विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक लिखी है। इस विषय की अधिकतर प्रचलित पुस्तकों की अपेक्षा इसमें अध्ययन की समुचित सामग्री देने का प्रयास किया गया है। आशा की जाती है कि इस पुस्तक से हमारे विद्यार्थियों को उनकी परीक्षा के लिए अधिक सहायता प्राप्त होगी।

इस पुस्तक के लिए अँग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा की प्रसिद्ध पुस्तकों से सहायता ली गई है। पैरिस यूनिवर्सिटी के प्राध्यापक दि मार्तोन्, जिनकी शरण में रह कर लेखक ने लगभग दो वर्ष भूगोल के गूढ़ तत्वों का अध्ययन किया था, उनकी महान् कृपा और प्रेरणा से ही यह पुस्तक सम्भव हो सकी है।

विषय की अध्ययन-प्रणाली, फ्रांस और जर्मनी के प्रमुख भूगोल के वेत्ताओं द्वारा मानी हुई प्रणाली ही इस पुस्तक की प्रणाली है। इस प्रणाली में विषय की एकता का ध्यान रखते हुए अध्ययन का प्रबन्ध वायु-मंडल से होता है। धरातल का अध्ययन इसके बाद आता है। इसका कारण वायु-मंडल का सार्वभौमिक प्रबल प्रभाव है। यह प्रभाव पृथ्वी पर पाये जाने वाले सभी तत्वों पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। यही नहीं, वरन् वायु-मंडल ही पृथ्वी की एक ऐसी विशेषता है जो पूरे ब्रह्मांड में किसी भी ग्रह पू[illegible] में नहीं देखा जाता है। इसीलिए वायु-मंडल ही भौतिक भूगोल का पर[illegible] आधार है।

९ सितम्बर, १९५३ — रामनाथ दुबे

तृतीय संस्करण

तृतीय संस्करण में कुछ आवश्यक सुधार करके यह पुस्तक विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है कि पहले की भाँति यह फिर लाभप्रद होगी।

१ अप्रैल १९५६ — लेखक

विषय-सूची

अध्याय

हमारा क्षेत्र

भूगोल का ध्येय मनुष्य से संबंधित पृथ्वी का अध्ययन है। वास्तव में मनुष्य आर्थिक उन्नति के आधार कुछ अंश तक पृथ्वी की संपत्ति में और कुछ अंश तक स्वयं मनुष्य की संकल्प-शक्ति में हैं। मनुष्य की यह संकल्प-शक्ति उसके पूर्वजों से प्राप्त हुई है। मनुष्य के संकल्प की सफलता किसी भाग में पृथ्वी के विशेष लक्षणों पर ही निर्भर है। ये लक्षण "भौतिक परिस्थिति" (फिजिकल एनवायरेनमेंट) कहलाते हैं। इस परिस्थिति से मनुष्य का कहीं भी और कभी भी छुटकारा नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि मनुष्य अपनी गमन-शक्ति के कारण एक भौतिक परिस्थिति से दूसरी भौतिक परिस्थिति में जा सकता है, परन्तु जिस परिस्थिति में भी वह जायगा वहाँ उसको परिस्थिति के साथ सहयोग करना पड़ेगा, अर्थात् वह प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता है। अपनी उन्नति के प्रारम्भ काल में अज्ञानता के कारण आदिवासी जैसी भी भौतिक परिस्थिति में अपने को पाते थे उसी पर वह पूर्ण रूप से निर्भर थे। परन्तु जैसे-जैसे प्रकृति के नियमों का उनका ज्ञान बढ़ता गया, तैसे-तैसे उनकी प्रकृति की दासता कम होती गई। अपने संकल्प को सफल बनाने के लिए उन्नत मनुष्य ने प्रकृति के नियम से छुटकारा पाने के लिए प्रकृति के किसी दूसरे नियम का सहारा लिया। इस प्रकार उसने अपनी भौतिक परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर ली, अर्थात् उसने अपनी इस परिस्थिति को विस्तृत बना लिया। प्राचीन काल में पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में, भिन्न-भिन्न भौतिक परिस्थितियों में, भिन्न-भिन्न जाति के लोग बसे हुए थे। अपने-अपने ज्ञान के अनुसार ही इन जातियों ने भौतिक परिस्थिति के अनुकूल अपना जीवन बनाया।

इन सभ्यताओं की उन्नति ज्यों-ज्यों हुई, त्यों-त्यों प्रकृति-निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा मनुष्य-निर्मित वस्तुएँ पृथ्वी पर अधिक दिखने लगीं। खेत, नहरें, सड़कें, रेलें, नगर आदि सभी मनुष्य ने बनाये हैं, प्रकृति ने नहीं। परन्तु इनके बनाने में मनुष्य ने प्रकृति से ही सहायता प्राप्त की है। जहाँ मिट्टी नहीं वहाँ खेत नहीं, जहाँ जल नहीं वहाँ नहर नहीं, और जहाँ भौतिक सम्पत्ति नहीं वहाँ नगर नहीं। मनुष्य की बनाई हुई वस्तुओं से पृथ्वी पर एक अन्य प्रकार की परिस्थिति उपस्थित हो गई। इस परिस्थिति को सांस्कृतिक परिस्थिति (कलचरल एनवायरनमेंट) कहते हैं। यह सर्वथा मनुष्य के संकल्प तथा उसकी सभ्यता पर निर्भर है।

मनुष्य के जीवन में 'भौतिक परिस्थिति' का सबसे बड़ा कार्य किसी संकल्प के लिए उत्तेजना (स्टिमुलस) देना है। जब शरीर को शीत का अनुभव होता है तब उसको इच्छा शीत से बचने की होती है। शीत से बचने के लिए वह आवश्यक संकल्प कार्यान्वित करता है। प्रकृति की यह उत्तेजना ही मनुष्य की उन्नति और उसके सभी कार्यों के लिए उत्तरदायिनी है। हमारा रहन-सहन, हमारे विचार तथा हमारे लड़ाई-झगड़े भी भौतिक परिस्थिति द्वारा उत्तेजित हैं। इसी उत्तेजना के कारण ही पृथ्वी पर सभ्यता था संस्कृति का विकास हुआ है।

'भौतिक परिस्थिति' में वायु, जल, स्थल और प्राणी (मनुष्य भी) सम्मिलित हैं। इनको अँग्रेजी में एटमोसफियर, लियोसफियर, हाइड्रासिफयर और बायोसफियर कहते हैं। प्रकृति के ये सभी अंग निश्चित रूप से नियत नियम से बँधे हैं। इनकी एक मुख्य विशेषता उनकी 'गति' अर्थात् 'परिवर्तन' (चेन्जएबिलिटी) है। विध्वंस और निर्माण संसार को सदैव 'प्रगतिशील' (डायनिमिक) बनाते रहते हैं। संसार में कोई भी वस्तु सचमुच स्थिर नहीं है। वायु का वहन, जल का वहन, स्थल में परिवर्तन तथा प्राणियों का जीवन-मरण संसार की प्रगतिशीलता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यद्यपि बहुत से मनुष्य यही कहा करते हैं कि संसार पीछे जा रहा है, और उनका कहना ऐसा प्रकृति के नियमानुसार ही है; यह विचार उनको कार्य की ओर अग्रसर करता है।

भूगोल के वास्तविक अध्ययन के लिए पृथ्वी की 'भौतिक-परिस्थिति' तथा 'सांस्कृतिक परिस्थिति' का अन्तर्संबंध बताते हुए इन परिस्थितियों के वितरण (ज्यग्रैफिकल डिस्ट्रीब्यूशन) का ज्ञान प्राप्त करना है। इस अध्ययन में विभिन्न विज्ञानों का सहारा आवश्यक है; क्योंकि प्रकृति के नियमों का ज्ञान हमको इन्हीं विज्ञानों से प्राप्त होता है, परन्तु भूगोल का क्षेत्र वैज्ञानिक की प्रयोगशाला से बाहर पृथ्वी पर है।

अन्य विषयों की भाँति भूगोल के अध्ययन में भी आजकल 'विशिष्टता' (स्पेशलाइजेशन) की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। परन्तु भय यह है कि ऐसा करने में हम भूगोल के मूल 'भूगोल के भौतिक आधार' को विस्मरण कर दें।

जिन देशों के ऊपर से होकर आप उड़ेंगे समय वहाँ हर वार नये समय कटिवन्ध को पार करने पर समय एक घंटा अधिक मिलेगा। जबआप इलाहाबाद में लौट आयेंगे, तो आप चौबीस समय कटिवन्ध को पार कर चुके होंगे जिनमें से प्रत्येक समय में एक घंटे आगे था। इससे यद्यपि आप कुछ ही सेकेंडों के लिए उड़े हैं, फिर भी आप अपने जाने के बाद चौबीस घंटों के उपरान्त इलाहाबाद में लौटे हैं।

अब मान लीजिए कि आप पश्चिम की ओर उड़ें। हर समय-कटिबन्ध में जिसे आप पार करेंगे, एक घंटा कम होता चला जायगा। चौबीस समय-कटिबन्ध पार करने के अनन्तर, इसीलिए, आप इलाहाबाद में अपने जाने से चौबीस घंटे पहले लौट आएँगे। यह तर्क-विरुद्ध बात है। इसलिए एक तिथि रेखा होनी चाहिये जिसे पार करने पर, तिथि बदली जानी चाहिए।

यदि हम पश्चिम की ओर यात्रा करें तो हमारा दिन हमेशा बढ़ा हुआ नजर आएगा, क्योंकि हमें इस बात का लाभ हस्तगत है कि जिस स्थान से हम सुबह को चले थे वहाँ सूर्य का शीघ्रोदय हुआ था और जहाँ हम शाम को पहुँचते हैं वहाँ वह देर में अस्त होगा।

यदि कोई मनुष्य पृथ्वी के चारों ओर पश्चिमी दिशा में उसी चाल से उड़ना शुरू करे जिससे सूर्य चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है और दोपहर में एक दिए हुए विन्दु से अपनी घड़ी उसी समय ठीक करके चले तो जब वह १५° देशान्तर उड़ लेगा, तो सूर्य के द्वारा ही होगा, परन्तु उसकी घड़ी द्वारा एक बज रहा होगा। जब वह ९०° देशान्तर मध्यान्ह उड़ जायगा तो सूर्य के अनुसार तो मध्यान्ह होगा, परन्तु उसकी घड़ी शाम को ६ बजा रही होगी। ज्यों-ज्यों वह अपनी यात्रा पृथ्वी के चारों ओर करता जायगा, उसके लिए मध्यान्ह बना रहेगा (क्योंकि जिस दिन वह चला है उस दिन का सूर्य उसके साथ-साथ चल रहा है), यद्यपि उसकी घड़ी चौबीस घंटे पूरे कर लेगी। इस प्रकार उसे पूरा एक दिन मिल जायगा। वस्तुतः, पश्चिम की ओर हर १५ देशान्तर पार करने पर एक घंटा के हिसाब से उसका दिन लम्बा होता चला गया है। यदि उसने अपने पहुँचने के समय कटिबन्ध के समय से अपनी घड़ी मिलाई होती तो पृथ्वी के चारों ओर की अपनी उड़ान में चौबीस बार एक-एक घंटा करके अपनी घड़ी बढ़ानी पड़ती। इसलिए, अपना समय ठीक-ठीक जानने में वह एक दिन पिछड़ा हुआ है।

पूर्व-दिशागामी यात्री, इसके विपरीत, अपने दिन निरन्तर छोटे करता जाता है। वह हमेशा उस स्थान से चलता है जहाँ सूर्य देर में निकलता है, और ऐसे स्थान में पहुँचता है जहाँ सूर्य पहले छिपता है।

मान लीजिए कि एक मनुष्य पृथ्वी के चारों ओर की उड़ान दोपहर में शुरू करता है

और यह भी मान लीजिये कि वह उसी चाल से उड़ता है जिससे सूर्य पश्चिम की ओर चलता दृष्टिगोचर होता है। वह हर घंटे में १५° देशान्तर पूर्व की ओर यात्रा कर लेता है और दो पहर इस घेरे में १५° देशान्तर पश्चिम की ओर विपरीत दिशा में चलती है। इस प्रकार उसके स्थान में और दो पहर होने के स्थान में ३०° का अन्तर होगा क्योंकि मध्यान्ह भी पश्चिम की ओर उसी चाल से खिसक रहा है जिससे वह पूर्व की ओर यात्रा कर रहा है। इसका परिणाम यह होता है कि जब वह पृथ्वी के चारों ओर का आधा रास्ता तय कर लेता है, तो उसे फिर मध्यान्ह मिलता है। जब वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचता है तो उसे पता चलेगा कि मध्यान्ह भी वहाँ पर दूसरी दिशा से पहुँच गया है। यद्यपि केवल चौबीस घंटे बीते हैं (जब से वह अपनी यात्रा पर चला था), फिर भी ऐसा मालूम पड़ता है कि वह इसमें दो दिन व्यतीत कर चुका है क्योंकि उसने दोबारा सूर्योदय मध्यान्ह सूर्यास्त एव निशीथ देखे हे। इसलिए, वह सही समय से एक दिन आगे है और इसीलिए उसे एक दिन दुहराना पड़ेगा।

जब कभी कोई मनुष्य पृथ्वी के चारों ओर यात्रा करता है, तो वह चाहे जिस चाल से चले और यात्रा में चाहे जितना समय लगे उस स्थान के समय में जहाँ उसकी यात्रा समाप्त होती है और उसकी घड़ी के समय में एक दिन का अन्तर पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा की पश्चिमी सीमा पर एक नवीन दिवस प्रारंभ होता है और एक-एक घंटे की अवस्थाओं से गुजरता हुआ पूर्व से पश्चिम को खिसकता जाता है। हर घंटे में यह एक नये समय कटिवन्ध में होता है; यहाँ तक कि तेईस घंटे की समाप्ति पर यह उस समय कटिवन्ध की पूर्वीय सीमा पर पहुँच चुकता है जिसमें तिथि-रेखा स्थित है। ज्योंही यह तिथि-रेखा पर पहुँचता है, यह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है और इसके बाद इसका उत्तराधिकारी दिवस इसका स्थान ले लेता है। इस बाद वाले दिन का जन्म पहले ही हो चुका और यह प्रथम दिवस को पीछे से खिसकाता आ रहा था। इस प्रकार, तिथि रेखा के कारण, प्रत्येक दिन अड़तालीस घंटे के लिये रहता है।

आवश्यकता के निमित्त, हमारा समय कृत्रिम रूप से नियमित है। हमारी घड़ियाँ ऐसा समय दिखाती हे जो न तो पृथ्वी के भ्रमण पर ही आश्रित है और न स्थानीय मध्यान्ह पर ही। यह केवल प्रायोगिक सरलता के आधार पर है। पहले तो, किसी दी हुई देशान्तर का समय एक पूरे समय कटिवन्ध या देश के लिये व्यापी होना चाहिये और इस प्रकार सच्ची मध्यान्ह रेखा के समय से हम हट जाते हैं। दूसरे सच्चे सौर्य्यिक समय के स्थान में विश्व-व्यापी समय (स्टैंडर्ड या मीन टाइम) का आश्रय लिया जाता है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि पृथ्वी की भिन्न-भिन्न चालों के कारण असली दोपहर घड़ियों द्वारा इंगित विश्वव्यापी (मीन नून) दोपहर के बाद आती है; और यह अन्तर बढ़ता ही जाता है।

अन्य शब्दों म कहना चाहिये कि सूर्य प्रतिदिन उस मध्यान्हरेखा को कुछ देरी से पार करता है !
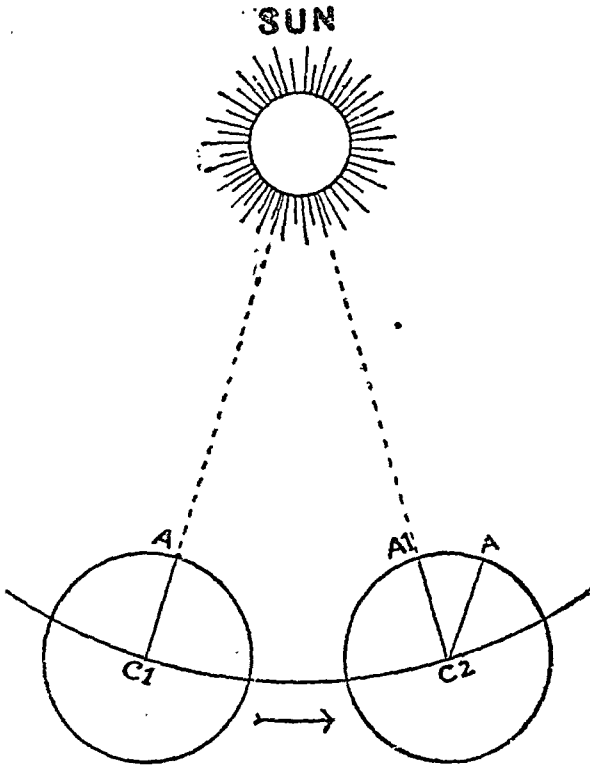
चित्र ८

यह बात ऊपर दिये गए चित्र नंबर ८ में स्पष्ट की गई है।

स १ और स २ पृथ्वी को दो स्थितियाँ एकान्तरेक दिनों के लिए हैं। स१ की स्थिति में, अ विन्दु पर दोपहर हो रही है। जैसा आपको विदित है, जब पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती है तो यह सूर्य के चारों ओर के अपने मार्ग पर भी आगे को चलती जाती है। दूसरे दिन पृथ्वी स२ की स्थिति में पहुँच जायगी जहाँ इसे अ से अ१ तक जरा सा घूमना पड़ेगा जिससे अ विन्दु अपने मध्याह्न की स्थिति में आ जाय। ऐसा करने में इसे ३ मिनट ५६ सेकेंड लगेंगे। अर्थात् वास्तविक मध्याह्न अ विन्दु पर अगले दिन लगभग ४ मिनट बाद होगा, यद्यपि 'नागरिक मध्याह्न' (सिविल नून) प्रतिदिन घड़ी में १२ बजने पर ही होगा।

परन्तु पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक ही चाल से नहीं घूमती। यह जाड़ों में गर्मियों

की अपेक्षा कुछ अधिक वेग से जाती है। अतएव, शीतकाल में यह कुछ अधिक दाहिनी ओर की स्थिति में पहुँच जायगी और अ विन्दु को मध्याह्न के सूर्य पर लाने के हेतु चार मिनट पर्याप्त न होंगे। इस प्रकार असली दोपहर में मानी हुई दोपहर से दिन पर दिन, अन्तर पड़ता रहता है, इसलिए ही नहीं कि पृथ्वी भ्रमण करने के साथ-साथ सूर्य के भी चारों ओर चक्कर लगाती है, वल्कि इसलिए भी कि चक्कर लगाने की गति एकसी नहीं रहती।

नीचे दिया हुआ चित्र इस बात को स्पष्ट करता है कि पृथ्वी जब सूर्य के निकट होती है तो अधिक वेग से चलती है और जब दूरी पर होती है तो कम वेग से।
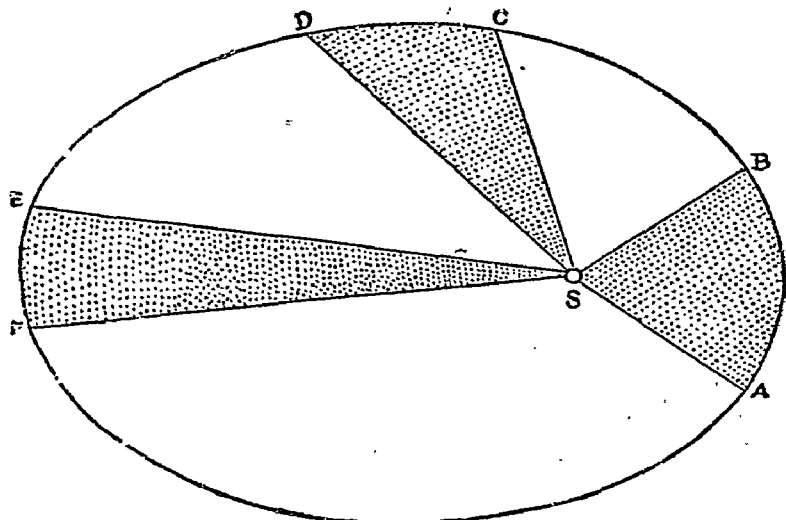
चित्र ९
केपलर नियम

यह बात केपलर के दूसरे नियम के अनुसार घटती है। वह नियम यह है कि "प्रत्येक ग्रह के परिक्रमा की गति ऐसी है कि समान समयों में समान ही वृत्तभाग बनते हैं।"

पृथ्वी अ से ब तक की दूरी नापती है जब वह सूर्य के निकट होती है (अर्थात्, जब पृथ्वी की निकट स्थिति होती है)। जब, यह सूर्य से कुछ दूर होती है, तो इसे 'स द' की दूरी उतने ही समय में तय करनी होती है। और 'इ फ' दूरी तब पार की जाती है जब पृथ्वी सूर्य से सबसे अधिक दूरी पर होती है (यानी, जब यह दूरवर्ती स्थिति में है।)

पृथ्वी का भ्रमण २३ घंटे ५६ मिनट और ४ सेकेंड में पूरा होता है। एक के बाद दूसरी रात्रि में किसी भी विशेष तारक की स्थिति को ध्यानपूर्वक देखने से इसकी पुष्टि होती है। अगर हम उस क्षण को सही-सही नोट कर लें जिस पर वह तारक, अपनी

प्रकटीभूत दैनिक यात्रा में (पृथ्वी के चारों ओर की) आकाश की किसी कल्पित रेखा को पार करता है, तो हम देखेंगे कि ठीक २३ घंटे ५६ मिनट और ४ सेकंड बाद अगली रात को फिर ऐसा ही होगा। हम जानते हैं कि इस तारक को और अन्य सभी सितारों को भी हम चलता हुआ पाते हैं, इसका वास्तविक कारण यह है कि पृथ्वी अपनी कीली पर भ्रमण करती है। इसलिए, इस भ्रमण में २३ घंटे ५६ मिनट ४ सेकेंड लगे। पृथ्वी के भ्रमण में जो समय लगता है वह 'तारकीय'[1] दिवस कहलाता है। किसी मध्याह्नरेखा पर एक मध्याह्न को दूसरे मध्यान्ह से अलग करने वाला समय जो धूपघड़ी दिखाती है 'सौर्यिक दिवस' कहलाता है। घड़ियों द्वारा प्रदर्शित २४ बराबर घंटों की एक सी रहने वाली लम्बाई का माना हुआ दिन 'माध्यमिक सौर्यिक दिवस' कहलाता है। माध्यमिक सौर्यिक दिवस (घड़ी द्वारा देखा गया) और सौर्यिक दिवस (धूप घड़ी द्वारा देखा गया) का अन्तर 'समय का समीकरण' (इक्वेशन आफ टाइम) कहलाता है। यह अन्तर अधिक से अधिक १६ मिनट का होता है।

निम्नांकित सूची[2] में कुछ तिथियों का ग्रीनिच का वास्तविक मध्याह्न का समय दिया गया है :—

तिथि	समय घं० मि०	समीकरण अन्तर	तिथि	समय घं० मि०	समीकरण अन्तर
१ जनवरी	१२.०४	— ४	१५ जुलाई	१२.०५	— ५
१५ जनवरी	१२.१०	—१०	२६ जुलाई	१२.०६	— ६
१ फरवरी	१२.१४	—१४	१५ अगस्त	१२.०४	— ४
११ फरवरी	१२.१४½	—१४½	३१ अगस्त	१२.००	०
१ मार्च	१२.१२	—१२	१३ सितम्बर	११.५५	+ ५
१५ मार्च	१२.०९	— ९	१ अक्टूबर	११.४९	+ ११
१ अप्रैल	१२.०४	— ४	१५ अक्तूबर	११.४६	+ १४
१५ अप्रैल	१२.००	०	३ नवम्बर	११.४३	+ १७
१ मई	११.५७	+ ३	१६ नवम्बर	११.४४	+ १६
१५ मई	११.५५	+ ५	१ दिसम्बर	११.४९	+ ११
१ जून	११.५७	+ ३	१५ दिसम्बर	११.५५	+ ५
१५ जून	१२.००	०	२५ दिसम्बर	१२.००	०
१ जुलाई	१२.०३	— ३			

[1] इसे अंग्रेजी में (Sidereal day) कहते हैं। 'साइडर्स' लेटिन का शब्द है जिसका अर्थ होता है 'तारक'।

[2] अमेरिकन ईफेमेरिस तथा नौटिकल अल्मेनेक, १९४२, पृष्ठ २-१६ से ली गई है।

उपरिलिखित सूची से यह स्पष्ट है कि सौर्यिक दिवस तथा माध्यमिक सौर्यिक दिवस में चार दिन बराबर होते हैं। ये दिन हैं: १५ अप्रैल, १५ जून, ३१ अगस्त और २५ दिसंबर सौर्यिक दिवस तथा माध्यमिक दिवस में बड़ा अन्तर १७ मिनट का ३ नवम्बर को पड़ता है।

नीचे के ग्राफ द्वारा ऊपर दी हुई सूची को पुनरुपस्थित किया गया है :—
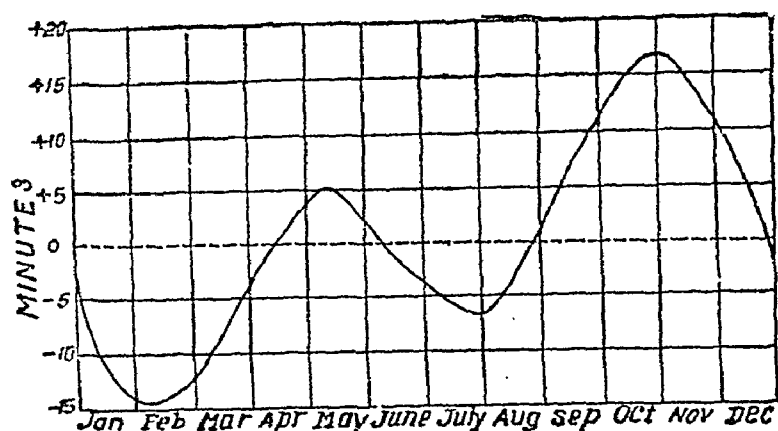
चित्र १०

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर भिन्न-भिन्न गतियों से परिक्रमा करती है। (देखो चित्र ९)। इसके संबंध में यह जानने योग्य है कि उत्तरी गोलार्द्ध में यद्यपि दिन २२ दिसम्बर के बाद लम्बे होने लगते हैं, तथापि सूर्य बहुत दिनों तक देर में ही निकलता रहता है। इसका कारण यही है कि पृथ्वी अपनी गति को शीघ्रतापूर्वक धीमी कर रही है और इसलिए सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय में विलम्ब होता है।

पृथ्वी के ग्रह होने के दो मुख्य परिणाम हैं :—(१) यह अपनी कीली पर घूमती है; और (२) यह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है।

चित्र ११ का अध्ययन करने से सबसे विशेष बात यह प्रकट होती है कि पृथ्वी की धुरी सूर्य के चारों ओर के मार्ग में अपनी सभी स्थितियों में आकाश में उसी दिशा में झुकी रहती है। यही एक कारण है जिससे हमारी पृथ्वी पर मौसम होते हैं।

आकाश विद्याविशारद हमें बतलाते हैं कि यह दिशा केवल अस्थायी रूप से निश्चित है। पृथ्वी की धुरी की दिशा तारकों के बीच में एक छोटे से गागनिक घेरे में घूमते हुए लट्टू की भांति बदलती रहती है। पृथ्वी की धुरी इस घेरे को २५,८०० वर्षों में

पूरा करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा वर्तमान ध्रुवतारा लगभग एक हजार वर्ष के बाद ध्रुवतारा नहीं रहेगा, अर्थात् उसी ओर पृथ्वी की कीली इंगित न करेगी। उस तिथि से २५,८०० वर्ष उपरान्त फिर यह ध्रुवतारा हो जायगा। पृथ्वी की धुरी की दिशा के एक छोटे घेरे में घूमने को अंग्रेजी में (Precession of Equinoxes) कहते हैं। धुरी के सिरों का घूमना एक नया सत्य है।
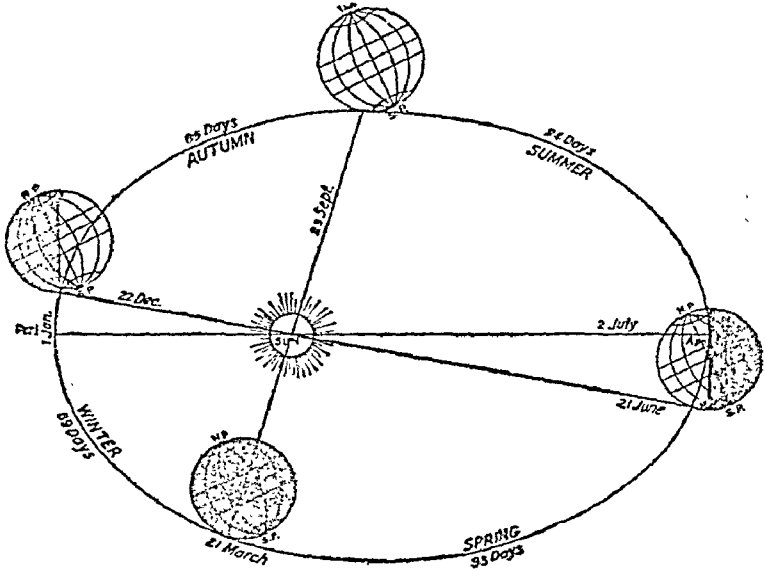
चित्र ११

कीली-भ्रमण के ही कारण पृथ्वी का वर्तमान गोल रूप है। इस भ्रमण से ही दिन और रात होते ह; और इसी से हमारा समय भी नियत होता है। इसका प्रभाव पृथ्वी के धरातल पर चलने वाली चीजों की दिशा पर भी पड़ता है, उदाहरणतः हवाओं और समुद्रधाराओं की दिशा में कुछ अन्तर आ जाता है।

इसके विपरीत, सूर्य की परिक्रमा का प्रभाव पृथ्वी के धरातल पर पड़ता है। इससे ऋतुएँ होती हैं। मनुष्य का कलेंडर भी इसी से बनता है जिसमें हम समय का हिसाब रखते हैं।

कलेन्डर

पृथ्वी के कीली पर भ्रमण का समय 'दिन' कहलाता है; उसकी परिक्रमा का समय 'वर्ष' और चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा का समय 'मास' कहलाता है। हमारा कलेन्डर इन्हीं समयों का लेखा है। चूँकि पृथ्वी अथवा चन्द्रमा की गति का बदलना मनुष्य की शक्ति

के बाहर है, इसलिए इन समयों को कलेन्डर बनाने में यथावत् ही मानना पड़ता है। चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा को २९ दिन में पूरी करता है; और पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा ३६५ दिन ५ घंटे ४८ मिनट और ४८ सेकेंड में करती है। कलेन्डर बनाने में सुविधा की दृष्टि से योरोपीय कलेंडरमें इसमें से केवल ३६५ दिन ही एक वर्ष में सम्मिलित किये जाते हैं। शेष समय छोड़ दिया जाता है।

जनवरी

S	M	T	W	T	F	S
1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30	31				

फरवरी

S	M	T	W	T	F	S
1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30					

मार्च

S	M	T	W	T	F	S
1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30					

अप्रैल

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30	31				

मई

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30					

जून

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30					

जुलाई

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30	31				

अगस्त

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30					

सितम्बर

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30					

अक्तूबर

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30	31				

नवम्बर

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30					

दिसम्बर

1	2	3	4	5	6	7
8	9	10	11	12	13	14
15	16	17	18	19	20	21
22	23	24	25	26	27	28
29	30	31				

रोमन लोगों ने जब अपना कलेंडर बनाया तब उन्होंने वर्ष में केवल ३६५ दिन ही सम्मिलित किये जिनको उन्होंने १२ महीनों में असमान रूप से बाँट दिया। बचे हुए समय की त्रुटि दूर करने के लिये सन् ४५ ईसा से पूर्व में रोमनों के राजा जूलियस सीजर ने प्रति चौथे वर्ष एक दिन की वृद्धि कलेन्डर में कर दी। यह बढ़ा हुआ वर्ष 'लीप इयर' कहलाने लगा जिसमें फरवरी का महीना २९ दिन का होता है। इस प्रकार 'जूलियस' कलेन्डर का आरंभ हुआ। परन्तु ज्ञात होगा कि पृथ्वी की परिक्रमा में पूरे ३६५¼ दिन नहीं लगते हैं। उसमें इस समय से ११ मिनट १४½ सेकिंड कम लगता है; अर्थात् कलेन्डर में वर्ष बड़ा है, और प्रकृति में छोटा। इस कमी के कारण एक हजार वर्ष में प्रकृति का कलेन्डर मानवी कलेन्डर से लगभग १ सप्ताह पिछड़ जाता है।

सन् १५८२ ई० में जूलियन कलेन्डर के कारण यह त्रुटि ११ दिन की थी। फल यह हुआ कि ऋतुओं में और कलेंडर में मेल टूट गया। इसलिये रोम के बड़े पादरी ग्रेगरी तेरहवें ने यह आज्ञा दी कि कलेन्डर में बढ़े हुए ११ दिन छोड़ दिये जायँ, और अक्तूबर ४ को अक्तूबर १५ गिना जाय। इस प्रकार आधुनिक ग्रीगोरियन कलेन्डर बना। अभी तक यह कलेन्डर शुद्ध है।

परन्तु आधुनिक जगत में बहुत से लोग इस कलेन्डर में संशोधन चाहते हैं। हमारी भारत सरकार भी इस पक्ष में है। इसलिये आजकल यह प्रश्न यूनेसको के समाने विचाराधीन है। यूनिस को के सामने बहुत से संशोधन हैं। उनमें से भारत सरकार पिछले पृष्ठ पर दिये हुये कलेन्डर का संशोधन का समर्थन करती है।

इस संशोधन में वर्ष में केवल ३६४ दिन सम्मिलित किये गये हैं, शेष २ दिन छुट्टी के दिन माने गये हैं जिन्हें कलेन्डर में स्थान दिया गया है। छुट्टी के दिन आधुनिक ३१ दिसंबर और प्रस्तावित ३१ जून माने गये हैं। ३१ दिसंबर को विश्वदिवस (वर्ल्ड डे) और ३१ जून को लीपइयर कहा गया है।

अध्याय ३

वायुमंडल

वायुमंडल की प्रकृति तथा विस्तार—इसके मिश्रण—वायुमंडल के दो विभाग—सौर्य शक्ति—प्रकाश का घरा—मध्यान्ह के सूर्य द्वारा अक्षांश का पता चलाना—प्रदीप।

पृथ्वी चारों ओर गैसों की एक चादर से ढकी हुई है। इस चादर को वायुमंडल कहते हैं। यह पृथ्वी को कई सौ मील की ऊँचाई तक घेरे हुए है। मनुष्य और अन्य प्रकार के जीव, गैसों के इस समुद्र की तली पर रहते हैं जहाँ से वे कभी बच कर नहीं जा सकते। वायुमंडल की दशा में जो परिवर्तन होते हैं, उनका हमारे ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस दृष्टि से वायुमंडल का अध्ययन अति महत्वशाली है। वायुमंडल की दशा का अध्ययन करने वाली विद्या को Meteorology (उल्का विद्या या ऋतु विद्या) कहते हैं। परन्तु Meteorology अपने आपको केवल निचले वायु मंडल के अध्ययन तक ही सीमित रखती है; ऊपरी वायुमंडल (Aerology) (वायुविद्या) द्वारा अध्ययन किया जाता है जो पिछली शताब्दी के लगभग अन्त से ही चली है।

ऋतुविद्या (Meteorology) का अध्ययन वायुमंडल की दशाओं को ठीक-ठीक देखने और इन जानकारियों से सारांश निकालने पर आधारित है। यदि हम अपने चारों ओर के वायुमंडल की महान् गहराई का अनुमान करें, तो हमें पता चलेगा कि इसके अन्दर पहुँचने के लिए हमारे साधन पर्याप्त नहीं है। अतएव जो कुछ हम देखते हैं वह थोड़ा ही है और ऐसी जानकारियों पर आधारित सारांश पूर्णतया सन्तोषप्रद नहीं है। Meteorology का अध्ययन आंशिक रूप से, अभी अनुमानित ही है?

वे साधन जिनके द्वारा हम वायुमंडल में चढ़ सकते हैं और जो Meteorology संबंध रखने वाली सूचना देते हैं ये हैं—

१. पर्वत-शिखर।
२. हवाई जहाज।
३. पतंग (साउंडिंग बैलून)।
४. समनुष्य गुब्बारा (पाइलाट बैलून)।
५. स्वतंत्र-गुब्बारा।
६. रेडियो गुब्बारा (रेडियो सोण्ड)।
७. रेडर गुब्बारा (राविन सोण्ड)।

अन्त के दो को छोड़ कर, ये साधन हमें बादलों व साधारण धूल के प्रदेश के आगे नहीं ले जाते, नवीन प्रकार के वायुयान अधिक ऊँचाई तक उठ सकते हैं। यदि मान लिया जाय कि वायुमंडल लगभग ३०० मील की ऊँचाई तक फैला हुआ है, तो ये साधन हमें इसके केवल एक छोटे से टुकड़े तक ही पहुँचा पाते हैं।
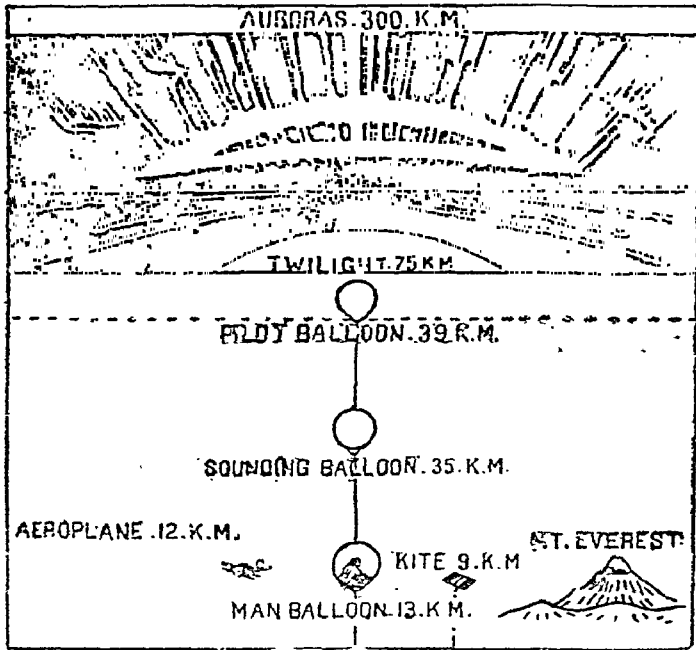
चित्र १२

अधिक ऊँचाई का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम कुछ दृश्यों की उपस्थिति को देखते हैं और उससे किसी परिणाम पर पहुँचते हैं। ये दृश्य निम्नलिखित हैं :—

(अ) गोधूली प्रकाश (ट्वाइलाइट); (ब) टूटने वाले तारे (मीटियोर); (स) ध्रुव का तेजपुंज (अरोरा); तथा (द) बिजली की चमक (लाइटनिंग)।

ऊपर दिया हुआ चित्र ऋतुविद्या से संबंध रखने वाली सूचना के अनेक साधन प्रदर्शित करता है। चित्र में साथ ही वे ऊँचाइयाँ भी दी गई हैं जहाँ ये साधन काम दे सकते हैं।

वायुमंडल का मिश्रण

वायुमंडल बहुत सी गैसों से मिलकर बना है। इस बनावट की विशेष बात यह है कि ९९ प्रतिशत से अधिक वायुमंडल दो गैसों नौषजन (नाईट्रोजन) तथा ओषजन (आक्सीजन) से बना है। अन्य सभी गैसें इसके १ प्रतिशत से कम भाग में हैं।

दूसरी बात यह है कि भारी गैसें निचले भाग में अधिक हैं, और हल्की गैसें वायुमंडल के ऊपरी भाग में अधिक।

जल-वाष्प (वाटरवेपर) तथा धूल भी निचले वायुमंडल में रहते हैं। वायुमंडल में जल-वाष्प का अनुपात तापक्रम के साथ-साथ बदलता रहता है। ठंडी हवा की अपेक्षा गर्म हवा में अधिक जल-वाष्प वर्त्तमान रहता है। जल-वाष्प और तापक्रम के इस कारण, जल-वाष्प का हवा में अनुपात निचले वायुमंडल में भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर घटता है। इसके विपरीत अन्य गैसों का अनुपात बढ़ता है। निम्नांकित सूची में कुछ अक्षांशों पर वायुमंडल की बहुत-सी गैसों आदि की वार्षिक औसत मात्रा दिखाई गई हैं:

अक्षांश	तत्व (प्रतिशत)				
	नाइट्रोजन	आक्सीजन	आर्गन	जल वाष्प	कार्बन डाई आक्साइड
भूमध्यरेखा	७५.९९	२०.४४	०.९२	२.६३	०.०२
५०° उत्तरी	७७.३२	२०.८०	०.९४	०.९२	०.०२
७०° उत्तरी	७७.८७	२०.९४	०.९४	०.२२	०.०३

जलवाष्प की मात्रा में परिवर्तन होने के अतिरिक्त वायुमंडल की गैसें पृथ्वी के सभी भागों में एक-सी ही रहती हैं।

निम्नांकित सूची में कुछ ऊँचाइयों पर वायुमंडल का वितरण तथा भार दिखाया गया है :—

ऊँचाई (किलोमीटर)	नाइट्रोजन	ऑक्सीजन	आर्गन	जलवाष्प	कार्बन डाइ आक्साइड	हाइड्रोजन	कुल भार (मिलीमीटर में)
१००	(८१.२%) ६० किलोमीटर से घटने लगता है।			...		(९५.५%) १०० किलोमीटर तक बढ़ता है।	
९०				०.१०			
८०				०.१७			
७०				०.२०			
६०				०.१५			
५०				०.१०			
४०				....	शून्य		
३०	८४.२६	१५.१८	०.३५	०.०३	०.०१	०.१६	८.६८
२०	८१.२४	१८.१०	०.५९	०.०२	०.०१	०.०४	४०.९९
११	७८.०२	२०.९९	०.९४	०.०१	०.०३	०.०१	१६८
५	७७.८९	२०.९५	०.९४	०.१८	०.०३	०.०१	४०५
०	७७.१४	२०.६९	०.९३	१.२०	०.०३	०.०१	७६०

(हम्फ्रीज से)

ऊपर दी हुई सूची से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हैं:—
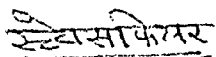
(१) अधिकतर जल-वाष्प वायुमंडल की निचली सीमाओं में ही रहता है (५ किलोमीटर तक)।

परन्तु इसका अनुपात फिर ११ से ८० किलोमीटर तक बढ़ने लगता है।

(२) वायु का भार ११ किलोमीटर के ऊपर तेजी से घट जाता है।

(३) हाईड्रोजन, जो एक हल्की गैस है, ऊपर की ओर बढ़ता है, यहाँ तक कि १०० किलोमीटर पर वायुमंडल में इसका अनुपात ९५.५% होता है।

अचलस्तर वायुमंडल ~~स्ट्रेटास्फियर~~

इस सत्य का अनुसंधान कि ऊपरी वायुमंडल का तापक्रम अधिक ऊँचाई पर नहीं के बराबर बदलता है ऋतुविद्या की उन्नति का आरंभ है। इस खोज का श्रेय तिसरां डि बोर्ट को है जिन्होंने अप्रैल १८९८ में, फ्रांस में, एक सुधरे हुए यंत्र द्वारा वायुमंडल में बार-बार खोज की।

यह ऊँचाई जिस पर अचलस्तर आरंभ होता है, और उसका तापक्रम, दोनों मौसम पर, तूफान की दशाओं पर, और अक्षांश पर निर्भर करते हैं।

इंगलैण्ड निवासी गोल्ड तथा अमरीकानिवासी हम्फ्रीज ने शीघ्र ही इसके अस्तित्व का कारण ढूँढ़ निकाला। उन्होंने इस प्रकार समझाया कि वायुमंडल के प्रत्येक विभाग का सांनिक रूप से अवश्य ही सौर्यिक शक्ति के गमनागमन पर निर्भर करता है—वायुमंडल द्वारा सौर्यिक शक्ति का शोषण और उसका निष्क्रमण होता है। जब शोषण और निष्क्रमण दोनों बराबर होते हैं तो तापक्रम घटता-बढ़ता नहीं।

वायुमंडल का यह स्तर गर्मियों में अधिक ऊँचाई पर होता है, और जाड़ों में कम ऊँचाई पर। उसमें इन अल्पतम तापक्रमों का पता चला है:—

तापक्रम	ऊँचाई (मीटर)		विशेष बात
—८०° सी	१४,८००	मीटर पर	संयुक्त राज्य अमरीका में
—८२° सी	१४,५००	मीटर पर	आन्ध्र महासागर पर (८०° दक्षिणी अक्षांश)
—८४° सी	१९,८००	मीटर पर	पूर्वीय अफ्रीका में
—८५° सी	९,७००	मीटर पर	वियना में
—९०.९° सी	१६,५००	मीटर पर	जावा में

अचलस्तर वायुमंडल का तापक्रम विषुवत् रेखा पर अन्य प्रदेशों की अपेक्षा कम रहता है। वहाँ पर तापक्रम साधारणतया—८०° सी रहते हैं। समशीतोष्णकटिबन्ध में तापक्रम—५०° सी से ६०° सी तक बदलता रहता है। बड़ी ऊँचाइयों पर, उदाहरणार्थ १० मील पर, विषुवत् रेखा पर अन्य अक्षांशों की अपेक्षा अधिक ठंड रहती है। इसका कारण यह है कि उष्ण कटिबन्ध में उष्ण-तापक्रम के फलस्वरूप, ऊपर-नीचे के संवाहन द्वारा, अधिक ऊँचाई पर बादल बहुत होते हैं। ये घटाएँ पृथ्वी से निकलने वाली गर्मी को बहुत कुछ रोक लेती हैं।

ग्रीष्म ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध में ६०° अक्षांश पर अचलस्तर मंडल का आरंभ समुद्रतल से ६ मील ऊँचाई पर होता है; परन्तु विषुवत - रेखा पर उसका आरंभ लगभग ९ मील ऊँचाई पर होता है। इन बातों के नीचे पृष्ठ के चित्र में ध्यानपूर्वक देखिए।
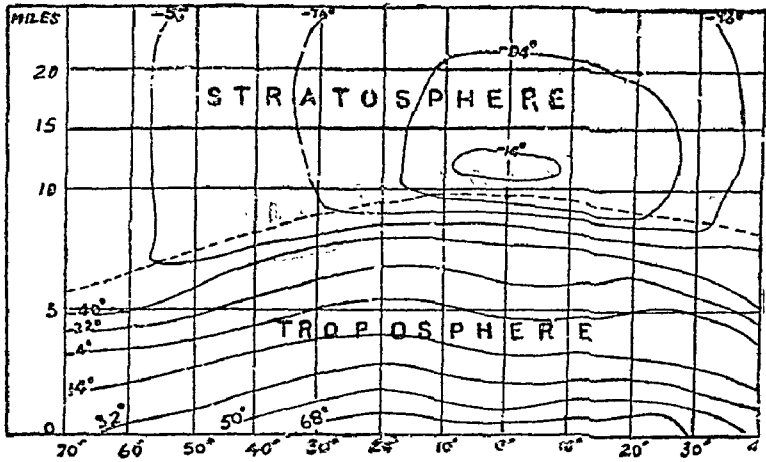
चित्र—१३

पृथ्वी के धरातल पर सूर्य गर्मी का बहुत बड़ा साधन है। सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास के सौगुने से भी अधिक बड़ा है। सूर्य का तापक्रम १०,३००° एफ या ६,०००° एब्सोल्यूट पर अनुमान लगाया जाता है। सूर्य गैस का एक चमकता हुआ गोला है। इसलिये, यह चारों ओर अत्यधिक परिमाण में अपनी शक्ति विखेरता है। पृथ्वी इस शक्ति का लगभग दो अरबवाँ (१,२०००,०००,०००) भाग ही पकड़ पाती है। यदि हम इस शक्ति की तुलना सूर्य से निकलने वाली कुल शक्ति से करें तो पृथ्वी पर आने वाली शक्ति तुच्छ सी जान पड़ेगी। तथापि यही थोड़ी शक्ति पृथ्वी पर समस्त जीवन तथा संपूर्ण कार्यों की आधार है। पृथ्वी के धरातल तथा सूर्य के बीच में वायुमंडल पड़ता है। सौर्यिक शक्ति को इसलिए, वायुमंडल में से होकर आना पड़ता है।

वायुमंडल में तहें होती हैं। इसकी ऊपरी तहों का धरातल प्रतिविम्बत है। अतएव सौर्यिक शक्ति का कुछ भाग वायुमंडल की इन प्रतिविम्बनी तहों द्वारा शून्य में विखर जाता है। वायुमंडल में रहने वाले बादल भी सौर्यिक शक्ति को प्रतिविम्बित करते हैं। इस प्रकार, यहाँ आनेवाली शक्ति का लगभग आधा भाग बाहर लौट जाता है।

इसके अतिरिक्त, वायुमंडल तो गैसों से भरा हुआ है। इनमें कुछ गैसें सौर्यिक शक्ति को आंशिक रूप से शोषण कर लेती हैं। धूल के कण तथा जल-वाष्प भी कुछ शक्ति ले लेते हैं। फल यह होता है कि पृथ्वी के वायुमंडल के बीच में आ जाने से ये दो अरबवाँ भाग सौर्यिक शक्ति भी जो पृथ्वी की पकड़ में आती है काफी घट जाती है।

किम्बल[1] ने निम्नलिखित वितरण का अनुमान लगाया है :—

कुल १००% जिसमें से

४२% शून्य में वापिस चली जाती है।

११% जलवाष्प सोख लेता है।

४% गैसें और धूल सोख लेती हैं।

५७% हानि होती है।

४३% पृथ्वी के धरातल पर पहुँचती है और धरातल में विलीन हो जाती हैं।

इस भाँति, पृथ्वी को आने वाली लगभग आधी सौर्यिक शक्ति वायु से गुजरने में ही खत्म हो जाती है।

पृथ्वी पर सौर्यिक शक्ति के आने को Insolation कहते हैं। १९०५–१९२६ के समय में ऐबट तथा अन्य व्यक्तियों ने कुछ जानकारियाँ प्राप्त की थीं। उनके आधार पर सौर्यिक शक्ति अनुमान से १.९४ कैलोरी प्रति वर्ग सेन्टीमीटर प्रति मिनट वायुमंडल की बाहरी सीमा पर आती है। यह मात्रा प्रायः घटती-बढ़ती नहीं। इसीलिये इसे सूर्य की अपरिवर्तनशील शक्ति (सोलर कान्सटैन्ट) कहा गया है।

पर वस्तुतः यह अपरिवर्तनशील सौर्यिक शक्ति सदा एक सी नहीं रहती। सूर्य से निकलने वाली शक्ति समय-समय पर भिन्न हुआ करती है। यदि हम अधिक विवरण में जायँ तो पता लगेगा कि सौर्यिक शक्ति की मात्रा सूर्य के धब्बों की संख्या पर निर्भर है। इन धब्बों के अधिकतम व अल्पतम होने के बीच में यह शक्ति भी बदलती रहती है। जब सूर्य के धब्बों की संख्या सबसे अधिक होती है तो सौर्यिक शक्ति अधिक आती है और जब वे धब्बे कम होते हैं तो यह शक्ति भी कम आती है।[2]

---

[1] मन्थली वेदर रिव्यू, १९२८।

[2] सम्पूर्ण पृथ्वी का औसत तापक्रम यद्यपि विषुवत् रेखीय प्रदेशों में अधिक रहता है, तथापि यह धब्बों के न्यूनतम होने के समय कुछ अधिक हो जाते हैं (जब कि सूर्य से अपरिवर्तनशील शक्ति सबसे कम आ रही हो, और धब्बों के अधिकतम होने पर जब सूर्य की शक्ति सबसे अधिक आ रही है, पृथ्वी का औसत तापक्रम कुछ कम रहता है। ऐबट का विचार है कि इसका कारण ऊपरी हवा में ओजोन की मात्रा में कमी है (सौर्यिक शक्ति के बढ़ने से) ओजोन कम्बल का सा काम देता है, क्योंकि यह पृथ्वी से निकलने वाली गर्मी को बहुत जोरों के साथ सोख लेता है। इसलिये पृथ्वी के धरातल पर तापक्रम कुछ कम हो रहेगा। यह स्थिति स्वच्छ रात्रि तथा घटादार रात्रि की तुलना करने से स्पष्ट हो जाती है।

पृथ्वी की सूर्य से दूरी भी परिवर्तित होती रहती है। यह दूरी दूरस्थिति[1] (आपहेलियन) में निकटस्थिति (पेरीहेलियन) से ३-३ प्रतिशत अधिक होती है। इसीलिये निकट स्थिति में अन्य दशाओं के समान होने पर सौर्यिक शक्ति दूरस्थिति की अपेक्षा ६.६ प्रतिशत अधिक आयेगी। यह ४° सी ताप के बराबर होती है।

निकटस्थिति तथा दूरस्थिति में वायुमंडल की सीमा पर आने वाली सौर्यिक शक्ति की मात्राओं में इतना अन्तर पड़ने पर भी, संपूर्ण पृथ्वी पर आने वाली कुछ सौर्यिक शक्ति सदा उतनी ही आती है; निकट स्थिति हो या न हो, और चाहे जिस तारीख को निकट स्थिति हो रही हो, वायुमंडल वर्ष भर में उतनी ही सौर्यिक शक्ति प्राप्त करता है जितनी अन्य वर्षों में।

यद्यपि सम्पूर्ण पृथ्वी के धरातल पर प्राप्त होने वाली सौर्यिक शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता, तथापि यह स्थान-स्थान पर तथा समय-समय पर भिन्न होती है। इसके दो कारण हैं:—

(अ) सूर्य की ऊँचाई और

(ब) पार किया जाने वाला वायुमंडल

क्योंकि पृथ्वी एक गोले के समान है, इसलिए इसके केवल आधे भाग पर ही एक समय में सूर्य की किरणें पहुँचती हैं। दूसरा आधा भाग सूर्य से विमुख होता है और इसलिए उसमें रात होती है। पृथ्वी की गोल शक्ल होने से, हमेशा एक बिन्दु ऐसा होगा जिस पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ेंगी। उस बिन्दु से जितनी दूरी पर कोई स्थान होगा, उतनी ही तिरछी किरणें उस पर पड़ेंगी।

सूर्य की किरणें जो पृथ्वी पर पड़ती हैं, एक दूसरी के समानान्तर होती हैं। तिरछी रेखाओं के होने का कारण पृथ्वी के धरातल का घुमाव (तिरछापन) या गोल होना है। अगले पृष्ठ के चित्र में अ, ब और स किरणें समानान्तर हैं, परन्तु पृथ्वी के तिरछेपन के कारण वे भिन्न-भिन्न अक्षांशों पर दोपहर के समय खड़े हुए मनुष्यों पर भिन्न-भिन्न कोणों से पड़ती हैं। विषुवत्-रेखा पर वे ९०° का कोण बनाती हैं, अर्थात् वे सीधी पड़ रही हैं। ३०° अक्षांश पर, वे मनुष्य के सिर से ३०° का कोण बनाती हैं और कुछ-कुछ तिरछी हो जाती हैं। परन्तु ६०° अक्षांश पर जहाँ वे मनुष्य के सिर से ६०° का कोण बनाती हैं, वे बहुत तिरछी पड़ती हैं।

---

[1]दूरस्थिति = ९.४५ करोड़ मील। निकटस्थिति = ९.१५ करोड़ मील।

सूर्य की ऊँचाई	वायुमंडल से गुजरने वाले रास्ते की लम्बाई
९०° (भूमध्य रेखा पर)	१
६०°	१.१५
३०°	२
१०°	५.७
०° (ध्रुवों पर)	४४.७

[पाटर्सन के अनुसार]

सूर्य की किरणें जितनी ही कम तिरछी पड़ेंगी, उतनी ही कम उष्णता वायुमंडल से गुजरने में लुप्त होगी, और पृथ्वी के धरातल का क्षेत्र भी जिस पर वे फैलेंगी उतना ही छोटा होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विषुवत् रेखा के पास वाले प्रदेश उच्चाक्षांशों
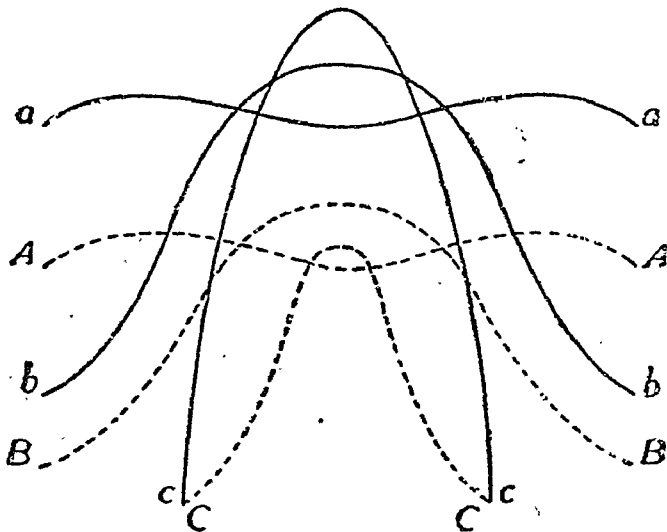
चित्र १५

के प्रदेशों से अधिक गर्म क्यों होते हैं। यही कारण है कि दोपहर में अधिक गर्मी पड़ती है

और सुबह तथा तीसरे पहर जब कि किरणें तिरछी होती हैं कम गर्मी पड़ती है। चित्र १५ में सौर्यिक शक्ति के वितरण पर वायुमंडल का प्रभाव दिखाया गया है।

नीचे दिये हुए चित्र में यह स्पष्ट है कि ध्रुव के निकट किरणों को विपुवत् रेखा के निकट की अपेक्षा अधिक वायु पार करनी पड़ती है:—
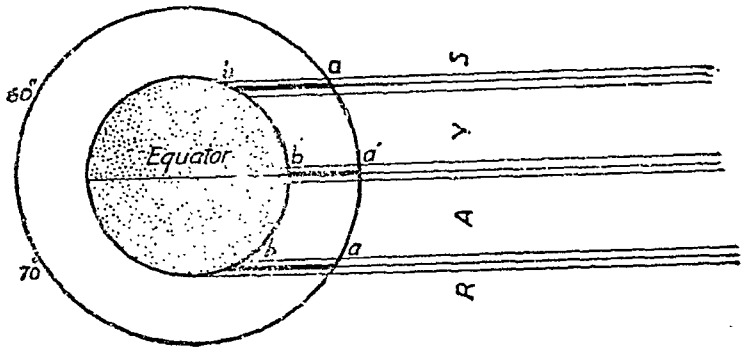
चित्र १६

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। परिक्रमा के मार्ग पर इसकी धुरी झुकी हुई है। इसके फलस्वरूप समय-समय पर पृथ्वी के धरातल पर सूर्य की सीधी किरणें हटती रहती हैं। किरणों के उत्तर या दक्षिण में हटने से पृथ्वी के धरातल पर सौर्यिक शक्ति के वितरण पर प्रभाव पड़ता है। इसी कारण से, उच्च अक्षांशों में ग्रीष्म ऋतु में शीतकाल की अपेक्षा अधिक सौर्यिक शक्ति आती है। सौर्यिक शक्ति का सीधा संबंध सूर्य के प्रकाश के काल से है। सूर्य के प्रकाश से घंटे जितने ही अधिक होंगे, उतनी ही अधिक मात्रा में सौर्यिक शक्ति आ पाती है। सूर्य-प्रकाश के घंटे उस कोण पर निर्भर होते हैं जिस पर प्रकाशवृत्त समानान्तर रेखाओं को काटता है। यही कारण है कि उत्तरी ध्रुव पर ग्रीष्म काल में छः महीने का दिन होता है। इतने लम्बे समय तक निरन्तर दिन का प्रकाश रहने से हम आशा करते हैं कि ध्रुव पर सौर्यिक शक्ति अधिक मात्रा में आयेगी (चित्र १५ में मोटी रेखा के द्वारा प्रदर्शित) और वास्तव में ऐसा ही होता है यद्यपि वायुमंडल से गुजरने वाला रास्ता लम्बा होता है। चित्र १५ को देखने से विदित होगा कि जून तथा जुलाई में उत्तरी ध्रुव पर विपुवत् रेखा की अपेक्षा अधिक सौर्यिक शक्ति आती है।

वह बड़ा घेरा जो पृथ्वी के प्रकाशित अर्द्धभाग को अन्धकारमय अर्द्धभाग से अलग करता है प्रकाशवृत्त कहलाता है। पृथ्वी के भ्रमण तथा परिक्रमा के कारण इस वृत्त की स्थिति सदा बदलती रहती है।

अपनी धुरी पर घूमती हुई पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। धुरी पृथ्वी के परिक्रमा पथ से लम्ब नहीं बनाती है। यह लम्ब से लगभग २३॥ डिग्री झुकी हुई है (२३°२७′)। जब पृथ्वी परिक्रमा पथ के एक भाग में है तब इसकी धुरी की जो स्थिति है वह उस स्थिति के समानान्तर ही होगी जो पथ के किसी दूसरे भाग में होने पर होगी। फल यह होता है कि पृथ्वी जितने समय में अपनी परिक्रमा पूरा करती है उसमें केवल दो बार प्रकाशवृत्त (सर्किल आफ इल्यूमिनेशन) ध्रुवों से होकर गुजरता है। अन्य सभी समयों पर यह समानान्तर अक्षांश रेखाओं को टेढ़ा काटता है। पृथ्वी की धुरी के झुकाव के कारण कभी तो प्रकाशवृत्त क्रमानुसार किसी न किसी ध्रुव के आगे तक चला जाता है और कभी उनसे पीछे ही रह जाता है। क्योंकि झुकाव का कोण लगभग २३॥° है, इसलिए प्रकाशवृत्त पृथ्वी के चारों ओर २१ जून को उत्तरी ध्रुव से २३॥° आगे के विन्दु से फैलता हुआ दक्षिणी ध्रुव से २३॥° पहले के विन्दु तक जायगा। २२ दिसम्बर को स्थिति इसके विपरीत होगी। तब यह वृत्त दक्षिणी ध्रुव के २३॥° भाग तक फैलेगा और इतनी ही दूरी पर उत्तरी ध्रुव से इधर रह जायगा। यह निम्नलिखित चित्र में उद्धृत किया गया है:—
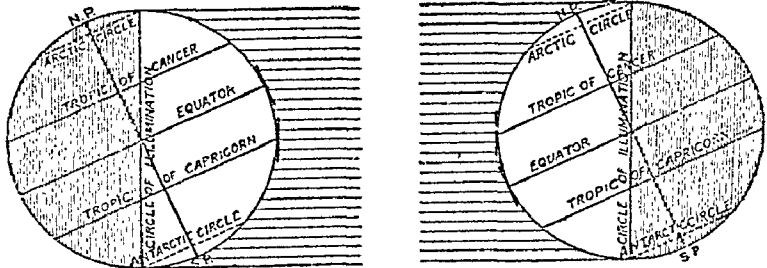
चित्र १७—श्वेत भाग प्रकाश दिखाता है।

अन्य दिनों में इस फैलाव का विस्तार उस अक्षांश पर निर्भर होगा जिस पर सूर्य की किरणें सीधी हैं। यदि सूर्य विषुवत् रेखा के उत्तर में दोपहर के समय ठीक सिर के ऊपर है, तो वह अक्षांश उतनी डिग्रियों के बराबर है जितनी डिग्रियाँ उत्तरी ध्रुव के आगे प्रकाश-वृत्त पड़ता है। यदि विषुवत् रेखा के दक्षिण में दोपहर के समय सूर्य ठीक सिर के ऊपर है तो उस अक्षांश के बराबर की डिग्रियों द्वारा प्रकाशवृत्त उत्तरी ध्रुव से इधर ही है और दक्षिणी ध्रुव के आगे तक फैला हुआ है। इस प्रकार १ अप्रैल को सूर्य मध्याह्न के समय ५° उत्तरी अक्षांश पर ठीक सिर के ऊपर होता है। प्रकाशवृत्त उस समय उत्तरी ध्रुव के ५° आगे तक फैला होगा तथा दक्षिणी ध्रुव से ५° कम रह जायगा। किसी भी मध्यान्ह के समय सूर्य किस अक्षांश पर ठीक सिर के ऊपर होगा यह World Almanac के Apparent Declination of the Sun (सूर्य का अक्षांश) शीर्षक के नीचे दिया रहता है।

दोपहर के समय किसी मनुष्य के ठीक सिर के ऊपर के बिन्दु से सूर्य की दूरी नापने वाले कोण में जितनी डिग्रियाँ होंगी उतनी ही डिग्रियों के अन्तर पर वह उस अक्षांश से है जिस पर मध्यान्ह के समय सूर्य ठीक सिर के ऊपर चमक रहा है। चित्र १८ में यह निकाला गया है कि सूर्य ठीक सिर के ऊपर के बिन्दु से कितना हटा हुआ है। जब-जब हम सूर्य को इस दूरी का उल्लेख करते हैं तो मालूम करने वाले व्यक्ति के सिर के ऊपर के बिन्दु से हम यह नापते हैं कि सूर्य कितनी डिग्रियों की दूरी पर है। जब क्षितिज से दूरी नापी जाती है, तो हमें सूर्य की ऊँचाई ज्ञात होती है। ऊँचाई या सिर के ऊपर के बिन्दु से दूरी नापने में जिस यंत्र का प्रयोग होता है उसे Sextant कहते हैं।

दिन के प्रकाश के घंटे उस कोण पर निर्भर होते हैं जिस पर प्रकाशवृत्त समानान्तर अक्षांश रेखाओं को काटता है। २१ मार्च तथा २३ सितम्बर को प्रकाशवृत्त ध्रुवों से
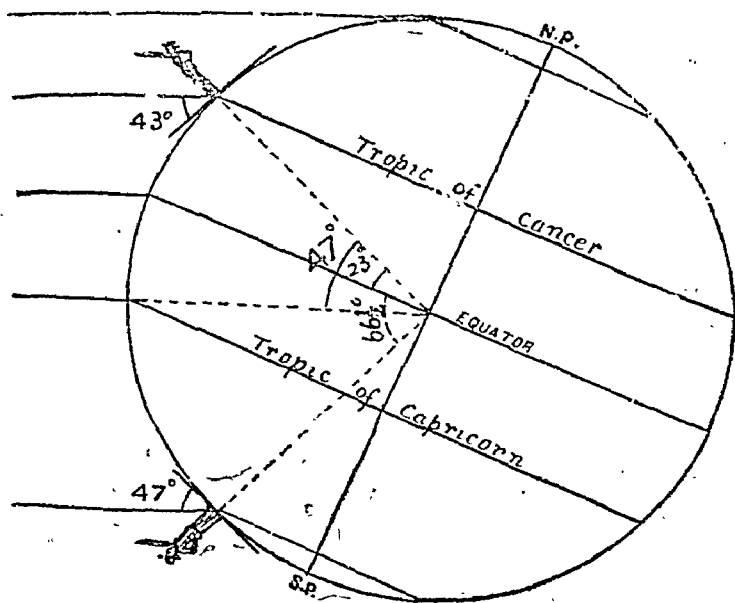
चित्र १८

होकर जाता है और प्रत्येक समानान्तर रेखा का समद्विभाग करता है। इन दिनों सूर्य क्षितिज से ऊपर लगभग १२ घंटे के लिए रहता है और इसके नीचे १२ घंटे से कुछ कम के लिए रहता है। क्योंकि विषुवत् रेखा और प्रकाशवृत्त बड़े वृत्त हैं, और क्योंकि गोले पर बड़े वृत्त एक दूसरे को बराबर भागों में बाँटते हैं (वे चाहे जिस कोण पर एक दूसरे को पार करें) इसलिए

प्रकाशवृत्त सदैव विषुवत् रेखा को समविभाग करता है। इसलिये विषुवत् रेखा पर दिन और रात हमेशा बराबर होते हैं। वहाँ सूर्य सदैव लगभग ६ बजे निकलता है और लगभग ६ बजे अस्त हो जाता है। एक बड़ा वृत्त केवल तभी अन्य वृत्तों (अर्थात् अक्षांश रेखाओं) को समान भागों में बाँटता है जब यह उन्हें समकोण पर पार करता है। प्रकाशवृत्त समानान्तर अक्षांश रेखाओं को समकोण बनाते हुए केवल २१ मार्च तथा २३ सितम्बर को पार करता है। इसी कारण से इन तिथियों पर सभी अक्षांशों की रात्रि तथा दिन समान होते हैं। दूसरी तिथियों को उस गोलार्द्ध में लम्बे दिन होते हैं जिसमें सूर्य सिर के ऊपर चमक रहा है और लम्बी रात्रि उस गोलार्द्ध में जिसमें सूर्य सिर पर नहीं है।

उस गोलार्द्ध में जिसमें सूर्य सिर के ऊपर चमक रहा है दिन के प्रकाश के घंटे ६६॥° अक्षांश पर २४ से लेकर ध्रुवों पर ६ महीने तक के होते हैं।

उत्तरी गोलार्द्ध में दिन के प्रकाश के घंटे

अक्षांश	२१ जून		२२ दिसम्बर		२१ मार्च तथा २३ सितम्बर	
(भूमध्यरेखा)	घं०	मि०	मि०	घं०	घं०	मि०
०°	१२	८	१२	९	१२	८
१०°	१२	४२	११	३२	१२	८
२०°	१३	२०	१०	५५	१२	९
३०°	१४	५	१०	१४	१२	१०
४०°	१५	१	९	२०	१२	१०
५०°	१६	२२	८	४	१२	१०
६०°	१८	५२	५	५२	१२	१३
७०°	२४	०		०	१२	२३

उपर्युक्त सूची का उद्धरण नीचे के चित्र में दिया जाता है:—

आगे दिये चित्र में ध्यानपूर्वक देखिये कि दिये हुए समय में परिवर्तन की मात्रा ऊँचे अक्षांशों में तीव्र गति से बढ़ती जाती है। उदाहरणतः, जून के महीने में २०° से ३०°
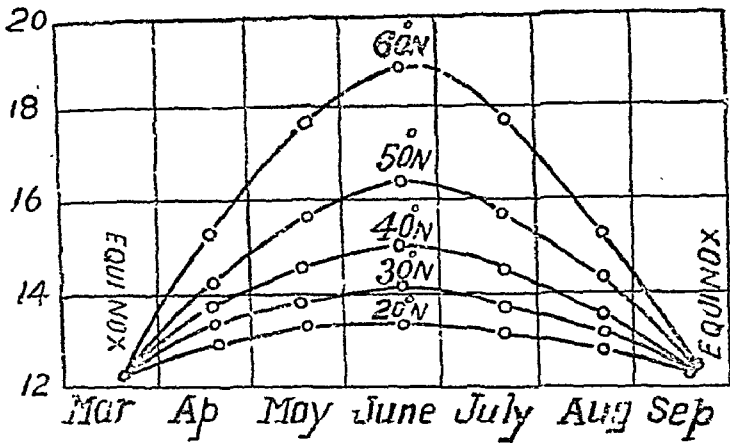
चित्र १९

तक का परिवर्तन उत्तरी गोलार्द्ध में दिन को केवल ४५ मिनट अधिक लम्बा कर देता है। परन्तु ५०° से ६०° तक का परिवर्तन उसे ५ घंटे बढ़ा देता है।

अक्षांश निकालना

मध्यान्ह के सूर्य द्वारा अक्षांश मालूम करना:—

(१) एक Sextant द्वारा मध्यान्ह के सूर्य की क्षितिज के ऊपर की ऊँचाई मालूम करो;

(२) इस ऊँचाई को ९०° में से घटाकर सूर्य की दूरी सिर के ऊपर के विन्दु से मालूम करो;

(३) उस अक्षांश की डिग्रियाँ जहाँ सूर्य उस दिन सिर पर चमक रहा है (Almanac) में दिया रहता है) ऊपर वाली दूरी में जोड़ दो, यदि तुम उसी गोलार्द्ध में हो;

इसे घटा दो, यदि सूर्य दूसरे गोलार्द्ध में सिर के ऊपर चमकता है।

इस प्रकार चित्र नं. १८ में २२ दिसम्बर का सूर्य मकर रेखा पर सिर के ऊपर चमक रहा है।

उत्तरी गोलार्द्ध के किसी अक्षांश पर Sextant द्वारा मालूम करने पर मध्यान्ह के सूर्य की ऊँचाई ४३° आती है। इसलिए सिर के ऊपर के विन्दु से दूरी ९०°—४३° =४७° हुई। क्योंकि सूर्य दूसरे गोलार्द्ध में है, इसलिए हम अभीष्ट अक्षांश को ४७° में से २३½° घटा कर ज्ञात कर लेंगे (मकर रेखा का अक्षांश २३½° है जहाँ सूर्य सिर के ऊपर चमक रहा है)। हमें विदित होता है ४७°—२३½°=२३½°।

इसलिए अभीष्ट अक्षांश कर्क रेखा है।

प्रदोष या गोधूलि-प्रकाश

सूर्य के प्रकाश की भाँति प्रदोप भी देखने का मिलता है। यह प्रदोप भी पृथ्वी के भ्रमण तथा परिक्रमा पर निर्भर है। क्षितिज पर सूर्य के निकलने से पहले तथा क्षितिज के नीचे सूर्यास्त हो जाने के बाद, बाहरी काम-काज करने के लिये पर्याप्त प्रकाश रहता है। यही प्रकाश गोधूलि प्रकाश कहलाता है। यह प्रकाश क्षितिज के नीचे स्थित केवल सूर्य का प्रकाश है जो वायुमंडल द्वारा प्रतिविम्वित होकर छिटक रहा है। यह प्रतिविम्व शीशे की सहायता से लिये गये सूर्य की किरणों के प्रतिविम्व की तरह है। शीशे में यह होता है कि किरणें इस पर ली जाती हैं और वहीं एकत्रित हो जाती हैं, और फिर एकाग्र रूप से प्रतिविम्वित होती हैं। इससे वे कमरे के उस कोने को चमका देती हैं जिसकी दिशा में प्रतिविम्व पड़ रहा है। वायुमंडल में यह होता है कि प्रतिविम्व फैल जाता ह और एकाग्र नहीं रहता।

लगभग १,२५० मील चौड़ी पट्टी के ऊपर (जो उस स्थान से नापी गई है जहाँ सूर्योदय

SUMMER SOLSTICE

90°N
80°N
60°N
30°N
0°

WINTER SOLSTICE

90°N
80°N
60°N
30°N
0°N
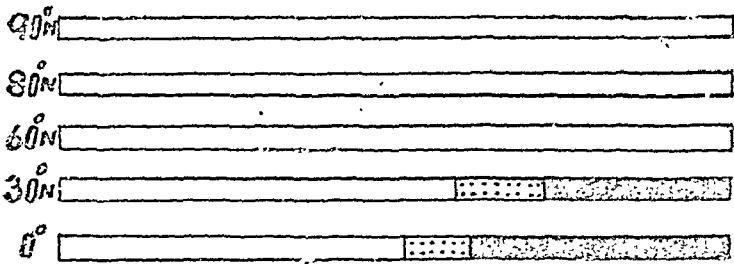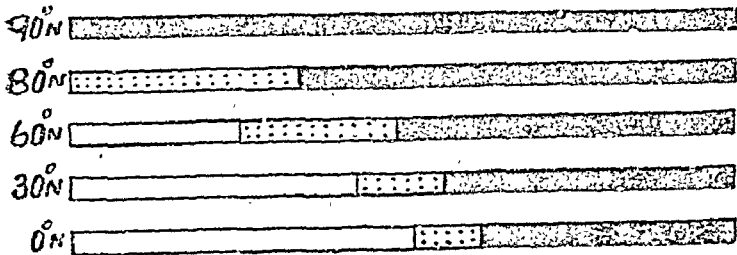
चित्र २०
मकर संक्रान्ति को रात्रि, दिन तथा गोधूलि-प्रकाश। रात्रि के लिए काला, दिन का स्वेत तथा गोधूलि का चिन्ह विन्दी

या सूर्यास्त हो रहा है), एसा गोधूलि प्रकाश होता है । सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय से पहले का समय जिसमें वाहर के काम-धंधे करने के लिए पर्याप्त प्रकाश रहता है नागरिक गोधूलि प्रकाश (सिविल ट्वाइलाइट) कहलाता है। जब सूर्य का केन्द्र लगभग ६०° क्षितिज के नीचे होता है तभी यह समाप्त और आरंभ होता है। अर्थात् सूर्योदय से पूर्व क्षितिज के ६०° नीचे स्थिति सूर्य से गोधूलि प्रकाश आरम्भ होता है। इसी प्रकार सूर्यास्त के बाद क्षितिज से ६०° नीचे पहुंचने तक सूर्य से गोधूलि प्रकाश मिलता है। अन्धकार तथा सूर्योदय और सूर्यास्त तथा अन्धकार के बीच का पूरा समय गागनिक गोधूलि प्रकाश कहलाता है। यह तब समाप्त होता है और शुरू होता है जब सूर्य का केन्द्र क्षितिज से लगभग १८० नीचे है। उच्चाक्षांशों में विशेषकर ग्रीष्म के महीनों में, नागरिक तथा आधुनिक गोधूलि प्रकाश के समय में बहुत अन्तर होता है। जून और आधी से ज्यादा जुलाई में ५०° उत्तरी से ऊपर के अक्षांशों पर सूर्य कभी क्षितिज के इतना नीचे नहीं चला जाता कि पूर्ण अन्धकार छा जाय।

नीचे के चित्रों से पता चलता है कि गोधूलि प्रकाश के ठहरने का समय अक्षांश के बढ़ने
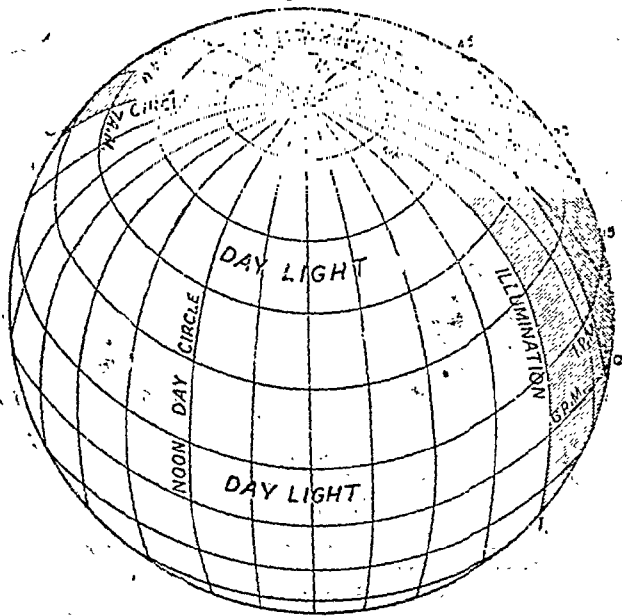
चित्र २१
(२९ मार्च को प्रकाश का वितरण)

के साथ-साथ जल्दी-जल्दी बढ़ता है। २१ मार्च व २३ सितम्बर को ८०° उत्तरी या दक्षिणी अक्षांश पर यह प्रकाश रात भर के लिये रहता है। परन्तु विषुवत् रेखा पर यह केवल एक घंटे के लिये रहता है। ध्रुवों के निकट यह प्रकाश उन दिनों के बीच में जब सूर्य वहाँ नहीं निकलता, दिन के प्रकाश की भाँति गोधूलि-प्रकाश ज्योतिर्मय होता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि सूर्य दक्षिणी ध्रुव पर लगभग २४ मार्च से लेकर २० सितम्बर तक देखने में नहीं आ सकता, परन्तु वहाँ कई सप्ताह तक गोधूलि प्रकाश रहता है और इसके बाद ही इतना अन्धकार छा जाता है कि तारे दिख सकते हैं। शीतकाल के अन्त में सूर्य के निकलने से पहले भी ऐसा ही गोधूलि प्रकाश का समय होता है। उत्तरी ध्रुव पर, पहली फर्वरी के लगभग बहुत धुँधला गोधूलि प्रकाश आरंभ होता है जो धीरे-धीरे प्रकाश-वान होता जाता है जब तक कि सूर्य मार्च में क्षितिज के ऊपर आ नहीं जाता है। ८०° उत्तरी पर यद्यपि फर्वरी के लगभग मध्य से लेकर अप्रैल के मध्य तक प्रति दिन सूर्य उदय तथा अस्त होता है, तथापि मार्च के प्रारंभ से ही रात्रिभर यह प्रकाश रहता है।

इसके उपरान्त तो कई महीने तक सूर्य अस्त नहीं होता। इस अक्षांश में सूर्य २२ अक्तूबर के लगभग से २० फरवरी तक नहीं उदय होता, परन्तु प्रति दिन थोड़ी देर के लिये यह प्रकाश होता है जो मध्यान्ह के समय सबसे अधिक प्रकाशवान् होता है। ट्रान्डहाइम (नार्वे) में मई के उत्तरार्द्ध से लेकर जुलाई के उत्तरार्द्ध तक अर्द्धरात्रि में भी ज्योतिर्मय गोधूलि प्रकाश रहता है। उच्च अक्षांशों में यह अधिक समय के लिये होता है जैसा कि यह ऊपर के चित्र में दिखाया गया है।

विषुवत् रेखा पर पृथ्वी की गति तीव्र होने के कारण गोधूलि प्रकाश कम समय का होता है। इसकी तुलना अधिक समय तक ठहरने वाले गोधूलि प्रकाश से कीजिये जो उच्चतर अक्षांशों में मन्दगति के कारण होता है। एक घंटे में पृथ्वी ६०° उत्तरी अक्षांश की अपेक्षा विषुवत् रेखा पर अधिक दूरी तय कर लेती है। ७५° उत्तरी अक्षांश पर (जैसा कि पिछले चित्र से प्रकट है) यद्यपि यह प्रकाश वहाँ पर अर्द्धरात्रि के निकट धुँधला पड़ जाता है परन्तु किसी भी स्थान पर पूर्णान्धकार का साम्राज्य नहीं छाता।

सारांश

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के धरातल पर अधिकतम सौर्यिक शक्ति की पेटी वर्ष भर में विषुवत् रेखा के उत्तर और दक्षिण में खिसकती रहती है। इसके खिसकने के दो कारण हैं:—

(अ) अधिकतम सौर्यिक शक्ति देने वाली सूर्य की सीधी किरणें विषुवत् रेखा के ऊपर व दक्षिण खिसकती रहती हैं; और

(व) सौर्यिक शक्ति के आने का समय निर्धारित करने वाला प्रकाश वृत्त ध्रुवों के आगे-पीछे होता रहता है।

फलस्वरूप वर्ष भर में औसत रूप से तथा समान अहर्निश की तिथियों पर सबसे अधिक सौर्यिक शक्ति विषुवत् रेखा पर आती है जहाँ से यह नियमित रूप से ध्रुवों की ओर घटती जाती है।

पृथ्वी की धुरी का झुकाव तथा सूर्य के चारों ओर उसकी परिक्रमा यही अधिकतम सौर्यिक शक्ति की पेटी के खिसकने के कारण हैं।

धरातल पर सौर्यिक शक्ति के प्रभाव का विशेष अध्ययन करने के पहले निम्नांकित बातों का फिर ध्यान दिलाना आवश्यक है:—

१. धरातल पर सौर्यिक शक्ति का वितरण अक्षांश रेखा पर निर्भर है क्योंकि सूर्य की किरणों की शक्ति उनके कोण के अनुसार होती है।

२. इसका परिणाम यह होता है कि भूमध्यरेखा का निकटवर्ती भाग अधिक सौर्यिक शक्ति पाने वाला भाग होता है, और ध्रुवों का निकटवर्ती भाग कम शक्ति पाने वाला भाग। अर्थात् एक भाग में ताप ऊँचा, दूसरे में नीचा हो जाता है।

३. ताप में इस अन्तर के कारण धरातल पर वायु में ऊँचा भार तथा नीचा भार हो जाता है। इससे पृथ्वी पर पवनें चलने लगती हैं।

४. इन पवनों द्वारा भूमध्यरेखीय ऊँचा ताप और ध्रुव खंडीय नीचा ताप संतुलित होने लगते हैं। भूमध्यरेखा के निकट आनेवाली अधिक सौर्यिक शक्ति कम शक्ति पाने वाले ध्रुवीय खण्ड की ओर चली जाती है।

५. भूमध्यरेखीय खंड और ध्रुवीय खण्ड के मध्य शक्ति का वहन ऋतुओं द्वारा प्रभावित होता है; गर्मी में यह वहन अधिक होता है और जाड़े में कम।

अध्याय ४

वायुमण्डल (क्रमशः)

तापक्रम

पृथ्वी पर आनेवाली सूर्य की किरणों से हमको न केवल प्रकाश मिलता है, वरन् ताप भी। ताप एक प्रकार की सौर्यिक शक्ति है जिसका विकास पृथ्वी के धरातल पर ही होता है। जिनको हम सूर्य की किरणें कहते हैं वे सूर्य के धरातल पर उठी हुई अति सूक्ष्म लहरें हैं। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, सूर्य की अधिकतर लहरें, पृथ्वी के धरातल तक पहुँचती ही नहीं हैं। वायुमंडल की बाह्य सीमा पर आई हुई सौर्यिक शक्ति का केवल ४३ प्रतिशत ही पृथ्वी के धरातल पर पहुँच पाता है।

पृथ्वी के धरातल पर आने पर ये लहरें उसमें प्रविष्ट कर जाती हैं और तब ये तापशक्ति बन जाती हैं। इस ताप शक्ति को भौमिक शक्ति भी कहा जाता है। यह भौमिक शक्ति धरातल से लम्बी-लम्बी लहरों द्वारा बाहर निकलती है और अपने सम्पर्क में आने वाली सभी वस्तुओं को उष्णता प्रदान करती हैं। इसका संपर्क सर्व प्रथम वायुमंडल से होता है, जिससे वायु में ताप आ जाता है। यह बात ध्यान देने की है कि सौर्य शक्ति की किरणें पूर्ण वायुमंडल से होकर पृथ्वी के धरातल पर ऊपर से आती हैं, तथापि उनसे वायु को ताप पृथ्वी के धरातल पर ही मिलता है। इसका कारण यह है कि सौर्यिक शक्ति से ताप तभी मिल सकता है जब यह शक्ति 'भौमिक-शक्ति' बन जाती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् पृथ्वी की धरातल ताप-शक्ति बनाने की एक वृहत् प्रयोगशाला है।

पृथ्वी की धरातल में भिन्नता अधिक है; कहीं जल, कहीं थल, कहीं मरुभूमि, कहीं वन, कहीं बरफ; कहीं बालू, इत्यादि भिन्न-भिन्न दशायें देखने में आती हैं। इस भिन्नता के कारण धरातल के सभी स्थानों में सौर्यिक-शक्ति की लहरों का समान प्रवेश कहीं नहीं होता है, उनका प्रवेश कहीं अधिक होता है, कहीं कम। यह न्यूनाधिक प्रवेश भिन्न प्रकार की धरातल की प्रतिबिम्बन शक्ति पर निर्भर है। किसी वस्तु में प्रतिबिम्बन शक्ति अधिक होती है, किसी में कम। जहाँ अधिक प्रतिबिम्बन होता है, वहाँ कम लहरें प्रवेश कर पाती हैं; और जहाँ कम प्रतिबिम्बन होता है, वहां अधिक लहरें प्रवेश कर पाती हैं। कुछ वस्तुओं की प्रतिबिम्बन शक्ति नीचे दी जाती है :—

प्रतिविम्वन (लहरों का प्रतिशत ह्रास)

वनस्पति	...	...	...	७ से ९ प्रतिशत
बालू	...	...	...	१३ से १८ प्रतिशत
नई बरफ	...	...	...	८० से ९० प्रतिशत
समुद्र जल	...	...	...	३ से ४० प्रतिशत

(लैन्ड्सवर्ग द्वारा निर्धारित)

ऊपर दी हुई सूची से यह ज्ञात होता है कि लहरों का सब से अधिक प्रवेश वनस्पति से रहित शुष्क भूमि में होता है। बरफ अथवा जल से ढके हुए भागों में लहरों का प्रवेश बहुत कम होता है। प्रकृति का यह नियम है कि जितना ही अधिक तप्त स्थान होता है उससे उतनी ही अधिक ताप-शक्ति का निष्क्रमण होता है।*इसीलिये कम प्रतिविम्वन वाले भागों में अधिक ताप निकलता है, क्योंकि उनमें अधिक लहरें प्रवेश करती हैं। इससे वहाँ की वायु अन्य भागों की अपेक्षा अधिक उष्ण हो जाती है।

थल और जल में, प्रतिविम्वन की भिन्नता के अतिरिक्त, एक और अन्तर यह है कि थल ठोस वस्तु है, और जल तरल। ठोस होने के कारण थल में प्रवेश करने वाली लहरें उसमें अधिक गहराई तक नहीं जा सकती हैं। वे प्रायः धरातल के ऊपरी भाग में ही एकत्रित हो जाती हैं। यही कारण है कि दिन में थल का ताप बहुत ऊँचा हो जाता है और रात्रि में जब कि सूर्य की किरणें नहीं आती हैं, थल का ताप बहुत कम हो जाता है। परन्तु तरल होने के कारण जल में सूर्य की लहरें अधिक गहराई तक फैल जाती हैं, जिससे जल का ताप धीरे-धीरे बढ़ता है, और धीरे-धीरे ही कम होता है। इस संबंध में एक दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि तरल होने के कारण जल स्थिर नहीं रहता है। उसमें सदैव संचालन रहता है जिससे उसका ताप इधर-उधर वितरित होता रहता है। इसका फल यह होता है कि ताप का उच्च विन्दु होने के पहले २५ मीटर की गहराई तक जल को गरम होना चाहिये। परन्तु थल से कुछ सेन्टीमीटर गहराई तक गरम होकर ही उच्चविन्दु प्राप्त कर लेता है। थल में इस प्रकार का संचालन नहीं है, और इसलिए उसका ताप स्थानवद्ध है। यही कारण है कि रात्रि में थल का ताप शीघ्र ही नीचा हो जाता है, परन्तु जल का ताप उस समय भी अधिक काल तक ऊँचा ही रहता है। इसी प्रकार, ग्रीष्म तथा जाड़े की ऋतु में भी जल और थल के तापक्रम में अन्तर रहता है। थल का ठोसपन, और जल की तरलता ही इस अन्तर के वास्तविक कारण हैं। इसलिए जल का विशिष्ट ताप अर्थात् 'स्पेसिफिक हीट' थल के विशिष्ट ताप की अपेक्षा ऊँचा होता है।

*यह नियम स्टेफन-बोल्टसमैन का नियम कहलाता है। इन दोनों वैज्ञानिकों ने इस नियम की खोज की थी।

पृथ्वी पर ताप का प्रसार वायु द्वारा होता है। तप्त वायु का घनफल अधिक हो जाता है, जिससे वह हल्की होकर ऊपर को उठती है। उठी हुई वायु के स्थान पर निकटवर्ती क्षेत्रों की अपेक्षाकृत ठंडी वायु आ जाती है। वहाँ पर आकर वह भी तप्त हो जाती है और ऊपर उठती है। इस प्रकार ऊपर उठने वाली वायु-तरंगों (एअर करेंट) का एक क्रम बँध जाता है। तरंगें तप्त धरातल की उष्णता को अधिक ऊँचाई तक प्रसारित कर देती हैं। वायु की स्वतंत्र गति इस प्रसार में अधिक सहायक होती है। वायु को ऊपर उठने वाली तरंगों को ताप-वाहक तरंग (कनवेक्शन करेंट) कहते हैं।

ये तरंगें वायु को धरातल से दूर ले जाती है, और इस प्रकार इन तरंगों में पड़ कर वह शनैः-शनैः धरातल पर स्थित ताप-श्रोत से दूर होती जाती है। ताप श्रोत से दूर हटने पर वायु का ताप धीरे-धीरे कम होने लगता है। धरातल से उठी हुई वायु का ताप अधिक ऊँचाई पर इसलिए भी कम हो जाता है कि वहाँ पर स्थित शीतल वायु से उसका संपर्क होता है। उष्ण और शीतल वायु के मिश्रण से उष्ण वायु का तापक्रम अति शीघ्र नीचा हो जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विषुवत् रेखा के निकट सब से अधिक सौर्यिक शक्ति प्राप्त होती है और इसलिए वहाँ पर सबसे अधिक औसत ताप होता है। विषुवत रेखा से दूर हटने पर सौर्यिक शक्ति कम प्राप्त होती है और इसलिये औसत ताप भी घटता जाता है।

अर्थात् वायु का ताप धरातल से अधिक ऊँचाई पर, तथा विषुवत् रेखा से दूरी पर कम हो जाता है। वायु का अधिकतम औसत ताप धरातल पर विषुवत रेखा के निकट होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वायु का ताप अक्षांश से संबंधित है। भिन्न-भिन्न अक्षांशों का औसत ताप नीचे दिया है।

वायु का ताप उसके भार में परिवर्तन होने से भी घटता-बढ़ता है। इस भार-परिवर्तन ताप (एडियाबेटिक हीटिंग अथवा कूलिंग) का प्रभाव ऊपर उठती हुई अथवा नीचे उतरती हुई वायु तरंगो में ही सीमित रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि वायु का ताप निम्नलिखित कारणों पर निर्भर है :—१. तप्त अथवा शीतल स्थान से संपर्क, और २—उसका भार-परिवर्तन। ऊपर उठनेवाली वायु का भार कम हो जाता है, और इससे वह शीतल हो जाती है। नीचे उतरने वाली वायु का ताप बढ़ जाता है, क्योंकि उसका भार अधिक हो जाता है।

औसत ताप, अंश फ़०

अक्षांश		वार्षिक		जनवरी		जुलाई	
उत्तरी ध्रुव		–९		—४२	शीत ऋतु	३०	ग्रीष्म ऋतु
८०	उत्तरी गोलार्द्ध	–१		—२६		३५	
७०		१२		—१५		४५	
६०		३०	शीतोष्ण खण्ड	३		५७	
५०		४२		१९		६४	
४०		५७		४१		७५	
३०		६८		५८		८१	
२०		७७	उष्ण खण्ड	७१		८२	
१०		८०		७८		८०	
विषुवत्‌रेखा		७९		७९		७८	
१०	दक्षिणी गोलार्द्ध	७७		७९		७५	
२०		७३		७८		६८	
३०		६२		७१		५८	
४०		५३	शीतोष्ण खण्ड	६०	ग्रीष्म ऋतु	४८	शीत ऋतु
५०		४२		४६		३८	
६०		२६		३६		१५	
७०		७		२६		–९	
८०		—१६		१२		–३९	
दक्षिणी ध्रुव		—२७		८		–५४	

(हान और जिवरिग के अनुसार)

ऊपरी दी हुई तालिका में धरातल पर वायु के औसत ताप हैं। उनसे निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं।

(अ) तिरछी किरणों के कारण ध्रुव-खंड में सदा न्यूनतम तापक्रम का होना। सीधी किरणों के कारण उष्णखंड में सदा अधिकतम तापक्रम का होना।

(ब) ग्रीष्म ऋतु में कम तिरछी किरणों के कारण सम-शीतोष्ण कटिबन्ध में तथा ध्रुव-खंड में शीत ऋतु की अपेक्षा तापक्रम ऊँचा रहता है। अर्थात् इन खंडों में ग्रीष्म तथा शीत ऋतुओं के तापक्रमों में अधिक अन्तर रहता है।

(स) उष्ण खंड में शीत ऋतु नहीं होती है।

(द) उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में थल और जल के असमान वितरण के कारण अनुरूप अक्षांश म तापक्रम में विशेष अन्तर होता है। यह अन्तर शीतोष्ण खंड में अधिक

महत्वशील है। दक्षिणी गोलार्द्ध में शीतोष्ण खंड में थल की अपेक्षा जल अधिक है; पर उत्तरी गोलार्द्ध में थल अधिक है।

(क) दक्षिणी ध्रुव पर स्थित बरफ से आच्छादित एन्टार्कटिका महाद्वीप का प्रभाव वहाँ के तापक्रम पर विशेष है। उत्तरी ध्रुव की अपेक्षा दक्षिणी ध्रुव पर तापक्रम बहुत नीचा है। इस महाद्वीप में कहीं-कहीं १ हजार फुट मोटी बरफ जमी है।

ऊँचाई में भी वायु का ताप कम होता है; परन्तु इस कमी की गति सदा एक नहीं रहती है। साधारण अवस्था में प्रति ३०० फुट ऊँचाई पर १ अंश, फा० (१०००फु० में लगभग ३॥ अंश फा०) तापक्रम नीचा हो जाता है। अधिक ऊँचाई पर तापक्रम में और अधिक कमी होती है। जैसा ऊपर कहा गया है, ऊँचाई पर वायु के तापक्रम की कमी दो कारणों से होती है; तप्त धरातल से दूर होने के कारण और वायु भार में कमी होने के कारण। ये दोनों कारण अपना प्रभाव साथ-साथ डालते हैं। ऊँचाई का प्रभाव इतना अधिक नहीं होता है, जितना कि भार की कमी का। वायु भार की कमी के कारण तापक्रम प्रति १००० फुट की ऊँचाई पर ५॥ अंश फा० कम हो जाता है। केवल ऊँचाई के कारण तापक्रम की कमी ३॥ अंश ही होती है। * सारांश यह है कि, साधारणतया, आप जितना ही अधिक ऊपर उठिये उतना ही कम तापक्रम होगा।

उलटा तापक्रम

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि साधारण दशा में ऊँचाई के साथ-साथ तापक्रम कम होता है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि तापक्रम की गति उलटी हो जाती है; अर्थात् ऊँचाई पर ताप अधिक और नीचाई पर कम। तापक्रम की गति का उलट जाना केवल असाधारण दशा में ही होता है। यह असाधारण दशा निम्न कारणों से उत्पन्न होती है:—

१. रात्रि में कुछ स्थानों में धरातल का अधिक ठंडा हो जाना।
२. वायुमंडल के किसी भाग में कुछ कारणों से उथल-पुथल।
३. धरातल की ओर वायु का गिरना।
४. चक्रवात के अग्र तथा पृष्ठ भाग।

१. रात्रि में जब बादलों का अभाव हो, और पवन न चलती हो, विशेषकर शीत ऋतु

---

*नोट—हॉन के अनुसार यह कमी निम्न प्रकार से है:—

प्रथम १८० मीटर तक	१ अंश से०
उसके ऊपर २०० मीटर तक और	१ अंश ,,
उसके ऊपर २५० मीटर तक	१ अंश ,,
अर्थात्	३ अंश ,, ६३० मीटर में

में, तब पहाड़ी क्षेत्रों में उलटा तापक्रम बहुधा पाया जाता है। ऐसी रात्रि में पहाड़ी ढाल शीघ्र ठंडे हो जाते हैं, और इसलिए उन पर टिकी हुई वायु भी ठंडी होकर सिकुड़ जाती है। सिकुड़ने से वायु का भार अधिक हो जाता है और वह धीरे-धीरे ढाल पर से खिसक कर नीचे की घाटी में भर जाती है। घाटी की वायु को खिसकने वाली ठंडी वायु ऊपर उठा देती है। इस प्रकार, घाटी की गरम वायु ढाल वाली ठंडी वायु के ऊपर हो जाती है। जिससे ऊँचाई पर तापक्रम कम होने की अपेक्षा अधिक हो जाता है। इस प्रकार का उलटा तापक्रम पहाड़ी भागों में ही देखा जाता है जहाँ पर ढाल की वायु को खिसकने में सरलता होती है।

२. वायु में कभी-कभी बड़ी अस्थिरता पैदा हो जाती है जिससे वायु बड़ी शीघ्रता से ऊपर नीचे होने लगती है। ऊपर पहुँचने वाली वायु यकायक ऐसी ऊँचाई पर पहुँच जाती है जहाँ पर चारों ओर उस वायु की अपेक्षा ठंडी वायु होती है। इसी ठंडी वायु का कुछ भाग, इस उथल पुथल के कारण नीचे खिसक जाता है, और ऊपर गई हुई गरम वायु के नीचे पड़ जाता है। इससे तापक्रम उलट जाता है; अर्थात् नीचा ताप नीचे और ऊँचा ताप ऊपर।

३. कभी-कभी वायु की अस्थिरता का परिणाम यह भी होता है कि वायु का बहुत बड़ा भाग धरातल की ओर गिरने लगता है। गिरने से उसका तापक्रम बढ़ जाता है। गिरते समय यह वायु स्थिर हो जाती है और उसमें तह बन जाती है। इस तह को 'इनवर्शन लेअर' कहते हैं। यह तह इतनी घनी हो जाती है कि धरातल से उठी हुई वायु उसको फाड़ नहीं सकती है। इस तह के नीचे बहुत दूर तक एक तह बादल की भी बन जाती है। यह तहदार बादल अर्थात् 'स्ट्रेटस' बादल धरातल से उठी वायु में स्थिर वाष्प से बनता है। बादल बनना नीचे ताप का चिन्ह है। अर्थात् गिरी हुई वायु की तह के नीचे तापक्रम नीचा है, और उस तह में जो अधिक ऊँचाई पर है, तापक्रम ऊँचा है। इस प्रकार उलटा तापक्रम बन जाता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि गिरती हुई वायु धरातल तक नहीं पहुँचती है; क्योंकि कुछ कारणों से, विशेषकर वेगवती वाहक तरंगों के कारण, यह गिरती हुई वायु उन तरंगों की चोटी पर ही थम जाती है। इस प्रकार उलटा तापक्रम तब होता है जब कि ऊपर गिरने वाली वायु में वाष्प की मात्रा बहुत कम होती है। शुष्क वायु का होना उलटे तापक्रम के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

४. चक्रवात में गरम और ठंडी वायु का सम्मेलन होता है। गरम वायु हलकी होती है और इसलिए ठंडी वायु के ऊपर चढ़ जाती है। इससे तापक्रम उलटा हो जाता है, क्योंकि नीचे की ठंडी वायु का तापक्रम ऊपर की गरम वायु की अपेक्षा कम होता है। चूँकि गरम

और ठंडी वायु का मिलाप चक्रवात के अगले व पिछले भागों में ही होता है, इसलिये यह स्मरण रखना चाहिये कि उलटा तापक्रम वायुमंडल की एक क्षणिक अवस्था है; चिरस्थायी नहीं।

वायु का शुष्कपन, बादलों का अभाव, पवन का न चलना अथवा अधिक वेग से न चलना इत्यादि कारणों से तापक्रम उलट सकता है।

तापक्रम का अन्तर (रेन्ज आफ़ टेम्परेचर)

ऊपर कहा जा चुका है कि वायु का ताप वास्तव में सौर्यिक शक्ति पर ही निर्भर है। सूर्य की किरणों से ही ताप उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त यह भी बतलाया गया है कि सीधी किरणों से अधिक ताप मिलता है, और तिरछी किरणों से कम । पृथ्वी की गोलाई के कारण उसकी धुरी के झुकाव के कारण, तथा उसकी दैनिक व वार्षिक गति के कारण सूर्य की किरणें कभी सीधी और कभी तिरछी पड़ती हैं, और कभी बिलकुल नहीं पड़ती हैं। सूर्य की किरणों में उपरोक्त परिवर्तन के कारण पृथ्वी पर, समय और स्थान के अनुकूल, तापक्रम में सदा परिवर्तन होता रहता है।

पृथ्वी की दैनिक गति के कारण उसका केवल आधा भाग अन्धकारमय रहता है। अर्थात् सूर्य की किरणों से ताप केवल दिन में ही मिलता है; रात्रि में नहीं। दिन में मिला ताप रात्रि भर में समाप्त हो जाता है। इसलिये रात्रि और दिन के तापक्रम में अन्तर होता है।

पृथ्वी की गोलाई के कारण प्रातःकाल तथा संध्याकाल में केवल तिरछी किरणें पड़ती हैं, जिनसे कम ताप मिलता है। मध्याह्न में सीधी किरणें पड़ती हैं, जिनसे अधिक ताप मिलता है। इस प्रकार दिन में भी तापक्रम में अन्तर होता रहता है।

भिन्न-भिन्न भाँति की धरातल में सूर्य की किरणों का भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। इस लिये स्थान-स्थान के तापक्रम में भी अन्तर होता है।

सूर्य की परिक्रमा में वार्षिक गति के कारण, पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में सौर्यिक शक्ति न्यूनाधिक होती रहती है। इससे भिन्न-भिन्न ऋतुएँ होती हैं। ऋतुओं की भिन्नता के कारण भी तापक्रम में अन्तर होता है।

अनेक कारणों से वायु में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रभाव धरातल के बड़े-बड़े क्षेत्रों में पड़ता है। इस अस्थिरता के कारण ठंडी तथा गरम वायु इधर-उधर से असाधारण प्रकार से चलने लगती है। इस असाधारणता से भी तापक्रम में अन्तर पड़ता है।

सारांश यह है कि तापक्रम का अन्तर पृथ्वी पर एक स्वाभाविक बात है।

यह अन्तर दो प्रकार का होता है; तापक्रम का दैनिक अन्तर और ऋतुवत वार्षिक अन्तर। इसको अंग्रेजी में डिउरनल रेन्ज तथा सीजनल रेन्ज कहते हैं।

तापक्रम का दैनिक अन्तर

सूर्य की किरणों पर निर्भर होने के कारण यह आशा की जानी चाहिये कि तापक्रम का उच्चतम विन्दु मध्यान्ह में, और न्यूनतम विन्दु अर्द्धरात्रि में होगा। परन्तु वास्तव में उच्चतम ताप मध्याह्न के उपरान्त २ और ४ वजे के बीच होता है और न्यूनतम ताप सूर्योदय से कुछ मिनट पहले। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि सौर्यिक शक्ति का उच्चतम विन्दु मध्याह्न में होता है, वायु के तापक्रम पर उसका प्रभाव २–४ घंटे के बाद ही होता है। इसका कारण यह है कि सौर्यिक शक्ति का वायु पर प्रभाव होने में कुछ समय लगता है। इसलिये पृथ्वी से जाने वाली भौमिक शक्ति का उच्चतम विन्दु आने वाली सौर्यिक शक्ति के उच्चतम विन्दु के कुछ समय बाद होता है; और इसीलिये उस समय तक वायु का तापक्रम बढ़ता रहता है। तापक्रम में कमी भौमिक शक्ति में कमी होने के बाद ही होती है। लगभग ४ बजे से तापक्रम में कमी आरंभ होती है। आठ बजे तक यह कमी धीरे-धीरे होती है; परन्तु आठ बजे के बाद यह कमी अधिक वेग से होने लगती है, और लगभग सूर्योदय से कुछ पूर्व न्यूनतम तापक्रम पहुँच जाता है। सूर्योदय से तापक्रम बढ़ने लगता है। आगे दिये हुए इलाहाबाद के १५ नवम्बर के तापक्रम में इसके उदाहरण मिलते हैं।

तापक्रम के उच्चतम और न्यूनतम विन्दुओं का सौर्यिक शक्ति के इन विन्दुओं के बाद होने को तापक्रम की शिथिलता कहते हैं, (टेम्परेचर लैग)। समुद्र के निकटवर्ती भागों में तथा स्थली भागों में यह शिथिलता भिन्न-भिन्न होती है। समुद्र में तापक्रम का उच्चतम विन्दु सौर्यिक शक्ति के उच्चतम विन्दु के आधे घंटे बाद ही होता है; परन्तु थल पर लगभग आधे घंटे बाद।

तापक्रम के उच्चतम तथा न्यूनतम विन्दु आकाश की दशा के अनुसार बदलते रहते हैं। आकाश बादलों से आच्छादित होने पर तापक्रम में अधिक समानता रहती है; उच्चतम विन्दु नीचा तथा न्यूनतम विन्दु ऊँचा होता है। आकाश स्वच्छ होने पर उच्चतम विन्दु अधिक ऊँचा और न्यूनतम विन्दु अधिक नीचा होता है; अर्थात् दोनों में महान् अन्तर होता है। इसी प्रकार समुद्र के निकटवर्ती स्थानों में स्थली भागों की अपेक्षा तापक्रम में अधिक समानता रहती है।

तापक्रम के दैनिक अन्तर की निम्नलिखित विशेषतायें हैं:—

(१) तापक्रम का दैनिक अन्तर भूमध्यरेखा के निकट अधिक होता है; उस रेखा से दूर कम। इसीलिए भूमध्यरेखीय प्रदेशों को रात्रि को वहाँ की शीत ऋतु कहते हैं।

शीतोष्ण खंड में दैनिक अन्तर ग्रीष्म ऋतु में अधिक और शीत ऋतु में कम होता है; क्योंकि शीत ऋतु में दिन का ताप अधिक नहीं होता है।

(२) ध्रुव के निकट शीत ऋतु में कई महीने तक सूर्य उदय नहीं होता, और इसलिये वहाँ पर उस ऋतु में तापक्रम का अन्तर नहीं होता है। केवल ग्रीष्म ऋतु में ही यह अन्तर वहाँ होता है।

(३) स्थान का खुला होना, धरातल की विशेषता, समुद्रतल से ऊँचाई, समुद्र की निकटता आदि का प्रभाव तापक्रम के दैनिक अन्तर पर अधिक है।

(४) बर्फ से ढके हुए भागों में तथा पठारों में दैनिक अन्तर बहुत होता है।

(५) बादल होने पर समुद्र के निकट तथा अधिक ऊँचे स्थानों पर दैनिक अन्तर कम होता है। खुली हुई वायु में लगभग ४००० फुट की ऊँचाई के ऊपर रात्रि और दिन के तापक्रम में प्रायः कुछ भी अन्तर नहीं होता है।:—

इलाहाबाद का १५ नवम्बर, १९४९ का दैनिक ताप नीचे दिया जाता है:—

समय	तापक्रम फा०	समय	तापक्रम फा०
मध्यान्ह	७३.९	अर्द्धरात्रि	५५.०
२ बजे	७५.३	२ बजे	५४.०
३ बजे	७६.३	३ बजे	५३.८
४ बजे	७४.३	४ बजे	५३.४
५ बजे	७०.९	५ बजे	५३.३
६ बजे	६६.९	६ बजे	५२.१
७ बजे	६२.७	७ बजे	५१.१
८ बजे	६१.५	८ बजे	५९.३
९ बजे	५९.७	९ बजे	६७.४
१० बजे	५८.०	१० बजे	६९.६
११ बजे	५६.२	११ बजे	७२.९

तापक्रम का वार्षिक अन्तर

सूर्य की परिक्रमा करने में पृथ्वी सूर्य से अति निकट दिसंबर मास के अन्त में पहुँचती है, इसलिये और उसी समय वर्ष भर में पृथ्वी पर सबसे अधिक सौर्यिक शक्ति आती है।

---

*पहाड़ों की अधिक ऊँची चोटियों पर रात्रि और दिन के तापक्रम में जो अन्तर पाया जाता है उसका संबंध पहाड़ की चट्टानों से है; न कि वायु से। रात्रि में चट्टानें ठंढी हो जाती हैं; और इसलिये उनसे लगी हुई वायु भी ठंढी हो जाती है। दिन में ये चट्टानें तप जाती हैं; और इसलिये वहाँ पर वायु भी तप जाती है। इस प्रकार, पहाड़ी स्थानों पर तापक्रम का दैनिक अन्तर पाया जाता है।

जून मास में पृथ्वी की स्थिति सूर्य से सबसे अधिक दूर होती है, और इसलिये उस समय सूर्य से सबसे कम सौर्यिक शक्ति आती है। परन्तु तापक्रम की शिथिलता के कारण इस अधिक और कम सौर्यिक शक्ति का तापक्रम पर प्रभाव अगले मास में पड़ता है; इसलिये जूलाई और जनवरी के तापक्रम को वार्षिक तापक्रम की सीमा मानते हैं। परन्तु जूलाई में उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु होती है, और जनवरी में वहाँ पर शीत ऋतु होती है। इसलिए उसी गोलार्द्ध को ध्यान में रखते हुए जूलाई के तापक्रम को ग्रीष्म ऋतु का तापक्रम तथा जनवरी के तापक्रम को शीत ऋतु का तापक्रम कहते हैं; यद्यपि इन तापक्रमों का संबंध सौर्यिक शक्ति से विपरीत है। परन्तु दिसंबर में आनेवाले सौर्यिक शक्ति का पूर्ण प्रभाव नहीं होता है; क्योंकि दक्षिणी गोलार्द्ध में उच्चतम सौर्यिक शक्ति का प्रभाव जल की प्रधानता के कारण कम हो जाता है। थल की प्रधानता के कारण उत्तरी गोलार्द्ध के तापक्रम ही उच्चतम होते हैं।

समुद्र में वार्षिक तापक्रम की अधिक शिथिलता होने के कारण समुद्र तट के स्थानों में सीमा तापक्रम (उच्चतम व न्यूनतम) एक मास उपरान्त, अर्थात् अगस्त और फरवरी में होते हैं।

वार्षिक अन्तर ऋतु परिवर्तन पर निर्भर है। ऋतुओं का होना क्षितिज से सूर्य की ऊँचाई पर निर्भर है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की ऊँचाई अधिक होने से किरणें अधिक सीधी पड़ती हैं, और शीत ऋतु में कम ऊँचाई के कारण तिरछी किरणें पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त, भूमध्यरेखा से दूर स्थित भागों में ग्रीष्म में दिन की मात्रा लम्बी होती है, और इसलिए ताप अधिक मिलता है। ग्रीष्म और शीत ऋतुओं के तापक्रम का अन्तर इसी बात पर निर्भर है।

भूमध्यरेखा के निकट, लगभग १० अक्षांश उत्तर व दक्षिण तक, सूर्य की किरणें सदा सीधी पड़ती हैं। इसलिये इस भाग में ऋतु परिवर्तन होता ही नहीं है। वर्ष भर लगभग एक ही औसत ताप रहता है। १० अक्षांश से जितना ही अधिक ध्रुव की ओर बढ़िये तापक्रम में उतना ही अधिक अन्तर मिलेगा; यहाँ तक कि ध्रुव के निकट पृथ्वी का सब से अधिक तापक्रम का वार्षिक अन्तर होता है। इस वार्षिक अन्तर पर थल और जल का

---

[1] सौर्यिक शक्ति के उच्चतम व न्यूनतम विन्दुओं और तापक्रम के इन्हीं विन्दुओं में २० दिन का अन्तर होता है। उच्चतम सौर्यिक शक्ति मिलने के २० दिन बाद उच्चतम तापक्रम होता है।

[2] उत्तरी ध्रुव पर न्यूनतम ताप २० मार्च को होता है।

प्रभाव विशेषरूप से दिखलाई पड़ता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की मात्रा अधिक होने के कारण वार्षिक अन्तर उतना अधिक नहीं होता है जितना कि उत्तरी गोलार्द्ध में जहाँ पर थल की प्रधानता है। संसार के न्यूनतम तथा उच्चतम ताप उत्तरी गोलार्द्ध में ही देखे गये हैं। सायबेरिया में वेरखोयान्स्क तथा वोईमेकन स्थानों में न्यूनतम ताप देखे गये हैं। ये दोनों स्थान पहाड़ियों से घिरे हुए हैं जहाँ से ठंडी वायु कठिनता से बाहर निकल पाती है। यहाँ पर कभी-कभी —९० अंश, फा० तक देखा गया है। साधारणतया भी वेरखोयान्स्क में — ५८ अंश फा ताप जनवरी में, और ६० अंश फा० ताप जूलाई में होता है। अर्थात् तापक्रम में लगभग १९८ अंश का अन्तर पड़ जाता है।

पृथ्वी का उच्चतम ताप सहारा मरुभूमि में स्थित अजीजिया नामक स्थान में देखा गया है। यह ताप १३६ अं० फा० था। इसी प्रकार कैलीफोर्निया में डेथवैली में भी १३२ फा० ताप दखा गया है।

भूमध्यरेखा के निकट उच्चतम तथा न्यूनतम तापक्रम वर्ष में दो बार होते हैं, क्योंकि सूर्य की परिक्रमा में दो बार ऊँचा सूर्य मिलता है, एक बार कर्क रेखा की ओर जाने में; और दूसरी बार, वहाँ से लौटने में। पहाड़ी भागों में नीचे स्थानों की अपेक्षा वार्षिक अन्तर कम होता है। नीचे दिये हुए उदाहरणों से ऊपर कही हुई बातें स्पष्ट होती हैं :—

कुछ स्थानों का वार्षिक अन्तर

स्थान	अक्षांश	जूलाई का ताप, फा०	जनवरी का ताप, फा०	अन्तर फा०
बेलेम	१	८०	७९	१
कोलंबो	६	८१	७९	२
कोलन	९	८०	७५	५
मद्रास	१३	८७	७६	११
मैड्रिड	४०	७४	४०	३४
पैरिस	४८	६५	३८	२७
मास्को	५६	६४	१२	५२
रीगा	५७	६५	२४	४१
वेरखोयान्स्क	६७	६०	—५८	११८

भूमध्यरेखा के निकट दो उच्चतम अथवा न्यूनतम ताप

स्थान	जनवरी	अप्रैल	जूलाई	अक्तूबर
सैगांव	७९	८५	८१	८१
मनिल्ला	७७	८३	८१	८०
बैन्काक	७९	८६	८४	८२
हनोय	६३	७५	८८	७९

पहाड़ी स्थान का कम अन्तर

स्थान	अक्षांश	ऊँचाई, फिट	वार्षिक अन्तर फा०
लाहोर	३१	७०२	३५
शिमला	३१	७२३२	२३

नीचे दिये हुए चित्र में पृथ्वी पर शीत ऋतु के न्यूनतम तापक्रम दिये गये हैं। उत्तरीय गोलार्द्ध तथा दक्षिणी गोलार्द्ध दोनों की शीत ऋतु का ताप यहाँ मिलता है। इस चित्र में निम्नलिखित तापक्रम मिलते हैं :—

(अ) ६८ अं० फा. तापक्रम वाले भाग; अर्थात् जहाँ शीत ऋतु होती ही नहीं।

(ब) ३२ अं. से ६८ अं. तापक्रम वाले भाग; अर्थात् जहाँ साधारण शीत पड़ती है।

(स) ३२ अं० से ४० अं तापक्रम वाले भाग; अर्थात् जहाँ अधिक शीत पड़ती है।

(द) ४० अंश तापक्रमवाले भाग; अर्थात् जहाँ अति कठोर तथा बहुत समय तक शीत पड़ती है।

इस चित्र से तापक्रम पर जल व थल का प्रभाव भली-भाँति स्पष्ट होता है। ३२ अं० ताप की रेखा थल में अधिक झुक जाती है जिससे थल का अधिकतर भाग उससे घिर जाता है। परन्तु जल पर यह रेखा ध्रुव की ओर सिकुड़ जाती है जिससे जल का अधिकतर
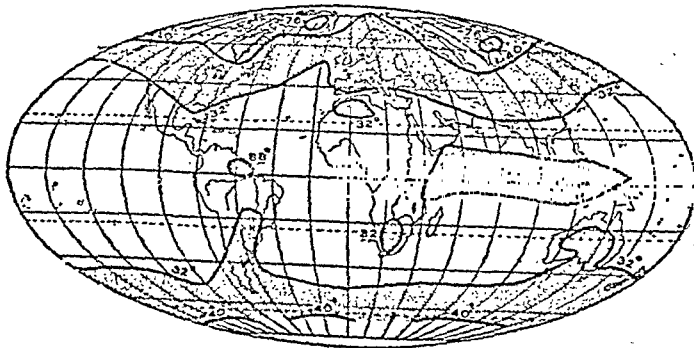
चित्र—२२ न्यूनतम तापक्रम, अ. फा.

भाग इस रेखा के बाहर रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में ध्रुव की ओर इस रेखा का अधिक झुकाव वहाँ की गरम जल-धारा के प्रभाव को दर्शाता है।

पिछले पृष्ठ पर दिये चित्र में उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध के उच्चतम तापक्रम हैं। इसमें कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ पर ताप बहुत नीचा हो। पृथ्वी के अधिकतर भाग
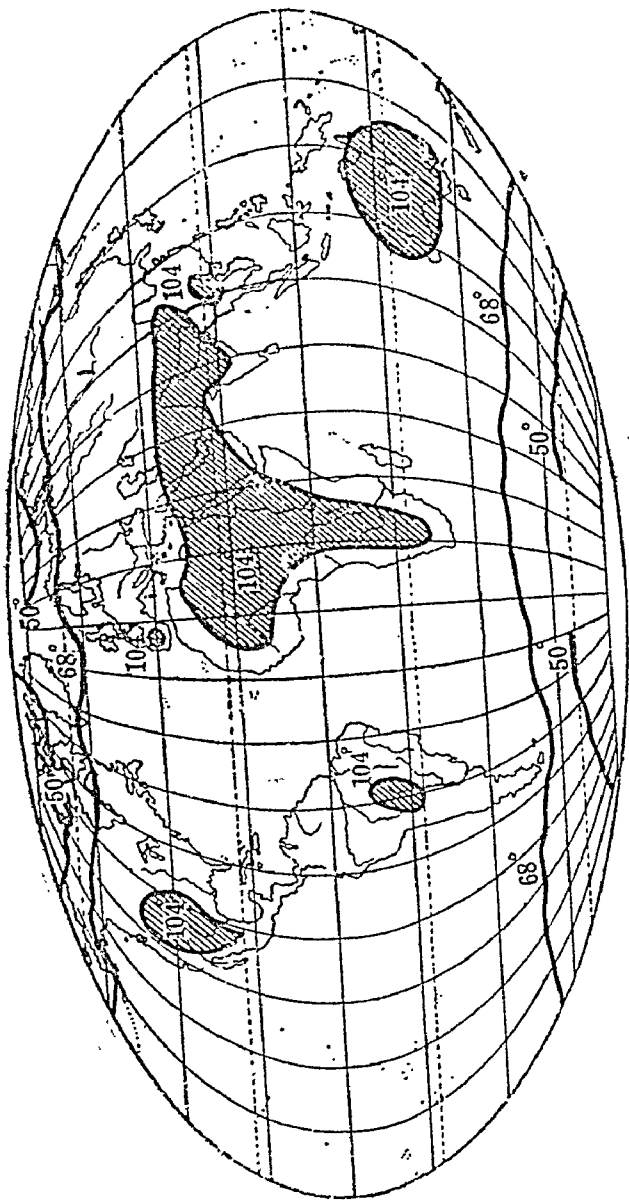
चित्र २३—उच्चतम तापक्रम अ. फा.

का उच्चतम तापक्रम ५० अंश से ऊपर रहता है। एशिया, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया का अधिकतर भाग तो १०४ अंश से अधिक तापक्रम दिखाता है।

धरातल पर तापक्रम-विवरण

ऊपर कहा गया है कि भूमध्य रेखा के निकटवर्ती प्रदेशों में सौर्यिक शक्ति अधिक आती है, और उससे दूरस्थित प्रदेशों में कम। इसीलिये साधारण दशा में, इस रेखा का निकट तापक्रम का औसत ऊँचा रहता है, और इससे दूर तापक्रम का औसत कम रहता है परन्तु धरातल की विशेषताओं का, ऋतु परिवर्तन का, समुद्र से दूरी का, तथा चक्रवात का प्रभाव पृथ्वी के तापक्रम पर अधिक घनिष्ट होता है।

आगे दिये हुए चित्र में जनवरी तथा जुलाई के तापक्रम दिखाये गये हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में जनवरी शीत ऋतु का महीना, और जुलाई ग्रीष्म ऋतु का इसके विपरीत, दक्षिणी गोलार्द्ध में जनवरी ग्रीष्म ऋतु का तथा जुलाई शीत ऋतु का महीना है।

इसीलिये जनवरी में उच्चतम तापक्रम दक्षिणी गोलार्द्ध में पाया जाता है, और न्यूनतम तापक्रम उत्तरी गोलार्द्ध में। आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका में ९० फा. से अधिक ताप मिलता है। इसके प्रतिकूल, जुलाई के चित्र में उच्चतम तापक्रम उत्तरी गोलार्द्ध में, तथा न्यूनतम तापक्रम दक्षिणी गोलार्द्ध में मिलते हैं। एशिया, अफ्रीका, तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के मरुस्थल भाग इस चित्र में ९० अं. फा. से अधिक तापक्रम वाले भाग हैं।

इन दोनों चित्रों को देखने से तापक्रम पर स्थल का प्रभाव भली-भाँति प्रकट हो जाता है। थल की प्रधानता उत्तरी गोलार्द्ध में ही है, और इसलिये वहीं पर शीत ऋतु में बहुत बड़े विस्तृत क्षेत्र में नीचा तापक्रम पाया जाता है। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में वैसे ही विस्तृत क्षेत्र में ऊँचा तापक्रम मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है थल की इस प्रधानता के कारण ही उत्तरी गोलार्द्ध में पृथ्वी का सबसे ऊँचा ताप तथा सबसे नीचा ताप देखा गया है।

उत्तरी गोलार्द्ध के शीतोष्ण खंड में गरम जलधाराओं के कारण समताप रेखायें ध्रुव की ओर झुक जाती हैं; अर्थात् गर्मी का प्रभाव अधिक दूर तक उत्तरी भागों में भी पहुँच जाता है। परन्तु यह प्रभाव पश्चिमी तट पर ही सीमित रहता है। पूर्वी तट का तापक्रम पश्चिमी तट के तापक्रम की अपेक्षा बहुत कम होता है।

उष्ण खंड में ठंडे जल की धाराओं की प्रधानता है, जैसे बेंगुअला धारा। इन ठंडे जलधाराओं के कारण समताप रेखायें भूमध्य रेखा की ओर झुकी रहती हैं। पेरू के निकट तथा अफ्रीका के पश्चिमी तट पर इसका उदाहरण मिलता है। इन भागों में साधारण से शीतल ताप मिलते हैं।
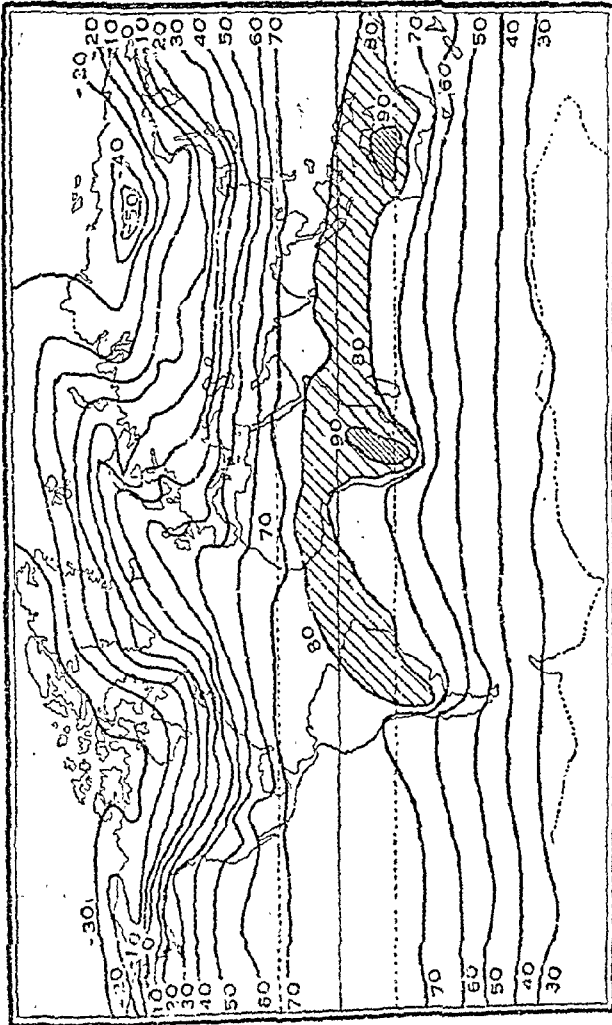
चित्र २४—जनवरी का तापक्रम, अं. फा.
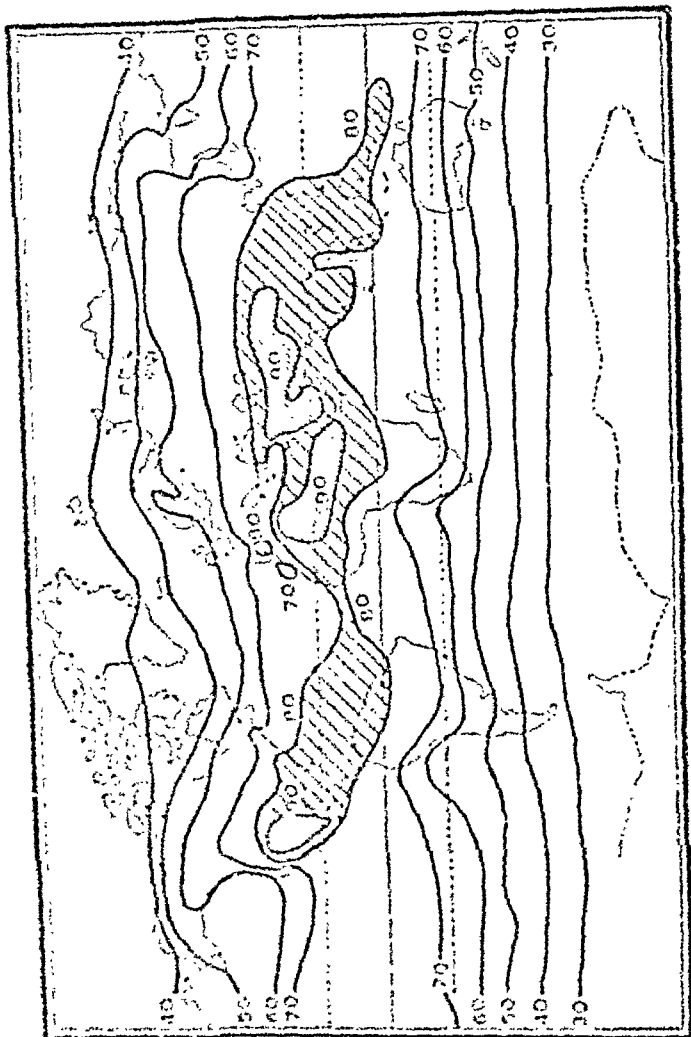
चित्र २५—जुलाई का तापक्रम, अं. फा.

इन चित्रों में समताप रेखायें लगभग पूर्व पश्चिम की दिशा में फैली हैं। इसका तात्पर्य यह है कि तापक्रम को प्रधान निर्धारक अक्षांश रेखा ही हैं; क्योंकि अक्षांश रेखा के अनुसार ही पृथ्वी पर सौर्यिक शक्ति मिलती है। समताप रेखायें और अक्षांश रेखायें केवल स्थानीय कारणों से समानान्तर नहीं हो पाती हैं। ये स्थानीय कारण जल की अपेक्षा थल पर अधिक बलवान होते हैं; और इसीलिये थल पर समताप रेखायें टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं, और जल पर लगभग सीधी।

पृथ्वी के तापखंड

प्राचीन समय में यूनानियों ने धरातल पर तापक्रम के वार्षिक अन्तर के अनुसार पृथ्वी के कई तापखंड (थर्मल जोन) किये थे। इन खंडों की सीमायें अक्षांश रेखायें मानी गई थीं। ये खंड निम्न प्रकार से किये गये थे :—

१. उष्ण खंड (टारिड जोन); २३॥ अक्षांश उत्तर और २३॥ अक्षांश दक्षिण के मध्य भाग; अर्थात् कर्क और मकर रेखा के मध्य।

२. शीतोष्ण खंड (टेम्परेट जोन), दोनों गोलार्द्ध में २३॥ और ६६॥ अक्षांशों के मध्य।

३. शीतखंड (फ्रिजिड जोन); दोनों गोलार्द्ध में ६६॥ अक्षांश से ध्रुव तक।

परन्तु आजकल इन खंडों को समताप रेखाओं से सीमित किया जाता है। उष्ण खंड की सीमा ६८ अं० फा० वार्षिक तापक्रम की रेखा मानी जाती है; और शीत-खंड तथा शीतोष्ण खंड के बीच की सीमा ५० अं० फा. ग्रीष्म ऋतु के तापक्रम की रेखा है। इन सीमाओं को नियत करने वाले सूपान नामक एक जर्मन पंडित थे। नीचे दिये हुए चित्र में इन खंडों को दिखाया गया है :—
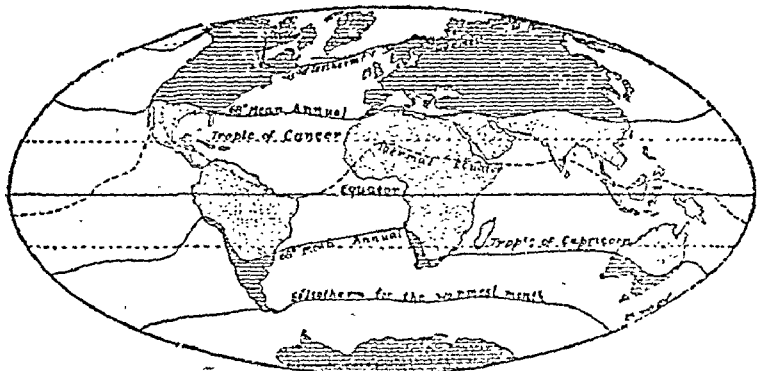
चित्र २६—पृथ्वी के तापखंड

समताप रेखाओं से सीमित तापखंडों की मध्यवर्ती रेखा को तापक्रम की विषुवत्

रेखा (थर्मल एक्वेटर) कहते हैं। तापक्रम की विषुवत् रेखा एक समताप रेखा (आइसोथर्म) है। इस रेखा पर पृथ्वी के उच्चतम वार्षिक तापक्रम होते हैं। इसीलिये यह रेखा भूमध्यरेखा के कभी उत्तर तथा कभी उसके दक्षिण होती है; क्योंकि सूर्य की अधिक ऊँचाई कभी उत्तरी गोलार्द्ध में और कभी दक्षिणी गोलार्द्ध में होती है, जिससे उच्चतम वार्षिक तापक्रम भूमध्यरेखा के उत्तर तथा दक्षिण होता रहता है।

आटो टेटेन्स नामक एक विद्वान् इस रेखा को ऋतु रेखा (मीट्रियोलोजिकल विषुवत् रेखा) कहते हैं। यह रेखा उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध की तापक्रम पद्धतियों की सीमा है जो सूर्य के साथ भूमध्यरेखा के कभी उत्तर और कभी दक्षिण होती रहती है। टेटेन्स के अनुसार इस रेखा पर जनवरी और जूलाई के ताप बराबर होते हैं। यदि ५ अंश का कोण बनाते हुये ९० अंश देशान्तर रेखा पर भूमध्यरेखा को काटते हुये एक विशाल वृत्त (ग्रेट सर्किल) खींचा जाय, तो ऋतु-रेखा उस वृत्त के १ अंश ऊपर स्थित होगी।

तापक्रम की समानता

यदि वर्ष-प्रतिवर्ष का तापक्रम देखा जाय तो यह विदित होता है कि वास्तव में पृथ्वी की धरातल के तापक्रम में बहुत बड़ी समानता है। दीर्घकालीन तापक्रम में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:—

१. पृथ्वी के परिक्रमा-पथ में इतना कम टेढ़ापन है कि उसे लगभग वृत्ताकार ही समझना चाहिये। इस कारण वर्ष भर लगभग एक ही समान सौर्य-शक्ति पृथ्वी पर आती है। इस पथ पर जब १ जनवरी को पृथ्वी सूर्य के निकटतम होती है, उस समय अन्य समयों की अपेक्षा, केवल ४ प्रतिशत ही अधिक सौर्य शक्ति पृथ्वी को मिलती है। अर्थात् आने वाली सौर्य शक्ति व्यावहारिक दृष्टि से, सदा समान रहती है।

२. दिन के बाद रात्रि, और रात्रि के बाद दिन; तथा ग्रीष्म के बाद शीत, और शीत के बाद फिर ग्रीष्म का तारतम्य बँधा हुआ है। इससे दिन अथवा ग्रीष्म का अधिक ताप रात्रि में अथवा शीतकाल में निकल जाता है, और इसलिये दूसरे दिन फिर पूर्ववत् ताप बढ़ता है। ऐसी दशा में ताप का अधिकाधिक बढ़ जाना अथवा घट जाना असंभव है।

३. वायुमंडल का आवरण तापक्रम के असाधारण बढ़ने अथवा घटने को रोकता है। जब धरातल पर अधिक ताप हो जाता है तो उस अधिकता को वायुमंडल स्वयं ले लेता है और धीरे-धीरे निकालता है। जब धरातल पर ताप में विशेष कमी हो जाती है, तब वायुमंडल अपना ताप उसे दे देता है जिससे धरातल के तापक्रम में नियत समानता बनी रहती है।

४. पृथ्वी का जल भी इस समानता को बनाये रखने में सहायता करता है। धरातल के ताप की कमी जल में सुरक्षित ताप से होती है, और उसकी अधिकता जल में सुरक्षित हो जाती है।

सूर्य के धब्बे और तापक्रम

सूर्य प्रज्वलित गैस का एक भंडार है। उसमें कुछ धब्बे दिखलाई देते हैं जिनको रवि-कालिमा (सन-स्पाट) कहते हैं। इन्हीं धब्बों से सूर्य की शक्ति प्रसारित होती है। ये धब्बे बनते-बिगड़ते रहते हैं, जिससे कभी इनकी संख्या कम होती है, और कभी अधिक। जब इनकी संख्या अधिक होती है, तब पृथ्वी पर आने वाली सौर्य-शक्ति अधिक होती है क्योंकि उस समय धब्बों की संख्या अधिक होने के कारण सूर्य से अधिक मात्रा में शक्ति निकलती है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि जिस समय पृथ्वी पर अधिक सौर्य-शक्ति आती है, उस समय पृथ्वी पर न्यून तापक्रम हो जाता है। 'जितना ही उष्ण सूर्य, उतनी ही शीतल पृथ्वी' यह संसार की एक विचित्रता है।

पहले-पहल इस विचित्रता की ओर ध्यान आकर्षित करने वाले महाशय फादर रिचिओली एक ईसाई पुजारी थे। सन् १६५१ में इन्हों ने यह बतलाया कि सूर्य के धब्बों की अधिकता के समय पृथ्वी का तापक्रम कम हो जाता है और उनमें कमी होने पर यहाँ का तापक्रम बढ़ जाता है। सन् १८०१ में हर्शल नामक एक दूसरे विद्वान् ने भी इसकी पुष्टि की। सन् १९३४ में क्लेपन ने इस बात को सिद्ध भी कर दिया। एबट की खोजों से भी यही सिद्ध होता है।

नीचे दिये हुये चित्र में क्लेटन की खोज का विवरण है :—
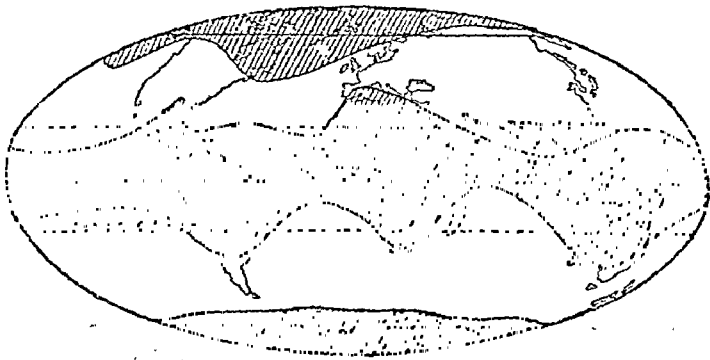
चित्र २७—सूर्य के धब्बे और ताप

इस चित्र में पृथ्वी के तापक्रम पर सौर्य शक्ति का प्रभाव दिखाया गया है। काले भाग वे हैं जहाँ पर धब्बों की वृद्धि के साथ-साथ पृथ्वी पर ताप में भी वृद्धि होती है; और सफेद भाग वे हैं जहाँ पर धब्बों की वृद्धि के समय पृथ्वी पर ताप में कमी होती है। अर्थात् पूरी पृथ्वी पर धब्बों का प्रभाव एक समान नहीं पड़ता है। परन्तु यह निष्कर्ष धब्बों के केवल

पंच दिवसीय औसत अर्थात् लघुकालीन अवस्था के अध्ययन से ही निकाला गया है।

इस विचित्रता के अनेक कारण बताये गये हैं; जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :—

१. अधिक सौर्य शक्ति के कारण पानी से भाप अधिक बनती है और उससे बादल बनते हैं। बादलों की अधिकता के कारण आने वाली सौर्य-शक्ति में कमी हो जाती है, और इसलिये पृथ्वी का तापक्रम नीचा हो जाता है।

२. समुद्र की धाराओं में कुछ ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि जिससे नीचे का ठंडा जल विशेष रूप से ऊपर आ जाता है। इस ठंडे जल की प्रधानता के कारण तापक्रम में कमी आ जाती है।

३. अधिक सौर्य-शक्ति आने से वायुमंडल में स्थित ओजोन नामक गैस में कमी हो जाती है। साधारणतया यह गैस पृथ्वी के ताप को सुरक्षित रखती है। इस गैस की कमी हो आने से पृथ्वी का ताप कम हो जाता है। जब धब्बे कम होते हैं, तब इस गैस की अधिकता हो जाती है, जिससे पृथ्वी का ताप बाहर नहीं निकलने पाता है; और इसलिए उस समय पृथ्वी का तापक्रम ऊँचा हो जाता है।

४. अधिक धब्बों के समय पृथ्वी के वायुमंडल में कुछ ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जिनसे पृथ्वी की गरम वायु यकायक अधिक ऊँचाई पर चली जाती है, और इस प्रकार धरातल का तापक्रम नीचा हो जाता है।

अध्याय ५

वायुभार तथा वायु-संचालन

ऊपर वर्णन किया गया है कि वायु कई प्रकार की गैसों से बनी है। इन गैसों के अतिरिक्त उसमें वाष्प और मिट्टी के बहुत ही महीन कण भी मिले रहते हैं। इन सब वस्तुओं में भार होता है; यद्यपि यह भार बहुत ही थोड़ा होता है। पृथ्वी की धरातल पर लगभग ८०० मील की ऊँचाई तक वायुमंडल फैला हुआ है; परन्तु इतना विस्तार* होते हुये भी समुद्रतट पर प्रति वर्ग इंच पर वायु का पूरा भार केवल साढ़े सात सेर (१४.७ पौंड) ही है। जिस वायु को हम देख नहीं सकते हैं, और न उसका स्पर्श अनुभव करते हैं, यथार्थ में उसका ३ मन से अधिक बोझ हम अपने सर पर हमेशा लिये हुए चलते हैं। एक छोटा बच्चा और एक बुड्ढा भी अपने सर पर इतना भारी बोझ लादे हुये है। इतना भारी बोझ होते हुए भी हमें उसका ज्ञान नहीं होता है; क्योंकि वायु का बोझ हमारे शरीर पर चारों ओर से समान रूप से पड़ता है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि वायु में बोझ नहीं है। पृथ्वी की अन्य सभी वस्तुओं की भाँति वायु में भी भार अर्थात् बोझ है।

वायु का अधिकतर भार उसके नीचे के भाग में होता है। ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़िये, त्यों-त्यों यह भार कम होता जाता है। लगभग साढ़े सत्तरह हजार फुट की ऊँचाई पर यदि आप खड़े हों तो वायु का लगभग आधा भार आपके पैरों के नीचे होगा। यदि आप १८ मील ऊँचाई पर पहुँच जायँ तो लगभग ९७ प्रतिशत वायु-भार आप के नीचे होगा। अर्थात् आपके ऊपर शेष ७८२ मील की ऊँचाई में वायु का केवल ३ प्रतिशत भार ही रह जाता है। इसका कारण यह है कि वायु की जितनी भी अधिक भार वाली गैसें हैं, वे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण धरातल की ओर खिंच जाती हैं; जिससे धरातल पर वायु का भार सबसे अधिक होता है।

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के प्रभाव के कारण तथा वायु के नीचे भाग में जलवाष्प और मिट्टी के कणों की अधिकता के कारण ही धरातल के निकट, साधारण अवस्था में, वायु का भार सबसे अधिक होता है। धरातल से ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते जाइये, त्यों-त्यों भार में कमी होती जाती है। निम्नलिखित तालिका में ऊँचाई के अनुसार वायु की साधारण दशा का भार दिया गया है :—

---

*पूरे वायुमंडल का भार $= ११.२६ \times १०^{१८}$ पौंड।

ऊँचाई फुट	भार, मिलीबार (मब)	तापमान से० अंश
समुद्रतल	१०१३	१५
३७०	१०००	१४.३
१७८०	९५०	११.५
३२४०	९००	८.६
८०८०	७५०	—१

(यू० एस० स्टैन्डर्ड)

वायु पर ताप का बहुत घनिष्ठ प्रभाव पड़ता है। ताप बढ़ जाने से वायु का घनफल बढ़ जाता है, जिससे वायु का भार कम हो जाता है। ताप घटने से वायु का घनत्व कम हो जाता है, और इससे वायु का भार अधिक हो जाता है। इस प्रकार ताप के घटने-बढ़ने से ही वायु के भार में बढ़ना-घटना होता है। अर्थात् जब थर्मामिटर ऊँचा, तब बैरोमिटर नीचा; और जब थर्मामीटर नीचा, तब बैरोमिटर ऊँचा होता है। ताप और वायुभार में प्रतिकूल संबंध पाया जाता है।

अधिक ताप के कारण धरातल पर वायु के भार में जो कमी होती है उसका वास्तविक कारण वायु में संवाहक तरंगों का उत्पन्न हो जाना है। इन तरंगों से नीचे की अधिकतर वायु ऊपर उठ जाती है जिससे धरातल पर वायु का भार कम हो जाता है। धरातल पर जब ताप नीचा हो जाता है, तब वायु सिकुड़ जाती है; और इस प्रकार ऊपर की वायु नीचे उतर आती है। इससे धरातल पर वायु का भार बढ़ जाता है।

पीछे कहा गया है कि धरातल पर तापमान कभी भी स्थिर नहीं रहता है; क्योंकि पृथ्वी पर आनेवाली सौर्यिक शक्ति कभी स्थिर नहीं रहती है। तापमान के स्थिर न रहने के कारण वायु का भार भी कभी स्थिर नहीं रह सकता है।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि वायु में भार है; परन्तु वह कभी स्थिर नहीं रहता है।

केवल वायु के ताप के कारण ही उसका भार नहीं बदलता है, वरन् पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण भी। पृथ्वी के केन्द्र पर यह आकर्षण शक्ति है। इस आकर्षण शक्ति के प्रभाव से पृथ्वी की प्रत्येक वस्तु उसके केन्द्र की ओर आकर्षित होती है। इसी आकर्षण शक्ति के कारण ही पृथ्वी पर चलने वाली सभी वस्तुएँ धरातल से दूर नहीं हो सकती हैं।

इस आकर्षण शक्ति का प्रभाव वायुमंडल पर विशेष रूप से पड़ता है। विषुवत् रेखा पर अधिक ताप के कारण ऊपर उठी हुई वायु, इसलिये मध्य अक्षांशों में मकर और कर्क रेखाओं के निकट एकत्रित हो जाती है। आकर्षण शक्ति के प्रभाव के कारण ऊपर

नीचे खिसक जाता है और वायुभार बढ़ने पर ऊपर खिसक जाता है। बैरोमीटर के इस पारे के ऊपर-नीचे होने से ही वायु भार के परिवर्तन का ज्ञान हमको पहले-पहल होता है।

दैनिक परिवर्तन

रात्रि में जब सूर्य की गर्मी का अभाव रहता है तब वायु भार कुछ अधिक होता है और दिन में जब हमको सूर्य की गर्मी मिलती है तब वायुभार कुछ कम रहता है। परन्तु जैसा कि ताप के संबंध में ऊपर वर्णन किया गया है, सूर्य की गर्मी का सबसे अधिक प्रभाव मध्याह्न के उपरान्त ही होता है। यह प्रभाव संध्या से लेकर रात्रि के प्रथम भाग तक बना रहता है। अर्द्धरात्रि से लेकर दिन के पहले भाग तक सूर्य की गर्मी का प्रभाव बहुत कम होता है। सूर्य की गर्मी के परिवर्तन के अनुसार ही बैरोमीटर भी नीचे-ऊपर होता रहता है; अर्थात् वायुभार कम अथवा अधिक होता है। नीचे दिये हुए चित्र में दिन और रात्रि का वायुभार परिवर्तन दिखलाया गया है। इस चित्र को देखने से यह ज्ञात होता है कि ज्यों-ज्यों वायु तापमापक यंत्र थर्मामीटर, का पारा ऊपर उठता है, त्यों-त्यों वायु भार मापक यंत्र, बैरोमीटर का पारा नीचे गिरता है। अर्थात् थर्मामीटर और बैरोमीटर का परस्पर प्रतिकूल संबंध है। थर्मामीटर ऊँचा, बैरोमीटर नीचा; और थर्मामीटर नीचा, बैरोमीटर ऊँचा।
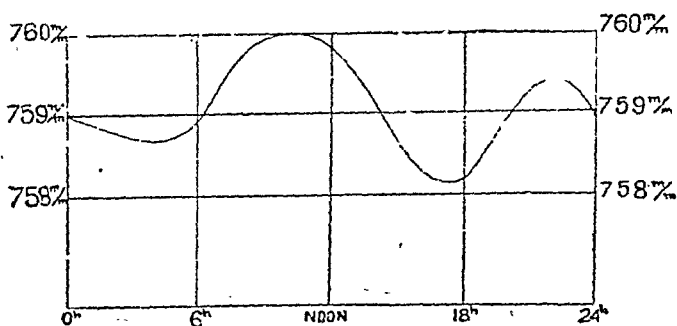
चित्र २९—दैनिक वायुभार

ऊपर के चित्र से यह विदित होता है कि रात्रि के लगभग दस बजे से प्रातः चार बजे तक बैरोमीटर नीचे गिरता जाता है। इसी प्रकार दिन के लगभग दस बजे से चार बजे तक भी बैरोमीटर नीचे गिरता है। प्रातः चार बजे से दिन के दस बजे तक तथा संध्या के चार बजे से लेकर रात्रि के दस बजे तक बैरोमीटर ऊपर उठता है। ऊपर के चित्र से बैरोमीटर के गिरने व उठने की रेखा का ताप रेखा से घनिष्ठ संबंध स्पष्ट हो जाता है। बैरोमीटर के गिरने व उठने को बैरोमीटर का ज्वार-भाटा (टाइड) भी कहते हैं।

विषुवत् रेखा से दूरी बढ़ने पर बैरोमीटर का यह ज्वार-भाटा कम हो जाता है, यद्यपि

उसका प्रभाव ६०° उत्तरी और दक्षिणी अक्षांश तक दिखाई देता है। अर्थात् वायुभार का दैनिक परिवर्तन विषुवत्-रेखीय प्रान्तों में ही अधिक होता है, शीतोष्ण खंड में कम।

इसके अतिरिक्त दिन में थल के भीतरी भागों में वायु भार के उच्चतम तथा न्यूनतम बिन्दुओं में अधिक अन्तर होता है। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि स्थल के प्रभाव के कारण उच्चतम और न्यूनतम ताप बिन्दुओं में भी ऐसा ही अधिक अन्तर रहता है। इसके विपरीत समुद्र के निकटवर्ती स्थानों में रात्रि के उच्चतम और न्यूनतम वायु भार बिन्दुओं में अधिक अन्तर पाया जाता है, क्योंकि स्थल की अपेक्षा समुद्र जल पर ताप का प्रभाव देर में होता है।

पर्वतों पर स्थित वायु भार मैदानों के वायु भार के बिलकुल विपरीत होता है। दिन में जब मैदान अधिक तप्त हो जाता है और इसलिए वहाँ का वायु भार न्यून हो जाता है, उस समय पर्वत पर वायु भार अधिक होता है; क्योंकि मैदान की उठी हुई हवा पर्वत पर स्थित हवा की मात्रा को बढ़ा देती है, और इसलिए वहाँ का वायुभार अधिक हो जाता है। रात्रि में मैदान ठंडा हो जाता है जिससे वहाँ की वायु सिकुड़ जाती और इसलिए पर्वतों से कुछ वायु नीचे खिसक आती है, जिसके कारण रात्रि में साधारणतया मैदानों में पर्वतों की अपेक्षा, वायुभार अधिक होता है।

परन्तु अधिक ऊँचाई पर दिन व रात्रि के ताप परिवर्तनों के कारण वायु भार में प्रायः कोई अन्तर नहीं होता है। रात्रि व दिन के ताप परिवर्तन का प्रभाव धरातल के निकटवर्ती वायु में ही सीमित रहता है।

वायु भार का ऋतुवत् (सीज़नल) परिवर्तन

वायु भार का ऋतुवत् परिवर्तन उसके दैनिक परिवर्तन की अपेक्षा अधिक महत्वशाली होता है। इस ऋतुवत परिवर्तन में वायुमंडल का एक बहुत ही अधिक भाग प्रभावित हो जाता है, जिसमे न केवल धरातल पर सहस्रों वर्गमील में वायु भार परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है, वरन् वायुमंडल के ऊँचे भागों में भी यह प्रभाव दिखलाई देता है। इसी ऋतु परिवर्तन के कारण ही सहस्रों मील दूर स्थित स्थल के भीतरी भागों में समुद्र की वायु प्रवेश करती है, अथवा मरुभूमि की शुष्क वायु अधिक से अधिक दूरी में अपना प्रभाव डालती है। यथार्थ में, वायु-राशि (एअर मास) का स्थान परिवर्तन इसी ऋतु परिवर्तन के कारण ही होता है। ऐसा अनुमान है कि ऋतु परिवर्तन में लगभग १० लाख करोड़ टन वायु पृथ्वी के एक गोलार्द्ध से दूसरे गोलार्द्ध में जाती है।

जाड़े की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में वायु भार कम होता है। परन्तु वायु-राशि के आगमन से ग्रीष्म ऋतु में भी, अधिक ताप होते हुए भी, अधिक वायु भार वाली वायु प्रवेश कर सकती है, और इसलिए ग्रीष्म ऋतु में भी स्थल पर अधिक वायु भार होता है।

स्थल की अपेक्षा समुद्र पर जाड़े की ऋतु में वायु भार कम होता है; परन्तु यहाँ पर भी वायु-राशि के आगमन से अधिक वायुभार हो सकता है। थल और जल के तापक्रमों

की विभिन्नता के कारण वायु भार की विभिन्नता ऋतु परिवर्तन में अधिक दिखलाई देती है।

पृथ्वी के ऋतु संबंधी वायु भार के देखने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि थल और जल की मौलिक विभिन्नता के कारण पीछे दिए हुए चित्र में (चित्र २८) दिखाई हुई आदर्श वायु भार की पेटियाँ असंभव हैं। यथार्थ में पृथ्वी पर वायु भार लगातार पेटियों में होने की अपेक्षा खंडित भागों में पाया जाता है। इन भागों को "वायु भार के केन्द्र" कहते हैं। इन केंद्रों का संबंध कुछ अंश तक पृथ्वी के अक्षांशों से है, क्योंकि वास्तव में पृथ्वी का ताप अक्षांश पर ही निर्भर है।

ऋतुवत वायुभार के चित्र को देखने से यह ज्ञात होता है कि विषुवत् रेखा के उत्तर व दक्षिण सूर्य के खिसकने से अधिक व न्यून वायुभार वाले क्षेत्र अधिकतर संबंधित हैं। ग्रीष्म ऋतु में जब सूर्य विपुवत रेखा के उत्तर में अधिक ऊँचा होता है उस समय विपुवत् रेखीय न्यून वायुभार वाली शांत पेटी उत्तरी गोलार्द्ध की ओर खिसक आती है। इसी प्रकार अन्य पेटियाँ भी उत्तर की ओर खिसक जाती हैं। परन्तु हमारी शीत ऋतु में सूर्य विपुवत् रेखा के दक्षिण, दक्षिणी गोलार्द्ध में, ऊँचा होता है। इसीलिये इस ऋतु में विपुवत् रेखा की शाँत पेटी दक्षिण की ओर खिसक जाती है। इसका अनुसरण वायुभार अन्य पेटियाँ भी करती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भिन्न-भिन्न पेटियों की सीमा वाले क्षेत्रों में कभी अधिक वायु भार वाली पेटी का प्रभाव होता है, और कभी न्यून वायु भार वाली पेटी का। उदाहरण के लिए कर्क और मकर रेखा के समीपवर्ती क्षेत्रों में ग्रीष्म ऋतु में न्यून वायुभार होता है, और शीत ऋतु में अधिक वायुभार इसी प्रकार, मध्यवर्ती अक्षांशों में ग्रीष्म ऋतु में न्यून वायुभार वाली पेटी ध्रुव की ओर खिसक जाती है, और शीत ऋतु में विपुवत रेखा की ओर खिसक जाती है।

विपुवत रेखा के उत्तर-दक्षिण सूर्य की सीधी किरणों के हटने का प्रभाव गोलार्द्धों के स्थली भागों पर अधिक होता है। ग्रीष्म में ये भाग अधिक तप्त हो जाते हैं, और इसलिए प्रायः न्यून वायुभार वाले क्षेत्र होते हैं। शीत ऋतु में, इसके विपरीत, स्थली भाग ठंडे हो जाते हैं, जिससे वहाँ का वायुभार अधिक हो जाता है; अर्थात् विपुवत् रेखा के उत्तर दक्षिण सूर्य के खिसकने के कारण निम्नलिखित दो परिणाम होते हैं:—

१. वायु भार की पेटियों का खिसकना;

२. स्थली भागों में ग्रीष्म व शीत ऋतु में प्रतिकूल वायु भार, ग्रीष्म में न्यून तथा शीत ऋतु में अधिक वायुभार का होना।

उत्तरी गोलार्द्ध में स्थली भाग दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक है। वहाँ पर क्षेत्रफल का लगभग ३९ प्रतिशत जल है, और लगभग ६१ प्रतिशत थल। यूरेशिया जैसा वृहत् स्थल खण्ड इसी गोलार्द्ध में है। वायुभार पर इस स्थल खण्ड का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। ग्रीष्म में यह भाग इतना तप्त हो जाता है कि इस ऋतु में वहाँ पर

कर्क रेखा के निकट स्थित अधिक वायु भार वाली पेटी पूर्णतया नष्ट हो जाती है। परन्तु शीत ऋतु में यह स्थल खंड इतना अधिक ठंडा हो जाता है कि कर्क रेखा की अधिक वायु भार वाली पेटी फैल कर लगभग पूरे मध्य यूरेशिया को छाप लेती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में क्षेत्रफल का लगभग १९ प्रतिशत स्थली भाग है और लगभग ८१ प्रतिशत जल। इस गोलार्द्ध का वायु भार जल से अधिक प्रभावित्त रहता है; अर्थात् यहाँ पर ऋतुओं के परिवर्तन से वायु भार में ऐसी उथल-पुथल नहीं होती है जैसी कि उत्तरी गोलार्द्ध में। इस गोलार्द्ध की वायु भार की पेटियाँ प्रायः अक्षांशों के समानान्तर होती हैं। परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में ये पेटियाँ अक्षांशों की दिशा के विपरीत, लगभग उत्तर दक्षिण की दिशा में फैलती हैं।

अगले चित्र में पृथ्वी का शीत ऋतु का वायु भार दिखाया गया है। अधिक और न्यून वायु भार वाले क्षेत्र अलग-अलग टुकड़ियों में दिखलाये गये हैं। सबसे अधिक वायु भारवाले क्षेत्र यूरेशिया के मध्य में स्थित हैं। इस समय यहाँ का वायु भार लगभग ७७८ मिलीमीटर रहता है। अधिक वायु भार वाले अन्य क्षेत्र अटलांटिक महासागर तथा प्रशांत महासागर में लगभग ३०° उत्तरी अक्षांश में मिलते हैं। इस ऋतु में दक्षिणी गोलार्द्ध में अधिक वायु भार प्रशांत महासागर में दक्षिणी अमेरिका के पश्चिम में; अटलांटिक महासागर में, दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिम में और हिन्द महासागर में आस्ट्रेलिया के पश्चिम में स्थित हैं। इस समय न्यून वायु भार इसी गोलार्द्ध में एन्टार्कटिक में पाया जाता है। वहाँ पर इस समय वायु भार लगभग ७४० मिलीमीटर होता है। परन्तु इस ऋतु का न्यून वायु भार वाला सबसे बड़ा क्षेत्र विषुवत रेखा के निकट स्थली भागों में होता है; अर्थात् दक्षिणी अमेरिका का भीतरी भाग, अफ्रीका का भीतरी भाग, और पूर्वी द्वीप समूह। न्यून वायु भार के अन्य क्षेत्र इस समय उत्तरी एटलांटिक महासागर में आइसलैंड के निकट, तथा उत्तरी प्रशान्त महासागर में एलिशयन द्वीप के निकट मिलते हैं।
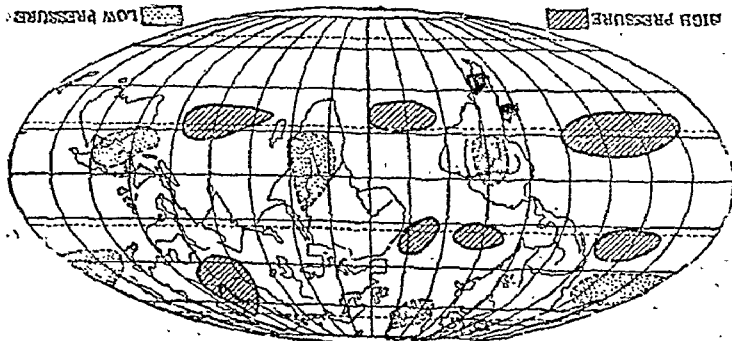
चित्र ३०—शीत ऋतु का वायुभार

अगले चित्र में ग्रीष्म ऋतु का वायु भार दिखलाया गया है। इस समय दक्षिणी गोलार्द्ध में वायु भार में अधिक वृद्धि हो जाती है। ३०° दक्षिणी अक्षांश के निकट वायु भार लगभग ७६७ मिलीमीटर हो जाता है। इसी समय उत्तरी गोलार्द्ध में अटलांटिक महासागर में अजोर्स द्वीप के निकट तथा प्रशांत महासागर में उत्तरी अमेरिका के पश्चिम में अधिक वायु-भार वाला क्षेत्र मिलता है। इस ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक वायु भार वाला क्षेत्र प्रायः समुद्र पर ही सीमित है। उत्तरी गोलार्द्ध के स्थली भाग, विशेषकर यूरेशिया के मध्य भाग में न्यून वायुभार होता है। यूरेशिया में इस समय वायु भार लगभग ७४६ मिली मीटर होता है। न्यून वायुभार के अन्य क्षेत्र आइसलैंड द्वीप के निकट, कैनेडा के उत्तरी भाग में, स्पेन में तथा पो नदी की घाटी में है।
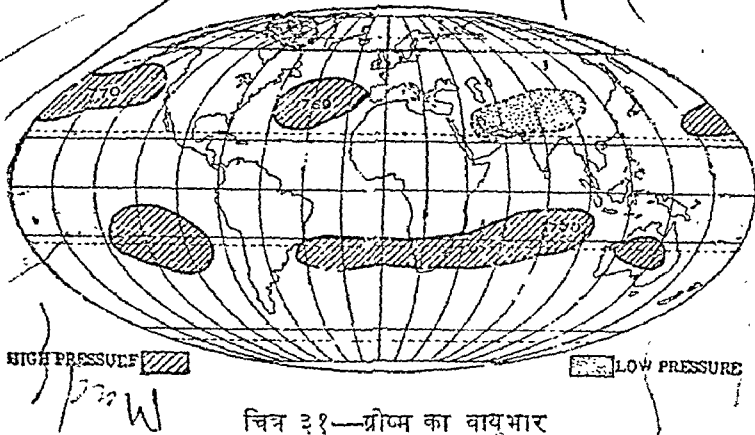
चित्र ३१—ग्रीष्म का वायुभार

ऊपर दिये हुए दोनों चित्रों को देखने से यह स्पष्ट है कि वायु भार की कुछ पेटियाँ स्थायी हैं। ऋतु परिवर्तन का प्रभाव केवल इनके क्षेत्र को घटा-बढ़ा देता है; इनके स्थान को नहीं हटाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में ऐसे स्थायी क्षेत्र केवल जल पर ही हैं; जैसे अजोर्स द्वीप का अधिक भार वाला क्षेत्र, तथा आइसलैण्ड का न्यून भार वाला क्षेत्र। जल-वायु पर इन दोनों क्षेत्रों का महत्व आगे चल कर बतलाया जायगा। ऊपर दिए हुए दो चित्रों को देखने से इस प्रकार के अन्य स्थायी क्षेत्र देखे जा सकते हैं।

वायु-वहन (पवन)

तरल पदार्थ की भाँति अधिक वायुभार की ओर से न्यून वायुभार की ओर वायु स्वभावतः बहने लगती है। प्रकृति का नियम है कि जहाँ कहीं भिन्न भार वाले तरल पदार्थ निकट-निकट होते हैं, वहाँ उनके भारों में समान की प्रवृत्ति होती है। इस नियम के अनुकूल अधिक वायुभार वाले स्थान से न्यून वायुभार वाले स्थानों की ओर वायु बहने लगती है। प्रकृति के इस नियम को 'बाइज बैलट्स ला' और

वायु के इस वहन को 'पवन' कहते हैं; परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि पवन में वायु का वही वहन सम्मिलित किया जाता है जो पृथ्वी के धरातल के समानान्तर, अर्थात पड़े रूप में होता है। ऊपर-नीचे वहने वाली वायु को पवन नहीं कहते हैं; क्योंकि इस वहन को हमारा शरीर स्पर्श नहीं कर सकता है। पवन में वायु हमारे शरीर के प्रतिकूल चलता है, और इसलिए हमको उसका ज्ञान तत्काल हो जाता है। इसी प्रकार सीधे खड़े हुए वृक्षों में भी प्रतिकूल पवन के द्वारा पत्तियाँ तथा डालें इत्यादि हिलने लगती हैं।

चित्रों २८ में वायुभार की जो पेटियाँ दिखाई गई हैं, वे ही पृथ्वी पर वायु वहन अथवा पवन का आरंभ करती हैं। इन पेटियों में से अश्वपेटियों से, अधिक वायुभार होने के कारण, विपुवत् रेखा की ओर न्यून वायुभार वाली पेटी के लिए वायु वहने लगती है। इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर की ओर स्थित, तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण की ओर स्थित न्यून वायु भार वाली पेटियों की ओर इन्हीं अश्व पेटियों से शीतोष्ण खंड में उत्तर अथवा दक्षिण की ओर वायु वहती है। ध्रुवों पर स्थित अधिक वायु भार वाले क्षेत्रों से भी शीतोष्ण खंड वाले न्यून वायु भार वाली पेटियों को वायु वहन होता है।

यह वायु वहन उत्तर से दक्षिण, अथवा दक्षिण से उत्तर की दिशा में होने की आशा की जाती थी। परन्तु दैनिक गति तथा आकर्षण शक्ति के कारण पृथ्वी अपनी धुरी पर सदैव पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती रहती है। इसके फलस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध में सभी चलने वाली वस्तुएँ अपनी दाहिनी ओर मुड़ जाती हैं; और दक्षिणी गोलार्द्ध में चलने वाली वस्तुएँ अपनी बाईं ओर मुड़ जाती हैं; अर्थात् पृथ्वी पर वायु वहन की दिशा प्रारंभिक दिशा नहीं रह पाती है। पृथ्वी की गति के कारण उसमें परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन ऊपर बताई हुई पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण है, जिसका विकास अन्य स्थानों की अपेक्षा ध्रुवों पर सबसे अधिक दिखलाई पड़ता है। चलती हुई वस्तुओं की दिशा में पृथ्वी की दैनिक गति के कारण परिवर्तन होने की खोज पहले पहल फेरेल नामक विज्ञानवेत्ता ने की थी। इसीलिए प्रकृति के इस नियम को फेरेल का नियम कहते हैं।

फेरेल का नियम समझने के लिये यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विपुवत् रेखा से ध्रुव की ओर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाइये त्यों-त्यों अक्षांशवृत्तों की लम्बाई कम होती जाती है, क्योंकि पृथ्वी गेंदाकार लगभग गोल है। परन्तु पृथ्वी की दैनिक गति में सभी वृत्तों पर लगभग २४ घंटे लगते हैं; अर्थात् विपुवत् रेखा पर इन २४ घंटों में पृथ्वी लगभग २५००० मील चलती है, परन्तु ध्रुव पर केवल शून्य। तात्पर्य यह है कि ध्रुव के निकट चलने वाली सभी वस्तुओं की गति विपुवत् रेखा के निकट वाली वस्तुओं की गति की अपेक्षा धीमी होती है; अर्थात् ध्रुव से विपुवत रेखा पर स्थित किसी स्थान के लिए आने वाली वायु जब तक विपुवत् रेखा तक आती है, तब तक विपुवत् रेखा पर अधिक गति होने के कारण वह स्थान इस वायु के आगे हो जाता है। दूसरे शब्दों में, यह वायु उस स्थान के दाहिनी

ओर पड़ जाती है। इसी प्रकार विषुवत् रेखा से ध्रुव की ओर चलने वाली वायु अपनी तीव्रगति के कारण ध्रुव की ओर स्थित स्थान से आगे हो जाती है; अर्थात् उस स्थान के दाहिनी ओर हो जाती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसके विपरीत होता है; क्योंकि वहाँ ध्रुव विषुवत रेखा के दक्षिण की ओर स्थित है।

फेरेल के नियम के अनुसार जो पवन पृथ्वी पर चलती हैं और भिन्न-भिन्न वायु-भार की पेटियों से उनका संबंध नीचे दिए हुए चित्र में दिखलाया गया है।
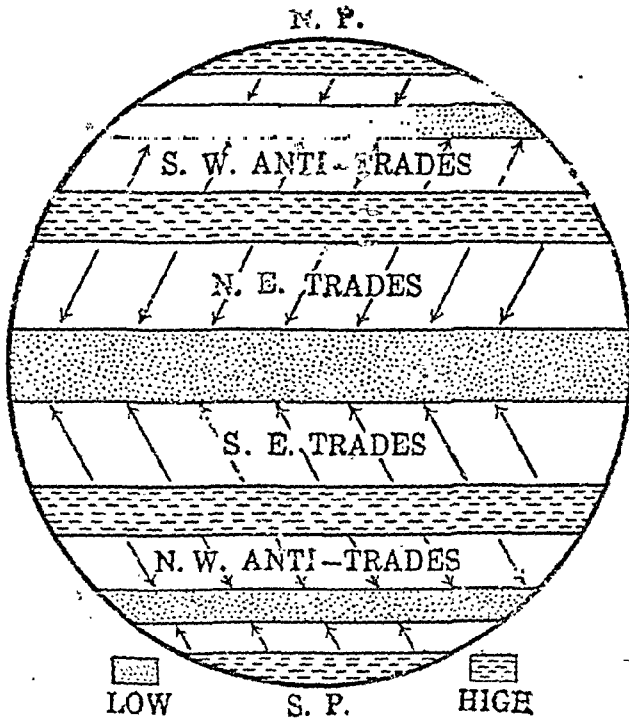
चित्र ३२—धरातली पवनें

ऊपर दी हुई पवनें जिनकी दिशा फेरेल के नियम के अनुसार परिवर्तन हो जाती है 'धरातली पवन' (प्लेनेटरी विन्ड) कहलाती हैं। इन धरातली पवनों के भिन्न-भिन्न नाम ऊपर दिये हुए चित्र में दिये गए हैं और वे निम्न प्रकार हैं: उत्तरी गोलार्द्ध में १—उत्तरी पूर्वी व्यापारिक पवन, २—दक्षिण-पश्चिमी पवन, ३—उत्तर-पूर्वी पवन। दक्षिणी गोलार्द्ध में १—दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक पवन, २—उत्तर-पश्चिमी पवन, ३—दक्षिण पूर्वी पवन।

पवनों का नाम प्रायः जिस दिशा से वे आती हैं उसी पर रक्खे जाते हैं जैसे उत्तर-पूर्वी व्यापारिक पवन उत्तरी-पूर्व की दिशा से आती है।
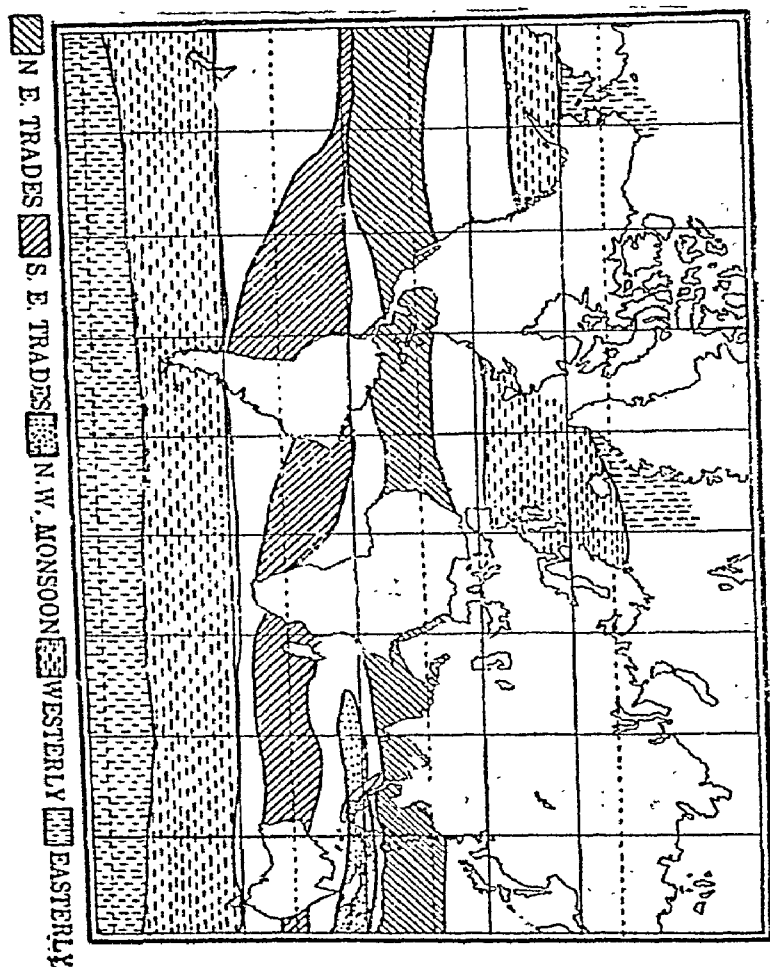
चित्र ३३—ग्रीष्म ऋतु की पवनें

चित्र नं० ३३ और ३४ में ग्रीष्म व शीत ऋतु में चलने वाली पवनों के वास्तविक क्षेत्र दिखाये गये हैं :—

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, धरातली पवनों के क्षेत्र सूर्य के साथ-साथ विषुवत् रेखा के उत्तर-दक्षिण खिसकते रहते हैं; क्योंकि उनसे संबंधित वायुभार पेटियाँ इसी प्रकार खिसकती हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि धरातली पवनें प्रायः

स्थाई पवनें (प्रिवेलिंग विन्ड) हैं। केवल तूफानों के समय पर ही, अथवा कुछ

चित्र १४—शीत ऋतु की पवनें
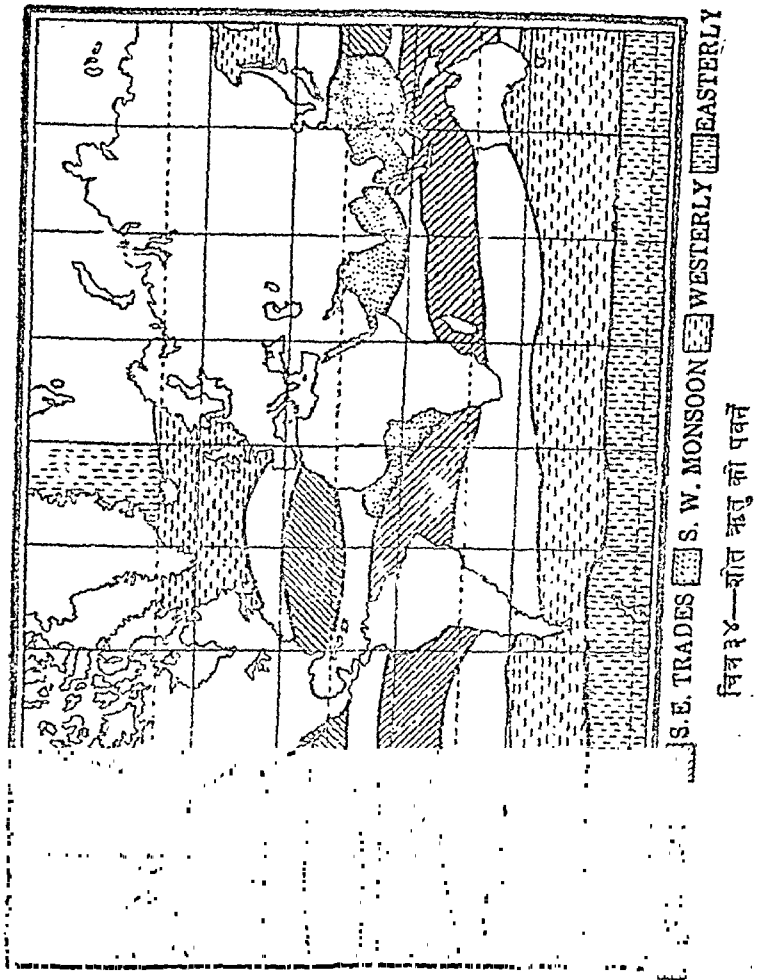
स्थानीय क्षणिक कारणों से जैसे थल और जल समीर, इन पवनों की दिशा में परिवर्तन होता है, और उस समय का यह परिवर्तन केवल क्षणिक और स्थानीय ही समझना चाहिए।

विषुवत रेखा पर स्थित शांत पेटी में उसके दोनों ओर चलने वाली व्यापारिक पवनें अपना प्रभाव डालती हैं। वहाँ कभी उत्तरी गोलार्द्ध की व्यापारिक पवन और कभी दक्षिणी गोलार्द्ध की व्यापारिक पवन पाई जाती है। परन्तु विषुवत् रेखा पर फेरेल के नियम का

बहुत कम प्रभाव होता है, और इसलिए इस शांत पेटी में वायु की दिशा उत्तर-दक्षिण अधिकतर रहती है।

नीचे दिये हुये चित्र में ऋतु परिवर्तन, वायु भार, तथा धरातली स्थायी पवनों का पारस्परिक संबंध दिखाया गया हैं :—
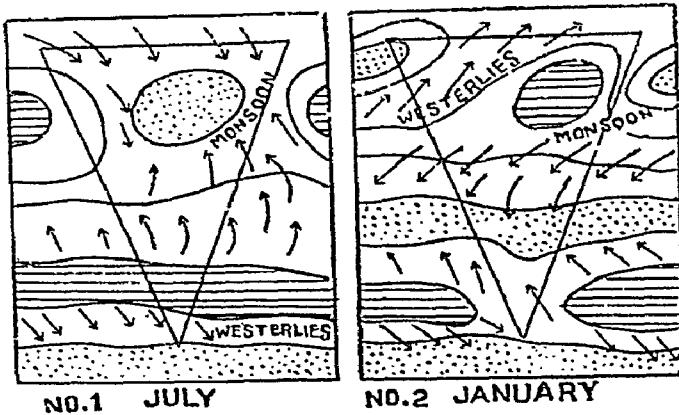
चित्र ३५—बिन्दु नीचा भार तथा रेखायें ऊँचा भार बताती हैं

ऊपर दिये हुये चित्र में त्रिभुज का भीतरी भाग पृथ्वी का स्थली भाग है, और उसका बाहरी भाग समुद्र। बिन्दुओं वाला क्षेत्र न्यून वायुभार दिखाता है, और रेखाओं वाला क्षेत्र अधिक वायु भार। पवनों की दिशायें तीरों से दिखाई गई हैं। इस चित्र से यह विदित होता है कि जूलाई में यूरेशिया के स्थली भाग की गरमी का वायुभार पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि विषुवत रेखीय शांत पेटी का पूर्ण अन्त हो जाता है जिससे दक्षिणी गोलार्द्ध की व्यापारिक पवनें उत्तरी गोलार्द्ध में मौसमी पवनें होकर चला करती हैं। इस चित्र में ध्यान देने की दो अन्य बातें भी हैं; उत्तरी गोलार्द्ध में वायु-भार की टुकड़ियाँ, और दक्षिणी गोलार्द्ध में, जल की प्रधानता के कारण, लगातार पेटियों का बना रहना।

ऊपर बतलाई हुई धरातली पवनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। व्यापारिक पवनें प्रायः मन्द गति से चला करती हैं, परन्तु उनकी दिशा में बहुत कम अन्तर होता है। केवल मौसमी पवन खंडों (मानसून लैंड्स) में ही ग्रीष्म ऋतु में ये धरातली पवनें लोप हो जाती हैं। इसीलिये प्राचीन काल में जब कि पाल वाले जहाज अधिक थे और जिनके चलाने के लिए इन पवनों की शक्ति आवश्यक थी इन पवनों का नाम व्यापारिक पवन रक्खा गया था।

शीतोष्ण खंड में चलने वाली सभी धरातली पवनों पर उन खंडों में चलने वाले तूफानों का महत्व बहुत बड़ा है। वर्ष में ये तूफान इतनी अधिक संख्या में आते हैं कि वहाँ पर स्थायी धरातली पवनों में लगातार परिवर्तन होता रहता है।

अनस्थायी पवनें

संसार में सभी जगह पवनों की दिशा एक ही नहीं रहती है। समय-समय पर न केवल वायु-भार परिवर्तन के कारण, वरन् अन्य स्थानीय कारणों से भी पवन की दिशा अदला-बदला करती है। कभी-कभी थल के बड़े-बड़े क्षेत्रों में ताप का असाधारण प्रभाव होने से वायु भार में इतना अधिक अन्तर हो जाता है कि पवन की आशातीत दिशा नहीं रह पाती। इसका सबसे बड़ा उदाहरण एशिया महाद्वीप की मौसमी पवनों (मानसून पवन) में पाया जाता है। मानसून पवनों का सरल सिद्धान्त तो यह है कि जल और थल में ताप का भिन्न-भिन्न प्रभाव होने से ऋतु परिवर्तन के कारण प्रायः स्थली भागों में ग्रीष्म ऋतु में न्यून वायुभार होता है, और समुद्र पर उसी समय अधिक वायु-भार होता है। इस प्रकार के वायु भार का परिणाम यह होता है कि वायु वहन समुद्र से स्थल की ओर होता है। शीत ऋतु में इसके विपरीत अवस्था पाई जाती है, क्योंकि उस समय न्यून ताप के कारण स्थली भागों में वायु का भार बढ़ जाता है, और, अपेक्षाकृत, समुद्र पर ताप की अधिकता के कारण वायु-भार न्यून रहता है। उसका फल यह है कि शीत ऋतु में वायु वहन स्थल से समुद्र की ओर होता है। परन्तु शीतोष्ण कटिबंधों में वायु वहन का प्रमुख कारण वहाँ के चक्रवातों में पाया जाता है। इसलिये वहाँ पर जल और स्थल के वायु-भार के अन्तर का प्रभाव पवनों की दिशा निर्धारण करने में कोई विशेष महत्व नहीं रखता है। स्थल और जल के वायु-भार के अंतर का प्रभाव पवनों की दिशा निर्धारण पर उष्ण खंड में ही विशेष है, जैसा कि ऊपर देखा गया है। उष्ण खंड में फेरेल के नियम का प्रभाव भी वायु वहन पर कुछ कम होता है, और इसलिये वायु-भार में तनिक अंतर पड़ने पर भी पवन की दिशा में तत्काल अंतर पड़ जाता है।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि प्रायः उष्ण खंड में ही वायु-भार के अंतर के कारण शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में पवनों की दिशा पूर्णतः पलट जाती है; शीत में स्थल से समुद्र की ओर, और ग्रीष्म ऋतु में समुद्र से स्थल की ओर। परन्तु इन पवनों को मौसमी पवन नहीं कहा जाता है, यद्यपि इन पवनों का सिद्धान्त वही है जो कि मौसमी पवनों का। दोनों प्रकार की पवनों में विशेष अंतर यह है कि ग्रीष्म और शीत ऋतु में दिशा पलटने वाली पवनें केवल समुद्र तटों के निकट ही सीमित रहती हैं, परन्तु मानसून पवनें समुद्र तट से सैकड़ों मील दूरी तक स्थल के भीतरी भागों में अपना प्रभाव फैला देती हैं। मौसमी पवनों के लिये ऐसा तभी संभव है जब कि एक बहुत बड़े क्षेत्र में असाधारण ताप परिवर्तन के कारण वायु-भार में उपरोक्त अंतर होता है। साधारण प्रकार की ऋतुवत् पवनों में तथा मौसमी पवनों में मुख्य अंतर प्रधानतः विस्तृत क्षेत्र का है।

उपरोक्त दृष्टि से मौसमी पवनों का वास्तविक क्षेत्र हिन्द महासागर के उत्तर और पूर्व स्थित खंडों में ही है। डाक्टर सिमसन के कथनानुसार "मौसमी पवन यह पवन

है जिसका घनिष्ठ संबंध सूर्य के उत्तर-दक्षिण हटने के कारण व्यापारिक तथा पश्चिमी पवनों की पेटियों के उत्तर-दक्षिण हटने से है।"* इन पेटियों का उत्तर-दक्षिण भ्रमण केवल इसीलिये होता है कि ग्रीष्म ऋतु में युरेशिया जैसे विशाल महाद्वीप में असाधारण तापक्रम हो जाता है। इससे असाधारण न्यून वायु-भार उत्पन्न हो जाता है जो दक्षिणी गोलार्द्ध में चलने वाली व्यापारिक पवनों को अपनी ओर, उत्तर को, खींच लेता है। शीत ऋतु में यह क्षेत्र, असाधारण शीत के कारण, अधिक ऊँचे वायु-भार का क्षेत्र बन जाता है। जहाँ से समुद्र की ओर वायु बहने लगती है। इस ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध की व्यापारिक पवन की पेटी दक्षिण की ओर खिसक जाती है जहाँ पर इस ऋतु में वायु भार बहुत ही कम होता है। परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में कोई भी स्थल क्षेत्र यूरेशिया के बराबर नहीं है। इसलिये वहाँ पर इतना न्यून वायु-भार नहीं पाया जाता है जितना कि उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु में और इसीलिए उत्तरी गोलार्द्ध को बहुत कम व्यापारिक पवनें विषुवत् रेखा को पार कर दक्षिणी गोलार्द्ध में जाती हैं।

व्यापारिक पवनें ही मौसमी पवनों के अंग हैं। परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में हिन्द महासागर में चलने वाली व्यापारिक पवनें सहस्रों मील तक समुद्र में चलकर विषुवत् रेखा को पार करती हैं और इसलिये इनमें जल की मात्रा अतुल होती है। फेरेल के नियमानुसार दक्षिणी गोलार्द्ध से आने वाली पवनों की दिशा विषुवत् रेखा पार करने पर बदल कर दक्षिण-पश्चिमी हो जाती है, जिससे ये पवनें भारत की ओर चलने लगती हैं। हिन्द महासागर में बहुत कम द्वीप हैं, और इसलिये इन पवनों की अतुल जलराशि बिना ह्रास हमारे देश को प्राप्त होती है। यदि इन पवनों के मार्ग में अधिक द्वीप होते, तो यह जलराशि कुछ अंश तक उनमें विभाजित हो जाती।

वायु-भार वितरण का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि ग्रीष्म ऋतु में एशिया के दो क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें वायु भार अति न्यून होता है; इनमें से एक क्षेत्र उत्तरी चीन में पेकिंग के निकट, और दूसरा पेशावर के समीप। इनमें से पेशावर वाला न्यून वायु-भार क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि वहाँ पर पेकिंग की अपेक्षा वायु-भार अधिक न्यून है। परन्तु विशेष बात तो यह है कि हिमालय पर्वत की स्थिति इन दोनों न्यून वायु-भार वाले क्षेत्रों में कोई संबंध नहीं रहने देती। अर्थात् हिन्द महासागर से आई हुई पवनें हिमालय के दक्षिण में ही रह जाती हैं; पेकिंग वाले क्षेत्र में नहीं पहुँच पाती। पेकिंग वाले क्षेत्र को प्रशांत महासागर से ही वायु वहन होता है। प्रशांत महासागर में अनेकों द्वीप समूह हैं जिससे वहाँ की वायु की जलराशि बहुत कम हो जाती है, और न मध्य एशिया में पहुँचते-पहुँचते वह अधिकांश शुष्क हो जाती है।

---

*नोट—सिमसन, क्वार्टर्ली जर्नल, रायल मेट-सोसायटी, लंदन, अंक ४७,१९१

वृहत क्षेत्र और अतुल जल वर्षा की दृष्टिकोण से इशिया महाद्वीप का दक्षिणी और दक्षिणी-पूर्वी भाग ही मौसमी पवनों का प्रमुख क्षेत्र है।
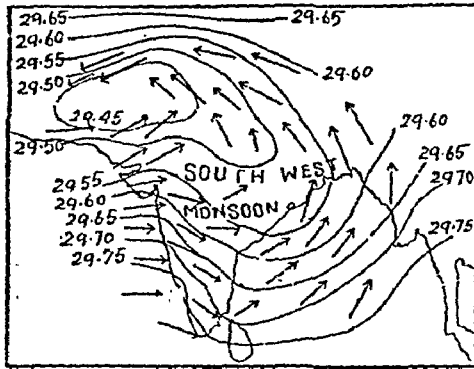
चित्र २६—ग्रीष्म ऋतु का वायुभार

समीप के चित्र में वायु-भार की ग्रीष्म ऋतु की अवस्था दिखाई गई है। इस चित्र में कोलम्बो से जाने वाली वायु-भार रेखा २९.७५ इंच है और पेशावर से जाने वाली रेखा लगभग २९.४५ इंच है। इन दोनों रेखाओं के मध्यवर्ती भाग में भिन्न-भिन्न रेखाएँ स्थित हैं जिनकी विशेषता यह है कि उनके बीच का अन्तर बहुत थोड़ा है। इसलिये वायु-वहन बड़े वेग से पेशावर के निकटवर्ती क्षेत्र की ओर होता है। यह वहन आंतरिक चक्रवात (सायक्लोन) की दिशा में होता है अर्थात् घड़ी की सुइयों की चाल के विपरीत। यह वायु दक्षिण-पश्चिमी मौसमी पवन कहलाती है। इसकी गति लगभग २७ से ५५ मील प्रति घंटा होती है।

दूसरे चित्र में जो यहाँ दिया गया है, शीत काल की अवस्था दिखलाई गयी है। इसमें वायु का भार समुद्र पर कम और स्थल पर अधिक है। जैसा कि रेखाओं के देखने से विदित होता है, पेशावर के निकट इस ऋतु में वायु का भार ३०.३५ इंच है; परन्तु कोलम्बो में २९.९५ इंच से कुछ कम है।
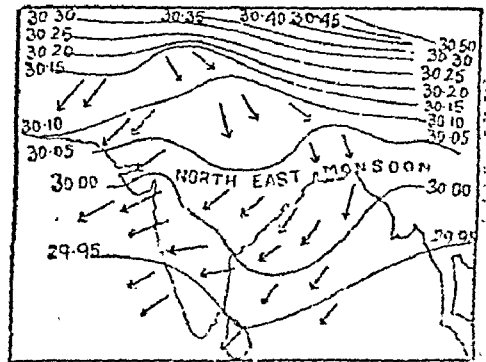
चित्र ३७—शीतकाल का वायुभार

परन्तु अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस चित्र में देश के अधिकांश भाग में रेखाएँ एक दूसरे से दूर-दूर हैं। इसका परिणाम यह है कि पवन की गति बहुत कम है। इस ऋतु में प्रायः छः-सात मील प्रति घंटा की गति से पवन की गति बहुत चला करती है। वायु का वहन वाह्य चक्रवात (एन्टी सायक्लोन) की दिशा में है, अर्थात् घड़ी की सुइयों की

चाल के अनुसार। उत्तरी गोलार्द्ध में इस ऋतु की वायु अधिकांश व्यापारिक पवन की दिशा में चलती है। इसको उत्तर पूर्वी मौसमी पवन कहते हैं।

उत्तरी गोलार्द्ध की शीत ऋतु में मौसमी पवनें स्थली भागों से चलती हैं और इसलिये उनमें जल की मात्रा बहुत कम होती है; जिससे उनसे जलवर्षा प्रायः नहीं होती है। परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में इस समय ग्रीष्म ऋतु होती है और इसलिए वहाँ पर ये मौसमी पवनें समुद्र से स्थल की ओर चलती हैं, और आस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग में उनसे जलवर्षा होती है।

एशिया और उत्तरी आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त पूर्वी अफरीका और संयुक्त राज्य अमेरिका का दक्षिणी भाग, मैक्सिको तथा ब्रेजिल का पूर्वी भाग भी इसी प्रकार की मौसमी पवनों से प्रभावित है, परन्तु यथार्थ में जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, विस्तृत क्षेत्र तथा अधिक जल वर्षा के कारण मौसमी पवनों का क्षेत्र हिन्द महासागर से ही संबंधित है। अन्य भागों में पहाड़ों की स्थिति के कारण मौसमी पवनों का प्रभाव समुद्री तट तक ही सीमित रह जाता है, और इसलिये उनको मौसमी पवन खंडों की प्रथम श्रेणी में प्रायः सम्मिलित नहीं किया जाता।

जल और थल समीर (लैण्ड और सी ब्रीज)

मौसमी पवनें ऋतु परिवर्तन से संबंधित हैं, और उनका प्रभाव ग्रीष्म अथवा शीत के पूर्ण काल तक चलता रहता है। उनकी दिशा में दिन-प्रति-दिन हेर-फेर नहीं होता है। परन्तु समुद्र तट पर जहाँ जल और थल एक दूसरे से मिलते हैं, मौसमी पवनों का रूपान्तर जल और थल-समीर में मिलता है। इन समीरों का सिद्धान्त भी वही जल और थल के वायु-भार का परिवर्तन है। अन्तर केवल इतना है कि जल और थल समीरों में रात्रि और दिवस के वायु-भार का अन्तर मूल कारण है, और मौसमी पवनों में ग्रीष्म और शीत ऋतु के वायुभार का अन्तर। इन समीरों और मौसमी पवनों में दूसरी विभिन्नता यह है कि समीरों का प्रभाव समुद्र तट के अति निकटवर्ती क्षेत्र में ही सीमित रहता है; परन्तु मौसमी पवनों का प्रभाव समुद्र तट से अधिक दूर तक पाया जाता है। तीसरा अन्तर यह है कि जल और थल-समीर वायुमंडल में अधिक ऊँचाई तक अपना प्रभाव नहीं डाल सकती है, अर्थात् वे केवल वायु के एक छिछले पर्त में ही चलती है। उनकी अधिक से अधिक ऊँचाई केवल २०० फुट तक ही रहती है।* मौसमी पवन वायु मंडल में बहुत ऊँचाई तक अपना प्रभाव रखती है। इसका परिणाम यह होता है कि जल और थल समीरों से वर्षा बिलकुल नहीं हो सकती है; क्योंकि जिस ऊँचाई पर वर्षा के जल-विन्दु बन सकते हैं वहाँ तक ये समीर पहुँचती ही नहीं हैं। इसके विपरीत मौसमी पवनें इतनी ऊँचाई तक पहुँच जाती हैं कि उनसे बादल तथा वर्षा के जलबिन्दु सरलता से ही बन जाते हैं।

*नोट—ब्रंट : फिजीकल मीट्रिलिओलोजी, पृ० ३८१

दिन में जब सूर्य प्रकाशमान होता है, समुद्र तट का स्थलीय भाग, जल की अपेक्षा अधिक तप्त हो जाता है। इस कारण वहाँ पर वायु भार न्यून हो जाता है, और उस स्थान की ओर वायु की पूर्ति करने के लिए अधिक भार वाली वायु समुद्र से चलने लगती है। चूँकि यह वायु समुद्र से आती है इसलिए इसको जल समीर (सी ब्रीज) कहते हैं। इस समीर का चलना उसी समय आरंभ होता है जब कि सूर्य की किरणों का प्रभाव स्थल पर भली भाँति होने लगता है अर्थात् दस बजे से सूर्यास्त के समय तक। जल समीर कहीं-कहीं २० या ३० मील की दूरी तक थल में पहुँच जाती है। इसका प्रभाव उष्ण कटिबंध में बहुत महत्व-पूर्ण है; क्योंकि वहाँ पर इन समीरों के चलने से मनुष्य का शरीर कुछ शीतल हो जाता है। कहीं-कहीं पर इस कटिबंध के तापक्रम में जल समीर से कई अंश की कमी हो जाती है।

नीचे दिये हुए चित्र में जल समीर का सिद्धान्त स्पष्ट किया गया है:—
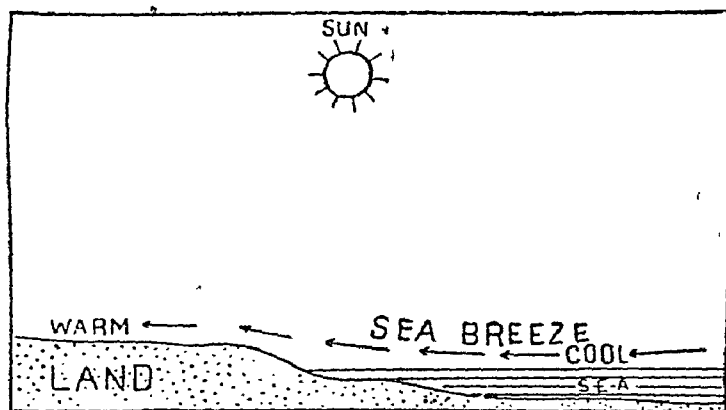
चित्र ३८—जल समीर

सूर्य की उपस्थिति से यह विदित है कि जल समीर केवल दिन में ही चलती है। तीरों द्वारा जल से थल की ओर वायु का वहन, तथा जल की शीतलता और थल की उष्णता जिनसे यह वायु वहन होती है, भी इस चित्र में दर्शाये गये हैं।

रात्रि के समय जब कि सूर्य की किरणों का अभाव रहता है स्थल बहुत ही शीघ्र शीतल हो जाता है। परन्तु जल को शीतल होने में अधिक समय लगता है। इसलिये जल की अपेक्षा स्थल में रात में अधिक वायु-भार हो जाता है, और जल न्यून वायुभार का क्षेत्र। इस समय जो समीर बहती है उसको थल समीर कहते हैं; क्योंकि वह स्थल से जल की ओर चलती है। अर्थात् थल से चलने वाली समीर, थल-समीर और जल से चलने वाली समीर, जल समीर के नाम इन समीरों के आरंभ होने के स्थान पर रक्खे गये हैं।

नीचे दिये हुए चित्र में थल- मीर का सिद्धान्त पूर्ण रूप से समझाया गया है। तारों की उपस्थिति से यह विदित ह ।क समीर रात्रि में ही चलती है। स्थल और जल के तापक्रमों का अन्तर भी इस चित्र में स्पष्ट है।

चित्र ३९—थल समीर

ये समीर प्रायः ताप रेखाओं से लम्ब रूप होकर चलती हैं; उनके समानान्तर नहीं जैसा कि अन्य पवनें करती है। इसका मुख्य कारण यह है कि समीरों का क्षेत्र इतना सीमित होता है कि फेरल के नियम का प्रभाव उन पर पूर्ण रूप से नहीं हो पाता, और इसलिये उनकी दिशा वही मौलिक दिशा होती है जो कि ताप रेखाओं द्वारा निर्धारित होती है।

पर्वत और घाटी की समीर (माउनटेन और वेली ब्रीज)

पर्वत और घाटी की समीरें भी जल और थल की समीरों की ही जाति की समीरें हैं। अन्तर केवल इतना है कि इनमें स्थल के ही दो भिन्न भागों की ताप और भार भिन्नता मौलिक कारण हैं। दिन में घाटी में स्थित वायु तप्त हो कर ऊपर उठती है। वायु के उठने का प्रमाण उन मुकुट रूपी बादलों में मिलता है जो दोपहर में घाटियों में इधर-उधर दिखलाई देते हैं। रात में घाटी की अपेक्षा पर्वती ढाल अधिक शीतल हो जाता है और इसलिए उनसे लगी हुई वायु भी शीतल हो जाती है जिससे उसका भार अधिक हो जाता है। यह अधिक भार वाली वायु पर्वतों के ढाल पर होकर घाटी में खिसक आती है।

पर्वतों की घाटियों का मुख प्रायः खुले हुए मैदानों से मिलता है। घाटी की वायु में जो भी परिवर्तन होता है उसका प्रभाव इसीलिये अंत में मैदानों की वायु में भी पड़ता है। दिन में जब घाटी की वायु तप्त होकर पर्वतों की चोटी की ओर उठ जाती है उस समय मैदानों से वायु का वहन घाटी की ओर, रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिये होने लगता है। अर्थात् दिन में मैदान से पर्वतीय भागों की ओर वायु चलने लगती है। रात्रि में पर्वतों से

खिसकने वाली वायु घाटी में इतनी भर जाती है कि उसका वहन मैदान की ओर घाटी के मुख से होने लगता है। अर्थात् रात्रि में पर्वती भाग से मैदान की ओर वायु चलने लगती है।

पर्वत की ओर से पर्वती समीर (माउन्टेन ब्रीज) रात्रि में मैदान की ओर चलती है, और दिन में मैदान से घाटी की ओर घाटी समीर (वेली ब्रीज) चला करती है। रात्रि को चलने वाली वायु अधिक शीतल होती है, और दिन को चलने वाली वायु कुछ उष्ण होती है।

असाधारण पवनें

जहाँ कहीं मैदान और घाटी से मिले हुए ऊँचे पठार होते हैं वहाँ पर पठार पर पड़ी हुई वायु रात्रि में अधिक शीतल हो जाती है और एक विस्तृत क्षेत्र से खिसक कर नीचे घाटी में होती हुई मैदान में चलने लगती है। ऐसी वायु शीतोष्ण कटिबंध में रात्रि की अधिक शीतलता के कारण बहुधा देखी जाती है। फ्रांस में इस वायु को "मिस्ट्रल" कहते हैं, और यूगोस्लाविया में 'बोरा' कहते हैं।

पर्वती भागों में कभी-कभी यह देखा जाता है कि घाटी से उठी हुई वायु पर्वत श्रेणी को पार कर दूसरी ओर उतरने लगती है। ऐसी वायु को योरप में 'फोहेन' वायु कहते हैं और कनाडा में 'चिनुक' वायु कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि मिस्ट्रल और फोहेन शीतोष्ण कटिबंधों में ही मिलती हैं; क्योंकि वहीं पर दिन और रात के तापक्रमों में बहुत अधिक अन्तर पड़ जाता है। मिस्ट्रल और बोरा बहुत ही शीतल वायु होती हैं। परन्तु फोहेन वायु का तापक्रम कुछ ऊँचा रहता है; क्योंकि ऊँचाई से उतरने के कारण उसका भार बढ़ जाता है और उसके पीछे आने वाली वायु का ताप भी अधिक हो जाता है। अन्य समीरों की भाँति मिस्ट्रल और फोहेन भी शुष्क वायु हैं जिनसे वर्षा नहीं होती है। साधारण समीर तथा मिस्ट्रल और फोहेन इत्यादि में एक विशेष अन्तर यह है कि समीर दिन प्रतिदिन चलने वाली वायु में हैं, परन्तु मिस्ट्रल और फोहेन इत्यादि केवल झंझावात के समय ही चलती हैं। ये वायु कभी-कभी कई दिन तक लगातार चलती रहती हैं और स्थानीय जलवायु पर बहुत बड़ा प्रभाव डालती हैं।

वायुभार की माप

हमने ऊपर देखा है कि हम पृथ्वी पर वायु रूपी समुद्र की सब से नीची तह में रहते हैं। हमारे शरीर के ऊपर करोड़ों मन वायु का बोझ है। यह बोझ लगभग एक टन प्रतिघन फुट है; और हमारे शरीर में भीतर और बाहर सभी ओर अपना प्रभाव डालता है। वायु के इस भार को माप के लिए विशेष यंत्र बनाये गये हैं, जिनमें बैरोमीटर प्रधान यंत्र है। इस यंत्र में यह मान लिया गया है कि लगभग ३० इंच ऊँची पारे से भरी हुई नली का बोझ उतना ही है

जितना कि उस नली के ऊपर स्थित पूरे वायु का बोझ होता है। ४५° उत्तरी अक्षांश में समुद्र तल पर यह बोझ लगभग १५ पौंड प्रति वर्ग इंच निर्धारित किया गया है। परन्तु वायु के भार में थोड़े से थोड़ा अंतर होने पर भी वायु वहन होने लगता है जिसको इंच की मात्रा में नापना असंभव है। यह माप ईंच की सहस्रांश मात्रा में प्रायः की जाती है। वैरोमीटर की माप इंचों में होने से एक इंच के एक सहस्र टुकड़े करना असंभव है। इसलिये इस वायु-भार की नाप को बहुत ही छोटी-छोटी रेखाओं के द्वारा प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया गया है। इन रेखाओं को मिलीबार कहते हैं।

वैरोमीटर की पारे की ३० इंच वाली पूरी नली को १०, १५,२०० छोटी-छोटी रेखाओं में विभाजित किया गया है। ऐसी १००० रेखाओं को 'मिलीबार' कहते हैं। समुद्रतल का वायु भार साधारण अवस्था में १०१३.२ मिलीबार होता है।

कभी-कभी वायु भार की यह माप मिलीमीटरों में भी दी जाती है। उस दशा म तीस इंच वाली पारे की नली को लगभग ७६० मिली मीटरों के बराबर माना जाता है।*

वायु-भार को मानचित्रों में दिखाने के लिए समान-भार रेखाएँ (आइसोबार) खींचते हैं। ये रेखाएँ उन सभी स्थानों को जोड़ती हैं जिनका वायुभार समान होता है। परन्तु वायु-भार की प्रारंभिक रेखा समुद्र तल पर ही मानी गई है; क्योंकि ऊँचाई पर वायु का भार समुद्र तल के वायुभार की अपेक्षा कम होता जाता है। इसलिये समान भार रेखाओं को मानचित्र में खींचने के पहले भिन्न-भिन्न स्थानों के वायु-भार को उनकी ऊँचाई के अनुसार समुद्र तल के वायु भार में परिवर्तित कर लेते हैं। अर्थात् समान भार रेखाएँ समुद्र तल के वायु भार और भिन्न-भिन्न स्थानों के वायु-भार की तुलना करती हैं।

ये समानान्तर रेखाएँ टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं; कहीं-कहीं इनके दोनों सिरे जुड़ कर गोलाकार आकृति बन जाते हैं। यह गोलाकार आकृति आन्तरिक चक्रवात अथवा वाह्य चक्रवात की उपस्थिति दिखलाती हैं।

मानचित्र में पवन का प्रदर्शन

मानचित्रों में पवन की दिशा तीर द्वारा दिखलाई जाती है। परन्तु दिशा के अतिरिक्त पवन की गति जानना भी आवश्यक है। यह गति मानचित्र में पवन के तीरों के अंतिम भाग में अनेक काँटे बना कर दिखाई जाती है। कभी-कभी इस गति को कोड-संख्या द्वारा भी दिखाया जाता है। नीचे दिये हुए चित्र में प्रचलित प्रथा दिखलाई गई है। इस प्रथा को ब्यूफोर्ट पवन-माप कहते हैं।

*—इंच और मिलीबार का संबंध निम्नलिखित है:—१००० मिलीबार = २९.५ इंच।

THE BEAUFORT WIND SCALE.

Beaufort No.	Wind	Arrow.	Speed. m.p.h.	Commonly observed effects of corresponding winds.
0	Calm	⊙	0	Calm, smoke rises vertically.
1	Light air ..		2	Direction of wind shown by smoke drift, but not by wind vanes.
2	Light breeze ..		5	Wind felt on face; leaves rustle, ordinary vane moved by wind.
3	Gentle breeze ..		10	Leaves and small twigs in constant motion; wind extends light flag.
4	Moderate breeze		15	Raises dust and loose paper; small branches are moved.
5	Fresh breeze ..		21	Small trees in leaf begin to sway, crested wavelets form on inland waters.
6	Strong breeze ..		27	Large branches in motion; whistling heard in telegraph wires; umbrellas used with difficulty.
7	Moderate gale ..		35	Whole trees in motion; inconvenience felt when walking against wind.
8	Fresh gale ..		42	Breaks twigs off trees; generally impedes progress.
9	Strong gale ..		50	Slight structural damage occurs (chimney pots and slates removed).
10	Whole gale ..		55	Seldom experienced inland; trees uprooted; considerable structural damage occurs.
11	Storm		68	Very rarely experienced; accompanied by widespread damage.
12	Hurricane ..		above 75	—

पवन की गति के नापने के लिए एनिमो मीटर नामक यंत्र होता है जिसमें एक स्तंभ में कई प्याले लगे रहते हैं। चूँकि धरातल पर अनेक कावटें होती हैं जिनसे पवन की वास्तविक गति का पता लगाना कठिन है; इसलिए यह नियम कर लिया गया है कि धरातल से ३३ फुट ऊँचाई पर चलने वाली पवन की गति को वास्तविक गति माना जाता है। इसलिए एनिमो मीटर का स्तम्भ ३३ फुट होना चाहिए।

पवन की गति दो प्रकार की होती है; एक तो वह गति जो कि वायु भार के अन्तर पर निर्भर है, और दूसरी गति वह जो कि फेरल के नियम द्वारा निर्धारित होती है। पहली गति को 'भार-गति' (ग्रेडियेन्ट विन्ड) और दूसरी गति को 'धरातली गति' (जिओस्ट्रोफिक विन्ड) कहते हैं। अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका में धरातली गति दिखलाई गई है।

पवन की धरातली गति (मील प्रति घंटा)

अक्षांश *	भार-अन्तर । भार रेखाओं के बीच की दूरी मीलों में									
	२०	२५	३०	३५	४०	४५	५०	६०	८०	१००
विपुवतरेखा	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...
१०°	...	...	...	...	...	...	...	१४७	११०	८८
२०°	...	...	१४९	१२८	११२	९९	८९	७४	५६	४५
३०°	...	१२२	१०२	८७	७६	६८	६१	५१	३८	३०
४०°	११९	९५	७९	६८	५९	५३	४८	४०	३०	२४
५०°	१००	८०	६६	५७	५०	४४	४०	३३	२५	२०
६०°	८८	७१	५९	५०	४४	३९	३५	२९	२२	१८
७०°	८१	६५	५४	४६	४१	३६	३२	२७	२०	१६
८०°	७८	६२	५२	४४	३९	३४	३१	२६	१९	१६

(वेदर मैप नामक पुस्तक से)

ऊपर दी हुई तालिका से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं :—

१. भार का अन्तर विपुवत् रेखीय खंड में अति न्यून है। १० अक्षांश उत्तर और दक्षिण तक समान भार रेखाओं के बीच की दूरी अधिक होती है। यह दूरी ६० मील अथवा उससे अधिक होती है।

परन्तु भार अन्तर इतना कम होते हुए भी इस खंड में वायु की गति अधिक होती है, क्योंकि यहाँ पर इस गति को फेरल के नियम के प्रभाव में कमी के कारण रुकावट नहीं पड़ती है। ऊपर दी हुई तालिका में १०° और ८०° अक्षांशों की गति की तुलना कीजिए। ८०° अक्षांश पर यह गति १६ मील प्रति घंटा होती है; परन्तु १०° अक्षांश पर उतने ही भार अन्तर पर ८८ मील प्रति घंटा गति है।

२. भार के अन्तर में ज्यों-ज्यों अधिकता होती है त्यों-त्यों पवन की गति भी अधिक होती जाती है। तालिका में दाहिनी ओर से बाईं ओर चलने में पवन की अधिक गति का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ श्री जगन्नाथपुरी में, जो २०° उत्तरी अक्षांश में स्थित है, थोड़ा भार अन्तर होने पर पवन की गति ४५ मील प्रति घंटा होती है, परन्तु जब भार अन्तर अधिक होता है तब पवन की गति १४९ मील प्रति घंटा हो सकती है।

३. ध्रुव से विपुवत् रेखा की ओर ज्यों-ज्यों आगे बढ़िये त्यों-त्यों पवन की गति अधिक होती है। भार अन्तर अधिक होने पर भी पवन की गति अधिक होती है।

अध्याय ६

जलवर्षा

वायु में जो भी गैस तथा अन्य पदार्थ मिले हुए हैं उनको हम साधारण दशा में देख नहीं सकते हैं। वायु में छिपी हुई वस्तुओं में केवल जल ही एक ऐसी वस्तु है जिसको वायु की दशा परिवर्तन होने पर हम देख सकते हैं। बादल, कोहरा, ओस, हिम तथा ओले इत्यादि वायु में जल की उपस्थिति के साक्षी हैं। वायु में जल की उपस्थिति से यह विदित होता है कि मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के लिये वायु न केवल श्वास लेने के लिये औपजन ही देती है वरन् जल भी। वायु को यह जल प्रायः समुद्र से ही मिलता है। इस जल के बिना समुद्र से सैकड़ों मील दूरी पर स्थित प्राणियों का जीवन असंभव हो जाता। यदि वायु इस जल को समुद्र से न लाती तो मनुष्य को न तो पीने के लिए, न खेतों की सिंचाई के करने के लिए और न तो नदियों में नावें चलाने के लिये जल मिलता। अर्थात् समुद्र से जल लाकर वायु ने स्थल पर प्राणियों का रहना संभव बनाया है।

वायु में जल केवल वाष्प-रूप में ही रह सकता है। वाष्प बनने के लिए ताप की आवश्यकता होती है। यही ताप वायु की वास्तविक शक्ति है। वायु में जितना ही अधिक ताप होता है, उतनी ही अधिक जल की मात्रा उसमें रह सकती है। यही कारण है कि उष्ण खंड में ताप की अधिकता के कारण वायु में जल की मात्रा अधिक होती है। परन्तु शीतोष्ण खंड तथा ध्रुव के निकट, ताप की कमी के कारण, यह मात्रा कम होती है।

वायु में पाई जाने वाली जल की मात्रा समुद्र के विस्तार, तथा वायु की वहाँ तक पहुँच पर भी निर्भर है। यही कारण है कि मरुस्थलों में अथवा समुद्र से अधिक दूर वाले स्थलों में वायु में जल की मात्रा बहुत कम होती है।

वायु में रहने वाली जल की मात्रा का घनिष्ठ संबंध वायु ताप से है। किसी वायु में जल की वास्तविक उपस्थित मात्रा और उसके ताप के अनुसार जल धारण करने की मात्रा के अनुपात को "आनुपातिक आर्द्रता" (रिलेटिव ह्यूमिडिटी) कहते हैं। यह अनुपात सदा प्रतिशत अंकों में दिया जाता है। जिस समय यह अनुपात १०० प्रतिशत हो जाता है, उस समय वायु में बादल बनना आरंभ हो जाता है। मरुभूमि में यह आनुपातिक आर्द्रता बहुत कम होती है; और समुद्र के निकट अधिक। ताप तथा जल के घटने-बढ़ने पर यह अनुपात भी घटता-बढ़ता रहता है। वायु

में जल को जितनी मात्रा होती है उसको "वास्तविक आर्द्रता" (एबसोल्यू ह्यमिडिटी) कहते हैं। वातस्तविक आर्द्रता की माप ग्रेन-प्रति घन फुट-वायु में होती है। वायु में केवल जल की मात्रा घटने तथा बढ़ने पर ही यह माप घटती-बढ़ती है; ताप के घटने-बढ़ने से नहीं। चूँकि समुद्र धरातल पर स्थित है, इसलिये ज्यों-ज्यों वायु अधिक ऊँचाई पर पहुँचती जाती है त्यों-त्यों उसमें जल की मात्रा कम होती जाती है। जैसा कि पीछे देखा गया है, वायुमंडल में उपस्थित पूरी जल की मात्रा का आधे से अधिक भाग लगभग ६००० फुट की ऊँचाई तक ही सीमित है। इस ऊँचाई से ऊपर जल की मात्रा [illegible] नाम मात्र को ही पाई जाती है।

ऊँचाई पर वायु में जल की मात्रा की कमी केवल इसलिए नहीं है कि वहाँ पर वायु समुद्र से अधिक दूर है, वरन् इसलिये भी कि अधिक ऊँचाई पर वायु का ताप नीचा हो जाता है, और इसलिए उसकी जल धारण करने की शक्ति कम हो जाती है।

ऊपर वर्णन किया गया है कि जल से वाष्प बनाने के लिये अधिक ताप चाहिए। जब ताप में एक निश्चित सीमा से अधिक कमी हो जाती है, तब वायु में जल वाष्प के रूप में नहीं रह सकता है। उसका रूप स्थूल हो जाता है। इस स्थूल रूप का पहला प्रमाण बादल है। *बादल जल के बहुत ही छोटे-छोटे कणों के समूह हैं जो, छोटे होने के कारण वायु में* इधर-उधर तैरते रहते हैं। परन्तु ज्यों ही ये कण बड़े हो जाते हैं और उनका भार अधिक हो जाता है, त्यों ही वे वर्षा के जल बिन्दुओं के रूप में पृथ्वी पर आ गिरते हैं। वर्षा के बिन्दु बनने के पूर्व वायु में कई प्रकार के परिवर्तन आवश्यक होते हैं।

इन परिवर्तनों में पहला परिवर्तन वायु के ताप में कमी होने के कारण उसकी जल-धारण शक्ति की सीमा का पहुँचना है। इस सीमा को ओस बिन्दु (सैचुरेशन प्वाइन्ट अथवा डिउ प्वाइन्ट) कहते हैं। ओस-बिन्दु होने के कुछ समय उपरान्त बादलों का बनाना आरंभ होता है। बादल बनने में भिन्न-भिन्न प्रकार की वायुराशि का संमिश्रण अधिक सहायक होता है। तीसरा परिवर्तन जल के बड़े-बड़े बिन्दुओं का बनना है। जैसा कि ऊपर कहा गया है,बादल जल के बहुत ही छोटे-छोटे कणों के समूह हैं। ये जल कण इतने छोटे होते हैं कि एक चाय के चम्मच को भरने के लिए ५ अरब कण चाहिए। ये जल कण भिन्न प्रकार के केन्द्रीकारक वस्तुओं (हाईग्रोसकोपिक मटीरियल) की सहायता से ही एकत्रित होकर जल बिन्दु बनते हैं। कभी-कभी बादलों में विद्युत शक्ति का संचार (आयोनाइजेशन) होने से भी जलबिन्दु बन जाते हैं।

परन्तु ये जलबिन्दु बादलों से गिर कर वायु के नीचे भाग में होकर ही पृथ्वी पर पहुँच सकते हैं। ऊपर की वायु की अपेक्षा प्रायः नीचे की वायु का ताप अधिक होता है और इसलिये उसमें जल धारण करने की शक्ति भी अधिक होती है। इसका परिणाम यह होता है कि साधारण जलबिन्दु पृथ्वी पर पहुँच ही नहीं पाता। वह नीचे की वायु

में वाष्प बन कर फिर विलीन हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि जल वर्षा होने के लिये बादलों में बनने वाले जलबिन्दु बहुत ही बड़े आकार के हों।

बादल बनने के लिए वायु के ताप में कमी होना बहुत ही आवश्यक है। वायु का ताप निम्नलिखित अवस्थाओं में कम हो जाता है :—

१. विभिन्न प्रकार की वायु राशियों (एअर मास) का सम्मिश्रण;

२. धरातल पर असाधारण ताप के कारण वायु तरंगों का ऊपर उठना; अथवा आंतरिक चक्रवात में पड़ी हुई उष्ण वायु का उसकी शीतल वायु के ऊपर उठना;

३. पर्वतों की ढाल पर वायु का चढ़ना।

जलवर्षा के प्रकार

वर्षा तीन प्रकार की होती है :—

(१) चक्रवातीय (साइक्लोनिक); (२) झंझावातीय (कनवेक्शनल); (३) पर्वतीय (रीलिफ वर्षा)।

उपरोक्त वर्षाओं में कुछ भिन्नता होती है। चक्रवातीय वर्षा में उष्ण वायु ही धीरे-धीरे शीतल वायु के ऊपर चढ़ती है, और इसलिये उसमें स्थित जलवाष्प का परिवर्तन बादलों तथा जलबिन्दुओं में बहुत ही धीरे-धीरे होता है। परन्तु चक्रवात में धरातल से थोड़ी ही ऊँचाई पर बादल और जल विन्दु बनते हैं, जिससे धरातल तक पहुँचने में वे वायु की नीची तहों में शुष्क नहीं हो पाते। ये छोटे-छोटे जलबिन्दु वर्षा के रूप में धरातल पर आ गिरते हैं। यही कारण है कि चक्रवात् के अग्र भाग वाले क्षेत्रों में जलवर्षा धीमी-धीमी होती है। परन्तु चक्रवात के पिछले भाग में शीतल वायु आ कर उसकी उष्ण वायु को एकाएक धरातल से ऊपर उठा देती है। इसलिए उष्ण वायु की वाष्प से बनने वाले जलबिन्दु प्रायः बड़े आकार के होते हैं। चक्रवात के पिछले भाग में विद्युतशक्ति का भी प्रभाव अधिक होता है। इसलिए वहाँ पर वर्षा होने के साथ बादलों का कड़कना और विद्युत प्रकाश का होना प्रायः देखे जाते हैं।

झंझावातीय जलवर्षा वायु के एकाएक बहुत ऊँचाई तक उठ जाने से होती है। उठती तरंगें कई हजार फुट की ऊँचाई पर एकाएक पहुँच जाती हैं, जहाँ पर उनका ताप बहुत कम हो जाता है। कभी-कभी विद्युत शक्ति के प्रभाव से ऊँचाई पर स्थित वायु फटकर और अधिक ऊँचाई की ओर दौड़ जाती है। ऐसी दशा में उस वायु में स्थित वाष्प से बड़ी-बड़ी हिम की शिलाएँ बन जाती हैं। झंझावातीय वर्षा का संबंध मुकुटधारी बादलों (क्यूमूलस बादल) से है। इन बादलों की चोटी लगभग १० हजार फुट की ऊँचाई पर होती है। इतनी ऊँचाई से जब ये हिमशिलाएँ धरातल की ओर गिरती हैं तो उठती हुई उष्ण वायु के भीतर से आने के कारण धरातल तक पहुँचते-पहुँचते वे केवल बड़े-बड़े जलबिन्दु ही रह जाते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि उष्णखंड में, तथा

शीतोष्ण खंडों के भीतरी स्थली भागों में केवल ग्रीष्म ऋतु में ही यह झंझावातीय वर्षा मिलती है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि ग्रीष्म ऋतु में होने वाली वर्षा में थोड़ा बहुत अंश झंझावातीय अवश्य होता है। इस ऋतु में स्थली भागों में असाधारण तापों का हो जाना एक साधारण बात है और इसीलिये झंझावातीय जलवर्षा अन्य वर्षाओं में प्रायः मिली हुई होती है।

पर्वतीय जलवर्षा का मूल कारण भी वायु का अधिक ऊँचाई तक उठना है। उठी हुई वायु का ताप कम हो जाता है और जलवर्षा होने के लिए सभी सहायक अवस्थाएँ हो जाती हैं। प्रायः यह देखा गया है कि पर्वतीय जलवर्षा पर्वत खंड के बाहरी भागों में अधिक होती है, और भीतरी भागों में कम। क्योंकि भीतरी भागों में पहुँचते-पहुँचते वायु की जलराशि बहुत कुछ कम हो जाती है। यह भी देखा गया है कि पर्वतीय जलवर्षा पर्वत के ढालों के नीचे के भाग में अधिक और ऊपरी भागों में कम होती है। पहाड़ों पर ज्यों-ज्यों अधिक ऊँचाई पर आप जाइये, त्यों-त्यों जलवर्षा कम होती जाती है।

जहाँ कहीं पर्वती खंड समुद्र के निकट धरातली पवनों के मार्ग में होते हैं, वहाँ उनके बाहरी ढालों पर जो पवन के समक्ष पड़ते हैं अधिक जलवर्षा होती है। परन्तु उनके भीतरी ढालों पर जो पवन के विमुख होते हैं; और इसलिए जहाँ पवन नीचे उतरने लगती है, वहाँ जलवर्षा बहुत ही थोड़ी होती है। पृथ्वी के जिन भागों में समुद्र के निकटवर्ती पर्वत खंड बहुत ऊँचे हैं वहाँ स्थल के भीतरी भागों में जलवर्षा का लगभग पूर्ण अभाव होता है। पर्वत खंडों का प्रभाव जल वर्षा पर बहुत ही घनिष्ट है। न केवल इसलिए कि उनसे धरातली पवनों की जलराशि स्थल के भीतरी भागों में आने से रुकता है, वरन् इसलिए भी कि ऊँचे पर्वत शिखरों पर चक्रवात की उत्पत्ति बहुधा होती रहती है। ये चक्रवात् स्थल के भीतरी भागों में चलने वाली पवनों में बहुत कुछ हेर-फेर कर देते हैं, और इसलिए स्थल के भीतरी भागों में भी वर्षा का होना संभव होता है। एक ओर तो ऊँचे पर्वत वर्षा को अपने ही तक रोकने का प्रयत्न करते हैं, और दूसरी ओर, चक्रवातों द्वारा भीतरी भागों में वर्षा करने का प्रयत्न भी।

वर्षा का वितरण

वर्षा और बादल का बहुत घनिष्ट संबंध है। जहाँ बादल होते हैं वहीं जलवर्षा हो सकती है। ऐसा देखा गया है कि बादलों का संबंध अक्षांश रेखाओं से बहुत कुछ है। नीचे दिए हुए चित्र में पृथ्वी पर बादलों का वार्षिक वितरण दिखलाया गया है। इस चित्र को देखने से यह ज्ञात होता है कि सबसे अधिक बादल विषुवत रेखा पर होते हैं। बादलों की यह अधिकांश मात्रा विषुवत् रेखा के उत्तर-दक्षिण सूर्य के साथ-साथ हटती रहती है।

१५° और ३५° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के बीच वाले क्षेत्र में बादलों की मात्रा बहुत कम होती है।

३५° और ६०° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांश के बीच वाले क्षेत्र में फिर वादलों की मात्रा अधिक हो जाती है और ध्रुव के निकट वादलों की मात्रा कम होती है।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ न्यून वायु-भार वाले क्षेत्र हैं, वहाँ पर वादलों की मात्रा अधिक होती हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ वायु-भार अधिक है, और इसलिए वायु ऊपर नहीं उठती है, वहाँ वादलों की मात्रा कम होती है।

वादलों की मात्रा पर निम्नलिखित वातों का प्रभाव भी अधिक होता है :—

(१) समुद्र की अपेक्षा स्थली खंडों पर वादलों की मात्रा अधिक होती है।

(२) वाह्य चक्रवात (एन्टी साइक्लोन) वाले क्षेत्रों की अपेक्षा आंतरिक चक्रवात (साइक्लोन) वाले क्षेत्रों में वादलों की मात्रा अधिक होती हैं।

(३) पवन विमुख (लीवर्ड) पर्वती ढाल की अपेक्षा पवन के समक्ष वाले (विन्डवर्ड) ढाल पर वादलों की मात्रा अधिक होती है।
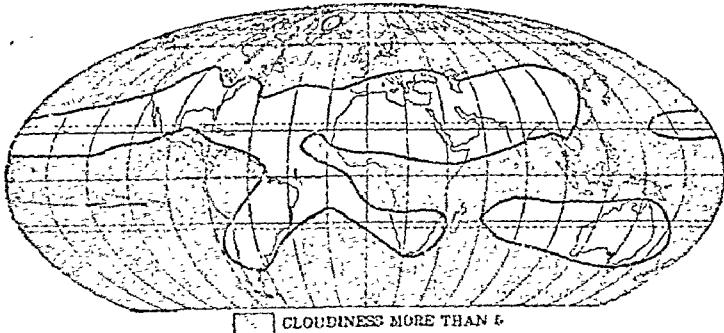
चित्र ४१—वादलों का वार्षिक वितरण

वादलों के रूप

वादल ४ मुख्य प्रकार के होते हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) श्वेत वादल, (सिर्रस) (२) फैला वादल (स्ट्रेटस), (३) गट्ठा वादल, या मुकुटधारी (क्यूमुलस) और (४) काला वादल, (निम्वस)

श्वेत (सिर्रस) वादल सबसे अधिक ऊँचाई पर वनते हैं। कभी-कभी उनकी ऊँचाई धरातल से ४ या ६ मील ऊपर होती है। ये वादल बहुत ही छोटे-मोटे हिम कणों से वनते हैं। इनका रंग विलकुल सफेद होता है और इनका रूप धुनी हुई रुई अथवा धुँघराले सफेद वालों की भाँति होता है। कभी-कभी ये वादल केवल एक हल्के सफेद धुएँ की भाँति ही होते हैं। चन्द्रमा के चारों ओर रंगीन कुंडलियाँ इन्हीं वादलों के कारण ही वनती हैं। आंतरिक चक्रवात का आगमन इन्हीं वादलों के आने से पहले पहल ज्ञात होता है। चक्रवात जब ५ या ६ सौ मील की दूरी पर होता है उसी समय ये वादल दिखाई देने लगते हैं। अगले पृष्ठ के चित्र में ये वादल दिखाये गये हैं।

चित्र ४२—श्वेत बादल

फले (स्ट्रेटस) बादल पर्त लगा कर आकाश में एक ओर से दूसरी ओर तक फैल जाते हैं। ये बादल कभी-कभी ५ हजार फुट से लेकर २० हजार फुट की ऊँचाई तक मिलते हैं और कभी-कभी धरातल के बहुत ही निकट हजार या दो हजार फुट की ऊँचाई पर ही ये बादल होते हैं। जब ये अधिक ऊँचाई पर होते हैं, तब इनका रंग सफेद होता है। जब ये धरातल के निकट होते हैं तब इनका रंग काला होता है। कभी-कभी स्ट्रेटस बादलों में अन्य जाति के बादल भी मिल जाते हैं। ऐसी दशा में इन बादलों की तहें छोटे-छोटे टुकड़ों में होती हैं। इनसे पूरा आकाश इस दशा में नहीं ढक पाता। स्ट्रेटस बादल जब अन्य जातियों से मिल जाते हैं तब उनके नाम, मिलने वाले बादलों के अनुसार 'स्ट्रेटो-क्यूमुलस' और 'स्ट्रेटो-निम्बस' कहलाते हैं। अधिक ऊँचाई पर इन बादलों का 'आल्टो-स्ट्रेटस' कहते हैं।

गट्ठा (क्युमुलस) मुकुटधारी बादल का मुख्य चिन्ह उसकी फूलदार चोटी होती है। इन बादलों का संबंध उठती हुई उष्ण वायु से ही होता है। इसी लिये ग्रीष्म ऋतु में, तथा

चित्र ४३—फैला बादल

मध्यान्ह के उपरांत हो ये बादल प्रायः दिखलाई देते हैं। इन बादलों से वर्षा बहुधा अधिक हुआ करती है। इन बादलों को चोटी प्रायः धरातल से तीन मील तक ऊपर पहुँच जाती है, और इनका नीचे का भाग धरातल से लगभग १ मील को ऊँचाई पर होता है। इनका रंग काला और सफेद मिला हुआ होता है। इनका कालापन निम्बस बादलों के कारण होता है। ये बादल सदा छोटे-छोटे टुकड़ों में हो आकाश में पाये जाते हैं। इनसे आकाश पूर्णतया कभी नहीं ढकता।

नीचे दिये हुए चित्र में ये बादल दिखाये गये हैं।
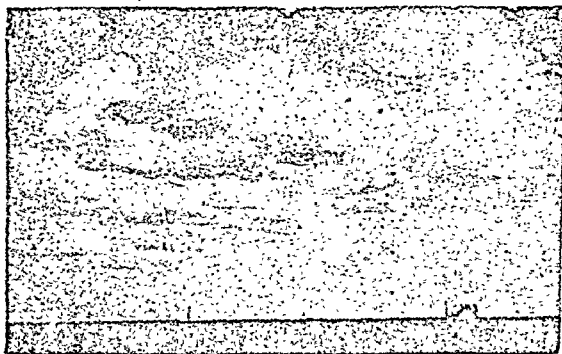
चित्र ४४—मुकुटधारी बादल

काले (निम्बस) बादल धरातल के बहुत ही समीप होते हैं। इनकी ऊँचाई धरातल से प्रायः १ से ८ हजार फुट तक होती है। ये बादल काले रंग के धुएँ के रूप में होते हैं। इनसे आकाश पूर्णतया ढक जाता है। इन बादलों से वर्षा अधिक होती है।

निम्बस बादल को मिलावट अन्य बादलों में बहुधा होती है। मिलावट की दशा में ये बादल आकाश में छोटे-छोटे टुकड़ों में ही मिलते हैं। वर्षा की दृष्टि से उपरोक्त बादलों में निम्बस और क्यूमुलस बादलों का ही महत्व है। अन्य बादलों से वर्षा नहीं होती है।

उपरोक्त कथन से यह विदित हो जाता है कि जलवर्षा का संबंध वायु के ताप से अधिक है। ताप के कारण ही वायु में जल को वाष्प रह सकती है; और ताप के घटने पर हो इस वाष्प से जल-बिन्दु बनते हैं। इसका परिणाम यह है कि धरातल पर अधिक जल वर्षा प्रायः वहीं होती है जहाँ पर अधिक ताप होते हैं। जहाँ, साधारणतया ताप कम होता है वहाँ जल वर्षा भी कम होती है। विषुवत रेखा के निकटवर्ती प्रदेशों में अधिक ताप होने के कारण पृथ्वी पर सबसे अधिक जलवर्षा होती है। शीतोष्ण खंड

में विपुवत रेखीय प्रदेशों से कम, और ध्रुव प्रदेशों में शीतोष्ण खंड से भी कम जलवर्षा होती है। विपुवत रेखा से अधिक दूर जाने पर, ताप की कमी के कारण न तो वायु में अधिक वाष्प ही होते हैं, और न अधिक वाष्पीकरण (इवापरेशन)।

प्रायः यह देखा जाता है कि जिन स्थानों पर समुद्र से आने वाली पवनों के मार्ग में पर्वत स्थित हैं वहाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा, बहुत जलवर्षा होती है। भारत में स्थित चेरापूँजी तथा हवाई द्वीप में स्थित वलीलियाले स्थानों में ऐसी ही अवस्था मिलती है। आगे दिए हुए चित्र में जलवर्षा का विपुवत् रेखीय खंड़ों में स्थित पर्वतों से घनिष्ठ संबंध स्पष्ट हो जाता है। पूर्वी द्वीप-समूह, अमेजन की घाटी का एंडीज पर्वत के निकट वाला भाग, तथा गिनी तट की अधिक जलवर्षा उपरोक्त कारणों से ही होती है। इस चित्र से यह भी ज्ञात होता है कि उष्ण खंड के अधिकतर भागों में ८० इंच जल वर्षा होती है, परन्तु शीतोष्ण खंड में वर्षा का वार्षिक औसत ४० इंच से कम होता है। ध्रुव खंडों में तो यह औसत १० इंच के लगभग ही रह जाता है।

जलवर्षा का संबंध अधिक ताप के होने के कारण पृथ्वी के अधिकतर भागों में ग्रीष्म ऋतु ही जलवर्षा की ऋतु होती है। परन्तु पृथ्वी पर कुछ भाग ऐसे भी हैं जहाँ पर ग्रीष्म ऋतु में जलवर्षा के लिए सहायक अवस्थाएँ नहीं होती हैं। इन स्थानों में इस ऋतु में वायु को शीतल करने वाली दशाएँ नहीं मिलती हैं, जिससे जलवर्षा नहीं हो पाती। ऐसे क्षेत्र विशेषकर वे हैं जिनकी जलवायु भूमध्य सागरीय (मेडीटेरीनियन) जलवायु है। उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी योरप, इजराइल, कैलफोर्निया में, दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर, तथा आस्ट्रेलिया के दक्षिणी भागों में जलवर्षा की ऋतु शीत ऋतु में पाई जाती है। इन खंडों में धरातली पवनों मे परिवर्तन होने के कारण केवल शीत ऋतु में ही समुद्र से पवनें आती हैं। ग्रीष्म ऋतु में यहाँ पर चलने वाली धरातली पवनों व्यापारिक पवन होती हैं, जिनसे पहाड़ों के पवन समक्षी (विन्डवर्ड) ढालों पर ही वर्षा हो सकती है; अन्य स्थानों पर नहीं। क्योंकि अन्य स्थानों पर यह पवन कम ताप वाले क्षेत्रों से अधिक ताप वाले क्षेत्रों को जाती है, और इसलिए उसकी जल धारण करने की शक्ति बढ़ जाती है।

पृथ्वी पर कुछ भाग ऐसे भी हैं जहाँ शीत तथा ग्रीष्म, सभी ऋतुओं में जलवर्षा होती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि जलवर्षा के लिए सबसे अधिक सहायक कारण वायु का ऊपर उठना है। वायुमंडल की शान्त पेटी (डोलड्रम) विपुवत रेखा के समीप स्थित है। इस पेटी में वर्ष भर वायु ऊपर उठा करती है, और इसलिए विपुवत रेखीय शांत पेटी में वर्ष के बारहों मास जलवर्षा होती है। इसी प्रकार ध्रुव खंडों में भी ग्रीष्म ऋतु में तथा शीत ऋतु में आन्तरिक चक्रवात (साइक्लोन) के आगमन से जलवर्षा हुआ करती है। शीतोष्ण खंडों के पश्चिमी समुद्र तटों पर भी सभी ऋतुओं में जलवर्षा होती है, क्योंकि वहाँ पर भी आन्तरिक चक्रवात ही वर्षा का मुख्य कारण है।

वर्षा का ऋतुवत् अन्तर शीतोष्ण खंडों में तथा उष्ण खंड में अधिक देखा जाता है। शीतोष्ण खंड में समुद्र तट के निकट अधिक वर्षा शीत ऋतु के आरंभ में होती है। परन्तु समुद्र तट से दूर भीतरी स्थली भागों में सबसे अधिक जलवर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती है। उष्ण खंड में सबसे अधिक जलवर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती है। वहाँ पर शीत ऋतु प्रायः शुष्क ही होती है।

पहाड़ी ढालों पर होने वाली जलवर्षा में भी अन्तर पाया जाता है। वहाँ पर सबसे अधिक जलवर्षा लगभग सात-आठ हजार फुट की ऊँचाई पर होती है। नीची ढालों पर कुछ कम वर्षा, और लगभग दस हजार फुट से ऊँचे ढालों पर सबसे कम जलवर्षा होती है। अधिक ऊँचाई पर कम जलवर्षा होने का कारण न केवल यह है कि वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वायु की जलराशि बहुत कम हो जाती है; वरन् यह भी कि पर्वतों में अधिक ऊँचाई पर कटाव बहुत होते हैं जिनमें उठने वाली पहाड़ी ढाल की दूसरी ओर निकल जाती है।

वर्षा के ऋतुवत् अन्तर के अतिरिक्त; उसमें दैनिक अन्तर भी होता है। उष्ण खंड में सबसे अधिक जलवर्षा मध्यान्ह के उपरान्त हुआ करती है; परन्तु शीतोष्ण खंड में विशेषकर समुद्र के निकटवर्ती स्थानों में सबसे अधिक जलवर्षा रात्रि में होती है।

अधिक ताप से संबंधित होने के कारण जलवर्षा की ऋतु सूर्य की दशा पर भी निर्भर है हमारी ग्रीष्म ऋतु में सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में रहता है, और इसलिए शांत पेटी सूर्य के साथ-

चित्र ४५—विषुवत रेखीय खंडों में जलवर्षा
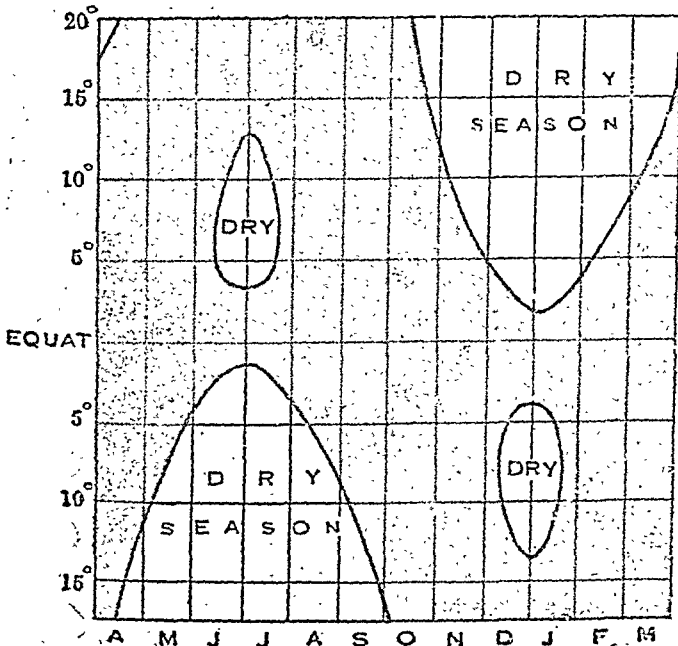
साथ उत्तरी गोलार्द्ध में आ जाती है। हमारी शीत ऋतु में यह पेटी दक्षिणी गोलार्द्ध में चली जाती है। सूर्य से संबंधित होने के कारण विषुवत् रेखीय खंडों में, अर्थात् विषुवत रेखा से १० अंश उत्तर तथा १० अंश दक्षिण वर्ष में दो वर्षा ऋतुएँ और दो शुष्क ऋतुएं हुआ करती है। स्वयं विषुवत् रेखा पर शुष्क ऋतु कभी नहीं होती है। दो वर्षा ऋतुओं का कारण वास्तव में कर्क और मकर रेखाओं के मध्य सूर्य का उत्तर दक्षिण भ्रमण है। विषुवत रेखा को पार कर कर्क रेखा की ओर एक बार आने में और दूसरी बार लौटने में सूर्य की किरणें अधिक सीधी पड़ती हैं। दो वर्षा ऋतुओं का होना सूर्य की इन्हीं दो अवस्थाओं पर निर्भर है। जैसा कि ऊपर दिये हुए चित्र में दिखलाया गया है, उत्तरी गोलार्द्ध में पहली शुष्क ऋतु जून और जुलाई में होती है; दूसरी और लम्बी शुष्क ऋतु नवम्बर से लेकर मार्च तक होती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसके विपरीत लम्बी शुष्क ऋतु मार्च से अगस्त तक और छोटी शुष्क ऋतु दिसम्बर और जनवरी में होती है।

नीचे दी हुई तालिका से यह ज्ञात होता है कि जल वर्षा का वास्तविक संबंध वाष्पीकरण से ही है। जो कुछ जलवर्षा होती है वह सब समुद्र से ही आती है। तालिका से यह भी विदित होता है कि वाष्पीकरण द्वारा जितना जल पूरे संसार में वायुमंडल में खिंच जाता है उतना ही जलवायु मंडल से जलवर्षा होने में मिल सकता है; न कम न अधिक।

जलवर्षा और वाष्पीकरण

अक्षांश	समुद्र पर		स्थल पर		पूर्ण पृथ्वी	
	वर्षा	वाष्पीकरण	वर्षा	वाष्पीकरण	वर्षा	वाष्पीकरण
९०—८०	०.५	०.२	०.१	०	०.६	०.२
८०—७०	०.४	०.७	०.९	०.३	३.३	१.०
७०—६०	०.७	०.७	४.७	१.६	७.३	२.३
६०—५०	१०.४	४.४	७.४	५.३	१७.८	९.७
५०—४०	१७.६	१०.५	८.१	५.५	२९.०	१५.९
४०—३०	१०.७	२०.०	८.४	५.९	१८.८	२५.९
३०—२०	१५.५	२९.९	११.९	७.३	१७.४	३६.४
२०—१०	१९.७	३७.८	१०.७	८.९	३०.५	४६.६
१०— ०	४७.५	३४.०	१७.४	११.६	६४.९	४५.६
दक्षिण						
०—१०	३२.२	३८.४	१८.८	१२.७	५१.०	५१.२
१०—२०	२२.२	४०.१	१०.३	८.५	३२.५	४८.५
२०—३०	१५.९	३४.६	७.३	३.८	२१.९	३८.४
३०—४०	२८.६	२८.८	२.३	२.१	३०.९	३०.८
४०—५०	२८.०	१७.७	०.९	०.५	२८.९	१८.२
५०—६०	१७.७	५.८	०.२	०	१७.९	५.९
६०—७०	५.०	१.५	०.२	०.१	५.२	१.६
७०—८०	०.५	०.२	२.६	०.४	३.१	०.६
८०—९०	०	०	१.२	०.२	१.२	०.२

जलवर्षा और पृथ्वी की दैनिक गति

उष्ण कटिबंध के स्थलीय भागों में समुद्र की दूरी का जलवर्षा पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है; क्योंकि इस भाग में जलवर्षा अधिकतर ऊपर उठनेवाली वायु तरंगों से होती है, इसलिए समुद्र से आने वाले धरातली पवनों का प्रभाव यहाँ जलवर्षा की दृष्टि से कम होता है। परन्तु शीतोष्ण खंड में समुद्र की दूरी का जलवर्षा की मात्रा पर प्रभाव अधिक होता है। योरप के पश्चिमी भाग में समुद्र के निकट जलवर्षा का वार्षिक औसत लगभग ४०" है, परन्तु मध्यवर्ती योरप में पश्चिमी समुद्र तट से; जहाँ से वर्षा देने वाली पवनें आती हैं; दूरी बढ़ जाने के कारण वार्षिक जलवर्षा का औसत केवल २५"-३०" ही रह जाता है। अधिक पूर्व की ओर बढ़ने पर रूस में जल वर्षा की मात्रा और भी कम हो जाती है।

पृथ्वी की दैनिक गति के कारण जलवर्षा देने वाली समुद्री पवनें स्थली भागों में चक्कर देकर ही पहुँच सकती हैं; सीधी नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि जलवर्षा का प्रभाव स्थल में बहुत दूर तक फैल जाता है। परन्तु उष्ण खंड में यह प्रभाव कम देखा जाता है; क्योंकि वहाँ पर पृथ्वी की दैनिक गति के कारण पवन को इतना घूम कर नहीं चलना पड़ता है जितना कि शीतोष्ण अथवा ध्रुव खंडों में। उष्ण खंड में वर्षा करने वाली वायु शीघ्र ही तप्त और न्यून भार वाले स्थान तक पहुँच जाती है।

जलवर्षा की मात्रा

अधिक ताप वाली वायु के शीतल होने पर कम ताप वाली वायु की अपेक्षा अधिक जलवर्षा की मात्रा मिलती है। नीचे दी हुई तालिका में ताप में प्रति दश अंश का अन्तर है, परन्तु ताप के अनुपात से कहीं अधिक वाष्प की मात्रा में अन्तर होता है। यदि १०० अं० वाली वायु का ताप १० अं० कम हो जाय तो उससे ५ इंच वर्षा हो सकती है। यदि ७० अं० वाली वायु का ताप कम किया जाय, तो उससे केवल २ इंच के लगभग ही वर्षा हो सकती है। यह स्वाभाविक ही है; क्योंकि जितनी अधिक तप्त वायु, उतनी ही अधिक उसमें वाष्प।

वायु के ताप और जलधारण-शक्ति का सम्बन्ध

ताप, अ० फा०	जलवाष्प ग्रेन	आर्द्रता की प्रगति, ग्रेन
३०°	१.९	१.०
४०°	२.९	१.०
५०°	४.१	१.२
६०°	५.७	१.६
७०°	८.०	२.३
८०°	१०.९	२.९
९०°	१४.७	३.८
१००°	१९.७	५.०

हिम वर्षा

ऊष्ण खंड के बाहर तथा पर्वतों की अधिक ऊँचाई पर शीत ऋतु में ताप में अधिक कमी हो जाने पर वायु में स्थित वाष्प में हिमकण बन जाते हैं, और पृथ्वी पर इसी रूप में आ जाते हैं। वहाँ ये हिमकण कुछ समय के उपरान्त जल-बिन्दु बन जाते हैं। कभी-कभी बहुत दिनों तक, शीतल ताप होने के कारण हिम नहीं पिघलता। हिम वर्षा के लिये यह आवश्यक है कि वायु का ताप बादल बनने के उपरान्त ३२ फ० से नीचे पहुँच जाय। परन्तु इस ताप के पहुँचने के पहले ही जल कण बन जा सकते हैं, यदि वायु में वाष्प की मात्रा अधिक हो, अर्थात् हिम वर्षा के लिये दो बातें आवश्यक हैं; पहली यह कि वायु में जल मात्रा बहुत कम हो, और दूसरी यह कि वायु का ताप हिम बिन्दु (फ्रीजिंग प्वाइंट) के नीचे पहुँच जाय। ये दोनों बातें शीत ऋतु में ही अधिक ऊँचाई पर; और ऊँचे अक्षांशों में ही संभव है। ऐसे स्थानों में कभी-कभी वर्ष के आठ महीने तक हिम धरातल पर बिना पिघले हुए इकट्ठा होती रहती है; क्यों कि हिम पिघलने के योग्य ऊँचे ताप केवल ग्रीष्म के उत्तरार्द्ध में ही मिलते हैं। उदाहरण के लिए, सायबेरिया में अक्टूबर से लेकर अप्रैल के अन्त तक हिम धरती पर पड़ी रहती है। पीछे दिये हुए ताप के चित्र में जो भी स्थान हिम-बिन्दु से कम ताप वाले स्थान हैं उन सबमें शीत ऋतु में हिम वर्षा पाई जाती है। समुद्र के निकट हिम वर्षा और जल वर्षा मिली-जुली रहती हैं, परन्तु स्थल के भीतरी भाग म शीत ऋतु में वर्षा प्रायः होती ही नहीं; केवल हिम वर्षा ही होती है।

कोहरा, ओस और पाला
(फाग, डिउ, और फ्रास्ट)

उपरोक्त वर्णन में वायु में स्थित जल-वाष्प का परिवर्तन अधिक ऊँचाई पर ही माना गया है। परन्तु कभी धरातल को छूने वाली वायु के नीचे भाग में वाष्प का परिवर्तन जल अथवा हिम में हो जाता है। शीत ऋतु में रात्रि में धरातल अति शीतल हो जाती है। इस समय यदि कोई वायु शीतल धरातल से छू जाती है तो उसमें स्थित वाष्प से बहुत ही छोटे-छोटे जल कण बन कर जमा हो जाते हैं। इन बिन्दुओं को ओस (डिउ) कहते हैं। साधारण अवस्था में धरातल पर मिलने वाली घास तथा अन्य छोटी वनस्पति में स्थित जल से ही यह ओस बना करती है। वनस्पति के चारों ओर जो वायु होती है उसी में दिन को इसका थोड़ा बहुत जल वाष्प बन कर मिल जाता है। रात्रि में धरातल की शीतलता के कारण इसी वाष्प से ओस बन जाती है। वर्षा ऋतु में वनस्पति से अधिक जल प्राप्त होने के कारण कम शीतलता में भी रात्रि को ओस बन जाती है। शीत ऋतु में वनस्पति से जल कम मिलने पर भी अधिक शीतलता के कारण अधिक ओस पड़ा करती है।

इसी प्रकार शीत ऋतु में तथा शीत देशों में तट पर भी रात्रि में अधिक वाष्प वाली उष्ण वायु पवनों द्वारा शीतल स्थल में आ जाती है। स्थल पर स्थित शीतल वायु से स्पर्श होने पर इस उष्ण वायु का ताप कम हो जाता है, और उसमें स्थित वाष्प से जल के छोटे-छोटे कण बन जाते हैं। ये कण वायु में ही उड़ते रहते हैं, धरातल पर गिरते नहीं। वायु में इन जल-कणों की इतनी अधिकता हो जाती है कि उसमें कुछ भी दिखलाई नहीं देता। चारों ओर एक धुआँ सा छा जाता है। यह धुआँ वास्तव में बादल ही है। बादल और इस धुआँ अर्थात् कोहरा में अन्तर केवल इतना है कि बादल धरातल से बहुत ऊँचाई पर स्थित होते हैं, और कोहरा धरातल पर ही। इस अन्तर का अनुभव पहाड़ी स्थानों पर भलीभाँति होता है। पहाड़ी भागों में ऊपर से देखने पर यह धुआँ बादलों के रूप में ऊपर उठता हुआ दिखलाई देता है। थोड़े समय में जब ये बादल ऊपर आकर दर्शक के चारों ओर फैल जाता है, तो उसको ये केवल कोहरा के रूप में दिखते हैं।

पवन के चलने पर जिस प्रकार बादल उड़ जाते हैं, उसी प्रकार यह कोहरा भी उड़ जाता है। समुद्र तट से उड़ कर कभी-कभी यह कोहरा स्थल पर कई मील तक फैल जाता है। योरप के पश्चिमी तट पर इस प्रकार कोहरा स्थल में कभी-कभी बीस-पच्चीस मील तक फैल जाता है। इंगलिश चैनल से उत्पन्न कोहरा लन्दन तक पहुँच जाता है।

कोहरे का अन्त दिन में सूर्य की किरणों के ताप की प्रगति पर निर्भर है। ज्यों-ज्यों ताप बढ़ता है, त्यों-त्यों वायु की उष्णता बढ़ती है और त्यों-त्यों जल के ये कण पुनः वाष्प बन जाते हैं। यही कारण है कि शीत में प्रातः काल का कोहरा सूर्योदय के कुछ समय पश्चात् हट जाता है।

कोहरा दो प्रकार का होता है

१. वायु-मिश्रण कोहरा (ऐडवेकेशन फाग), और

२. शीत-स्थल कोहरा (रेड़िएशन फाग)

वायु-मिश्रण कोहरा उस अवस्था में बनता है जब कि किसी अन्य स्थान से आई हुई उष्ण वायु का संपर्क किसी स्थान की शीतल वायु से होता है। परन्तु शीत-स्थल कोहरा उसी स्थान की वायु के ताप में कमी हो जाने पर होता है। इस प्रकार के कोहरा के लिए यह आवश्यक है कि पवन न चलती हो जिससे शीतल वायु अपना स्थान परिवर्तन न कर सके।

कभी-कभी कोहरे के कारण आवागमन में काफी अड़चन पड़ती है। शीतोष्ण खंड के उन समुद्री भागों में जिनमें उष्ण जल-धारा और शीतल जलधारा का मेल होता है,

अधिक कोहरा मिलता है। इंगलैण्ड के समीप उत्तरी अटलांटिक महासागर में, तथा जापान के निकट उत्तरी प्रशान्त महासागर में कोहरा के कारण जहाजों को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

जहाँ कहीं स्थल पर वायु का ताप हिमविन्दु अर्थात ३०° फ०से नीचे पहुँच जाता है, वहाँ पर धरातल से लगी हुई नीची वायु में स्थित वाष्प से हिम कण बन कर धरातल पर एक पतली तह के रूप में जम जाते हैं। यदि ताप में और अधिक कमी होती है तो छोटी-मोटी वनस्पति में स्थित जल उसके भीतर ही जम जाता है जिससे उसकी मृत्यु ही जाती है। धरातल पर वायु अथवा वनस्पति में स्थित जल के जमने को पाला कहते हैं शीत प्रदेशों में कहीं-कहीं पर पाला इतना कठोर होता है कि उसके कारण छोटी-मोटी वनस्पति का शीत ऋतु में होना असंभव है। केवल बड़े-बड़े पेड़ ही जीवित रह सकते हैं। जिनकी रक्षा उनकी मोटी छाल द्वारा होती है। इन बड़े पेड़ों की भी पत्तियाँ शीत ऋतु के आरंभ काल ही में गिर जाती हैं। पाले का प्रभाव धरातल की मिट्टी पर भी होता है। खेतों की मिट्टी जम कर इतनी कड़ी हो जाती है कि शीत ऋतु में हल द्वारा उसका जोतना अथवा किसी अन्य प्रकार से तोड़ना या खोदना असंभव है। ऐसे देशों में मकानों की नींव शीत ऋतु में खोदने के लिए विशेप प्रकार के यंत्र धरातल को अग्नि से गरम करके व्यवहार में लाए जाते है। पाला के ही कारण योरप तथा अमेरिका में शीत ऋतु में खेती नहीं होती है।

जलवर्षा की भाप
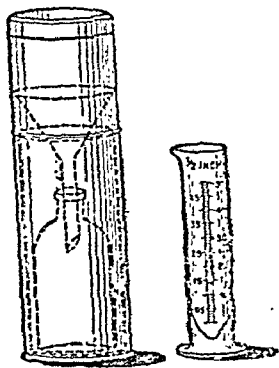
चित्र नं० ४५

जो जल धरातल पर गिरता है उसको जलवर्षा कहते हैं। किसी क्षेत्र में हुई वर्षा को नापने के लिए दो विशेप प्रकार के बर्तन होते हैं; एक चोंगेदार बर्तन जिसमें वर्षा का जल गिरता है, और दूसरा जल नापने वाला ट्यूब। चोंगेदार बर्तन को तल से एक फुट की ऊँचाई पर रखा जाता है। बर्तन के चोंगे का व्यास एक विशेप नाप का होता है जिससे उसका क्षेत्रफल सुविधापूर्वक निकाला जा सके। प्रायः उसका व्यास ८ या ५ इंच का होता है, बर्तन में आया वर्षा का जल एक नाप वाली नली में डालते हैं और उसकी नाप को चोंगे के क्षेत्रफल से भाग देकर ज्ञात करते हैं कि आस-पास के क्षेत्र

में किसी विशेष समय में कितनी जलवर्षा हुई। चोंगे में बड़ी सावधानी से जल इकट्ठा करना चाहिए जिससे उसके भीतर का जल भाप बन कर, वह कर अथवा सोख कर कम न हो सके जमीन पर की छींटें भी उसमें न जायँ।

पीछे दिये हुये चित्र में जलवर्षा नापने के दोनों वर्तन दिखाये हैं।

वायुमंडल (क्रमशः)

चक्रवात (स्टार्म)

पिछले अध्यायों में वायुमंडल का संचालन, तथा ताप और जल वितरण का अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि साधारण अवस्था में वायुमंडल की अनेक दशायें नियमित रूप से उत्पन्न हुआ करती हैं। परन्तु हमको यह भी ज्ञात है कि सूर्य की किरणों की असाधारण दशा के कारण वायुमंडल नियमित रूप से सदा एक सा नहीं रहता है। इन असाधारण परिवर्तनों का संबंध बहुत अंश तक वायुमंडल में भिन्न-भिन्न प्रकार की गति से है। ताप वितरण का अध्ययन करने से यह विदित हो गया है कि पृथ्वी पर कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ पर एक विशेष प्रकार का ताप वितरण पाया जाता है। यह ताप वितरण पृथ्वी पर जल व थल की विभिन्नताओं पर; तथा विषुवत् रेखा से दूरी अर्थात् अक्षांशों पर निर्भर है। ताप की इन विशेषताओं का प्रभाव इन क्षेत्रों में स्थित वायु में भी देखा जाता है।

वायु की विशेषता केवल उसके ताप में ही नहीं है, वरन् उसमें स्थित जल की मात्रा में भी है। ताप और जल के अनुसार धरातल की वायु ९ भिन्न-भिन्न वायु राशियों में विभाजित की जाती है। इनके नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) आर्कटिक स्थली वायुराशि, (२) आर्कटिक समुद्री वायुराशि, (३) ध्रुवी स्थली वायुराशि, (४) ध्रुवी समुद्री वायुराशि, (५) उष्ण खंडीय स्थली वायुराशि, (६) उष्ण खंडीय समुद्री वायुराशि, (७) विषुवत् रेखीय वायुराशि, (८) मौसमी वायुराशि, (९) उच्च वायुराशि।

उपरोक्त वायुराशियों का ज्ञान उनकी (१) आर्द्रता, (२) उनके धरातलीय ताप वितरण, और (३) उनकी ऊँचाई में ताप परिवर्तन की गति से होता है। किसी भी वायुराशि के ये तीनों गुण उसके धरातली क्षेत्र से ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये इन धरातली क्षेत्रों को वायुराशि के उत्पत्ति क्षेत्र (सोर्स रीजन) कहते हैं। आर्कटिक तथा ध्रुव क्षेत्रों के शीतल क्षेत्र, उष्ण खंड के मरुभूमि तथा उष्ण समुद्र इत्यादि क्षेत्र इतने विस्तृत क्षेत्र में ताप व जल की दशा में लगभग समान होते हैं, कि उन पर लगी हुई वायु-राशि में ताप व जल की ये विशेषताएँ शीघ्र ही फैल जाती हैं।

ऊपर यह भी देखा गया है कि वायु भार की भिन्नता के कारण धरातल पर वायु सदा एक स्थान से दूसरे स्थान को चला करती है। वायु का यह वहन वायुराशि के एक उत्पत्ति क्षेत्र से दूसरे उत्पत्ति क्षेत्र को ऋतु के अनुसार हुआ करता है। यह स्पष्ट ही है कि भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार कोई वायुराशि अधिक भार वाली होती है, और कोई वायुराशि न्यूनभार वाली होती है। इसीलिए संचालन होने पर अधिक भार वाली वायुराशि न्यूनभार की ओर चलने लगती है। वायुराशियों को दो अन्य प्रकारों में भी विभाजित किया गया है। एक प्रकार की वायुराशि वह है जिसमें वायु ऊँचाई से धरातल की ओर दबने लगती है। ऐसी वायुराशि में धरातल के निकट वायु की तहें बनने लगती है, और इसलिए उसमें पवन संचालन कम होता है। ऐसी वायुराशि को स्थिर "वायुराशि" (स्टेबल एयर मास) कहते हैं। इस प्रकार की वायुराशि प्रायः शीत ऋतु में और शीतल स्थली खंडों में बहुधा मिलती है। दूसरी प्रकार की वायुराशि वह है जिसमें धरातल से ऊँचाई की ओर वायु उठा करती है। यह दशा अधिकतर उष्ण धरातल पर ग्रीष्म ऋतु में देखी जाती है। ऐसी वायुराशि को "अस्थिर वायुराशि" (अनस्टेबल एयर मास) कहते हैं।

वायुराशि का सिद्धान्त पहले पहल बेरगरान नामक विज्ञानवेत्ता ने निकाला था। इनके सिद्धान्त के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से वायु राशि का विभाजन किया गया है:—

१. भौगोलिक वितरण के अनुसार विभाजन, जैसा कि उपरोक्त वर्णन में बतलाया गया था।

२. ताप और गति के अनुसार विभाजन, जिस पर वायुराशि के धरातली क्षेत्रों के ताप और जल इत्यादि की विशेपताओं का मुख्य प्रभाव हुआ करता है।

दूसरे विभाजन के अनुसार वायुराशि को निम्नलिखित दो भागों में बाँटते हैं :—

१. शीतल वायुराशि अर्थात् वह वायु जो धरातल की अपेक्षा अधिक शीतल होती है। यह वायुराशि धरातल से उष्ण ताप अपने नीचे भागों में ले लेती है। इस उष्ण ताप के कारण ऐसी वायु का ऊँचाई की ओर ताप परिवर्तन बदल जाता है। धरातल की उष्णता के कारण इस वायु में अधिक उपद्रव होने लगता है, और इसलिए वायु की तहें अस्थिर हो जाती हैं।

२. उष्ण वायुराशि अर्थात् वह वायु जो धरातल की अपेक्षा अधिक उष्ण होती है। प्रकृति के नियमानुसार ऐसी वायु की उष्णता धरातल में चली जाती है और वायु की तह शीतल हो जाती है। वायु की तहों में शीतलता होने में उनमें स्थिरता आ जाती है।

वायुराशियों की विशेपताएँ उनके उत्पत्ति के क्षेत्र, उनके मार्ग तथा आयु, अर्था जितने समय तक वे किसी विशेप क्षेत्र में रही हों, इत्यादि के प्रभाव के ही फल हैं। इन विशेपताओं में जो कुछ परिवर्तन होता है, वह धरातल से ही आरम्भ होता है। किसी

वायुराशि की स्थिरता अथवा अस्थिरता के मूल कारण जल और ताप, धरातल पर ही होते हैं। ऊँचाई में किसी वायुराशि में धरातल पर उत्पन्न परिवर्तन कितनी अधिक दूर पहुँचे हैं, इसी से वायुराशि की आयु निर्धारित की जाती है। पुरानी वायुराशि में नीचे ऊपर सभी भागों में नियमित परिवर्तन देखा जाता है। उसमें अस्थिरता बहुत कम होती है; परन्तु नई वायुराशि में नियमित परिवर्तन कम देखे जाते हैं।

वायु राशि की सीमायें

(फ्रन्ट्स)

भिन्न-भिन्न वायुराशियाँ एक दूसरे से स्पर्श करती रहती हैं। जहाँ यह स्पर्श होता है उसको वायुराशि-सीमा (फ्रन्ट) कहते हैं। ये सीमायें ढालुआँ होती हैं; लम्बवत् या सीधी खड़ी नहीं। उष्ण वायुराशि की सीमा का ढाल प्राय: हलका ढाल होता है। परन्तु शीतल वायुराशि की सीमा का ढाल अधिक खड़ा होता है। हल्का ढाल प्राय: १/१०० होता है, कड़ा ढाल प्राय: १/४० हुआ करता है।

हलके और कड़े ढालों का ज्ञान समान भार रेखाओं की दूरी से विदित होता है। इन रेखाओं के मध्य की दूरी अधिक होनें पर सीमा का ढाल हल्का कहा जाता है; परन्तु उनके मध्य की दूरी कम होनें पर सीमा का ढाल कड़ा ढाल कहलाता है।

वायुराशियों की सीमा पर दो प्रकार की वायु में मिश्रण होने लगता है; क्योंकि भिन्न-भिन्न वायुराशियाँ एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की ओर बढ़ती रहती हैं। सीमा पर वायु के मिश्रण से अनेक उपद्रव अर्थात् चक्रवात अथवा झंझावात उत्पन्न हो जाते हैं। ये उपद्रव उन्हीं भवरों के समान होते हैं जो जल की दो धाराओं के संगम पर देखी जाया करती हैं। जिस प्रकार जल की भवरों में एक धारा का जल ऊपर उठता है, और दूसरी धारा का जल नीचे बैठता है, उसी प्रकार उष्ण वायु ऊपर उठती है और शीतल वायु नीचे बैठती है। वायुराशि की सीमाओं पर भी इस प्रकार की भवरें उत्पन्न होती हैं और इसलिए इस सीमा स्थान को पृथक-करण रेखा (लाइन आफ डिसकन्टीनिउटी) कहते हैं। वास्तव में पृथक-करण रेखा का आधार दो क्षेत्रों के तापों का महान् अन्तर ही है।

पृथ्वी पर कुछ भाग ऐसे हैं जहाँ पर भिन्न-भिन्न वायुराशियों की सीमाएँ बराबर एक दूसरे से मिलती-जुलती रहती हैं। इसी प्रकार के क्षेत्र निम्नलिखित हैं:—

१. उत्तरी अटलांटिक, (आइसलैण्ड द्वीप के निकट)

२. उत्तरी प्रशान्त (एल्यूशियन द्वीप के निकट)

३. भूमध्य सागर, (योरप में)

४. विपुवत् रेखीय शीत पेटी, (डोल्ड्रम)

उपरोक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त स्थली भागों में वायुराशियों की क्षणिक सीमाएँ भी स्थानीय ताप परिवर्तन के कारण वहुधा वन जाया करती हैं।

शीतल वायुराशि अधिक भार वाली होती है, और इसलिए उसमें उत्पन्न भँवरें अर्थात् चक्रवात की वायु ऊपर से नीचे उतरती है। उत्तरी गोलार्द्ध में ऐसी भँवरों से संबंधित पवन घड़ी की सुई की दिशा में चलती हैं; अर्थात् इनमें केन्द्र से बाहर की ओर वायु फैलती है। इसीलिए ऐसी भँवरों को वाह्यचक्रवात (एन्टीसाइक्लोन) कहते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में भी वायु इन भँवरों के केन्द्र से बाहर की ओर फैलती है, परन्तु फेरल के नियमानुसार वहाँ इनसे संबंधित पवनें घड़ी की सुई की दिशा के प्रतिकूल चलती हैं।

उष्ण वायु में उत्पन्न भँवरों के केन्द्र में जो वायु होती है उसका भार उसके चारों ओर स्थित वायु की अपेक्षा कम होता है। इसीलिए ऐसे चक्रवात में वायु का वहन केन्द्र की ओर होता है। इस चक्रवात की वायु ऊपर की ओर उठती है, जिससे उसके केन्द्र की ओर धरातल की वायु चारों ओर से एकत्रित होने लगती है। उत्तरी गोलार्द्ध में ऐसे चक्रवात से संबंधित पवनें घड़ी की सुई की दिशा के विपरीत चला करती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में ये पवनें घड़ी की सुई की दिशा में ही चलती हैं। उष्ण वायु के चक्रवात को आन्तरिक चक्रवात (साइक्लोन) कहते हैं; क्योंकि इसमें केन्द्र की ओर वायु एकत्रित होती है। आन्तरिक चक्रवात के केन्द्र का स्थानीय पवनों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इस केन्द्र के चारों ओर पवनें सभी दिशा से चलती हैं। इस केन्द्र की स्थिति जानने का सरल उपाय पवन की दिशा का निरीक्षण है। उत्तरी गोलार्द्ध में यदि हम पवन की ओर मुड़ करके खड़े हों, तो न्यून भार वाला केन्द्र हमारी दाहिनी भुजा की ओर स्थित होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसी अवस्था में केन्द्र की स्थिति हमारी बाईं भुजा की ओर होगी। परन्तु यदि हम पवन की ओर अपनी पीठ करके खड़े हों, तो उत्तरी गोलार्द्ध में, केन्द्र की स्थिति हमारी बाईं भुजा की ओर होगी।

पृथ्वी के सभी भागों में चक्रवात उत्पन्न हुआ करते हैं। परन्तु विपुवत् रेखा के निकट उत्पन्न होने वाले चक्रवात के केन्द्र का क्षेत्र प्रायः बहुत छोटा होता है। इस चक्रवात में बहुत अधिक शक्ति देखी जाती है। चूँकि इस खंड में फेरल के नियम की अड़चन वायु वहन में कम होती है, इसलिए विपुवत् रेखीय चक्रवात् से संबंधित पवनें बड़े वेग से चलती हैं। इनकी गति प्रायः ६०—७० मील प्रति घंटा हुआ करती है। इस अधिक गति के कारण इन "आँधियों" (हरीकेन) से वहुधा बहुत बड़ी क्षति होती है।

शीतोष्ण खंड में उत्पन्न चक्रवात का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। कभी-कभी तो यह क्षेत्र लगभग एक हजार वर्गमील में होता है। इस खंड के चक्रवात से संबंधित पवनें प्रायः

कम वेगवती होती हैं; क्योंकि इन अक्षांश में पवन पर फेरेल के नियम का प्रभाव बहुत होता है।

चक्रवात का सिद्धान्त

कुछ वर्ष पूर्व तक चक्रवात की उत्पत्ति के बारे में विज्ञानवेत्ताओं का मत भिन्न-भिन्न था। अनेक विज्ञान-वेत्ता चक्रवात के मूल कारण की खोज में बहुत दिन से लगे हुए थे। इनमें से हेल्महोट्ज, नेपियरशा और वियरकनेस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। चक्रवात का मूल सिद्धान्त वियरकनेस के नाम से ही पुकारा जाता है। वियरकनेस का यह सिद्धान्त ध्रुवी सीमा सिद्धान्त (पोलर फ्रंट थियरी) कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शीतोष्ण कटिबंध में ध्रुव खंड की शीतल वायु तथा उष्ण खंड से आई हुई उष्ण वायु एक दूसरे को स्पर्श करती हुई चलती है। कभी-कभी इनकी सीमा पर उष्ण वायु का कुछ अंश पृथक्करण रेखा (लाइन आफ डिसकन्टीनिउटी) को पार कर शीतल वायु में घुसने का प्रयत्न करता है; जिससे चक्रवात की उत्पत्ति होती है। इस उष्ण वायु के फैलाव के आगे और पीछे दोनों ओर ध्रुव पर शीतल वायु होती है। इसको शीतल वायु सीमा अथवा ध्रुवी वायु सीमा (कोल्ड फ्रंट अथवा पोलर फ्रंट) कहते हैं। चक्रवात के अग्र भाग में उष्ण वायु होती है। इस अग्रगामी उष्ण वायु को उष्ण वायु सीमा (वार्म फ्रंट) कहते हैं।

आगे दिये हुए चित्र में चक्रवात की उत्पत्ति की भिन्न-भिन्न दशाएँ दिखलाई गई हैं। इस चित्र में आरंभ में शीतल और उष्ण वायु तीरों द्वारा अपने अपने मार्गों पर चलती हुई दिखलाई गई हैं। इन तीरों के मध्यवर्ती भाग में बिन्दुवाली पृथक्करण-रेखा सीधी दिखलाई गई है। दूसरे भाग में नीचे स्थित उष्ण वायु का मुख उत्तर की ओर मुड़ जाने से पृथक-करण रेखा में तथा शीतल पवन की धारा में झुकाव उत्पन्न हो जाता है। अन्य दशाओं में यह झुकाव इतना बढ़ जाता है कि पवन एक केन्द्र के चारों ओर चलने लगती है। अन्त में उष्ण वायु का बढ़ा हुआ अग्र भाग शीतल पवन के ऊपर उठ जाता है और उसका संबंध धरातल से बिल्कुल नहीं रहता। ऐसी दशा में फिर पूर्ववत वायु-संचालन होने लगता है। परन्तु कभी-कभी उष्ण वायु का कुछ भाग धरातल पर इसके बाद भी शेष रह जाता है और इसलिये उससे एक सहकारी चक्रवात (सेकेन्डरी साइक्लोन) बन जाता है, जिसका अन्त भी कुछ समय बाद पूर्ववत होता है।

किसी स्थान पर चक्रवात का अन्त वहाँ की उष्ण वायु के ऊपर उठने पर आरंभ होता है। इस दशा को 'अन्तरिक्ष' (ओक्लूयूजन) कहते हैं। "अन्तरिक्ष" दो प्रकार का होता है; उष्ण अन्तरिक्ष (वार्म फ्रन्ट ओक्लूयूजन), और शीतल अन्तरिक्ष (कोल्डफ्रन्ट ओक्लूयूजन)। उष्ण अन्तरिक्ष में उष्ण वायु चक्रवात के अगले भाग में शीतल वायु के ऊपर चढ़ती है, और शीतल अन्तरिक्ष में चक्रवात के पीछे भाग में शीतल
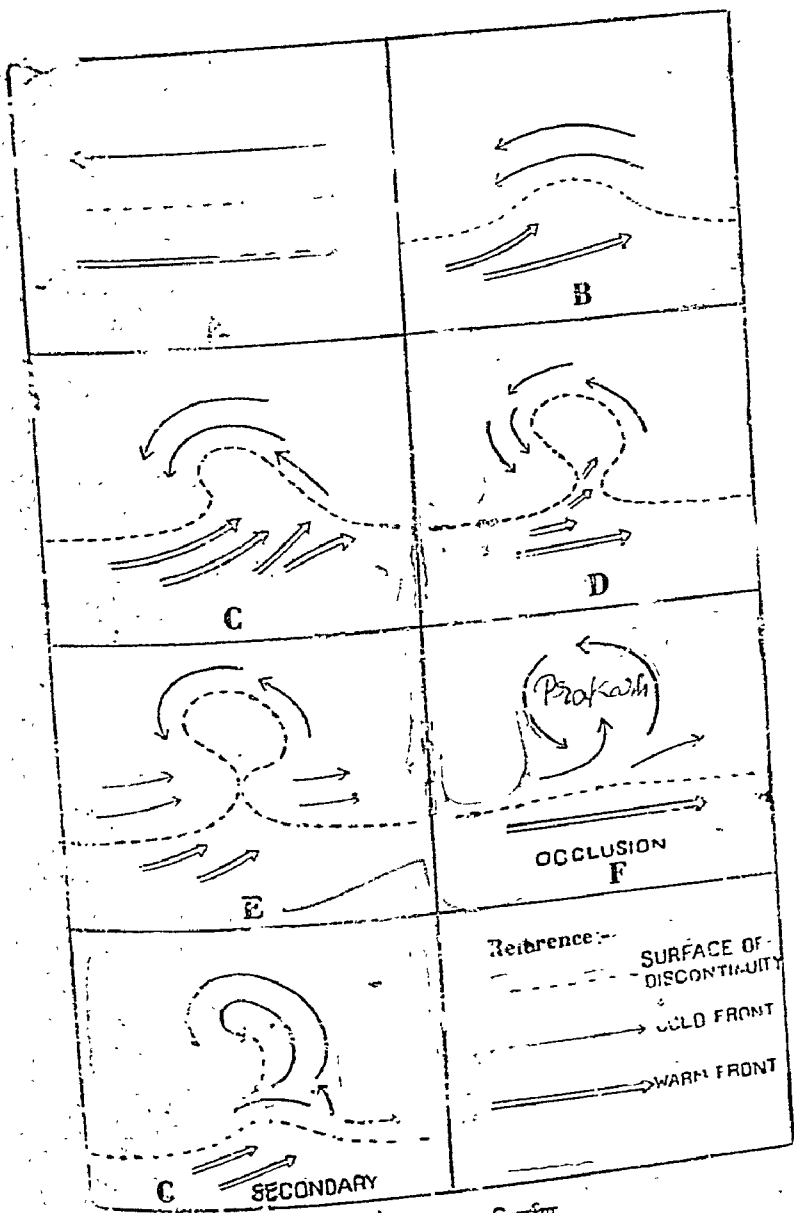
चित्र ४६—चक्रवात का निर्माण

उष्ण वायु को ऊपर उठाती है। नीचे दिये चित्रों में दोनों प्रकार के अन्तरिक्ष दिखाए गए हैं:—

शीतल अन्तरिक्ष उष्ण अन्तरिक्ष
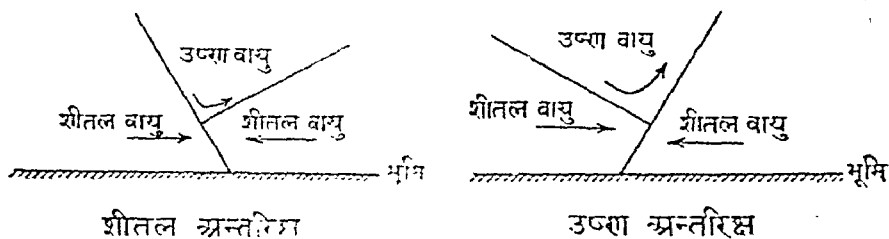
आगे दिये हुए चित्रों में चक्रवात के उत्तर तथा दक्षिण स्थित स्थानों से देखने पर उसकी रचना का ज्ञान होता है। चित्र के ऊपरी भाग में आगे व पीछे की शीतल वायु का संबंध घुसने वाली उष्ण वायु से दिखलाया गया है। मध्य के चित्र में दोनों ओर से शीतल वायु से घिरी हुई उष्णवायु दिखलाई गई है और यह भी दिखलाया गया है कि पवन की चाल किस प्रकार चारो दिशाओं से होती है। चित्र के नीचे भाग में चक्रवात का अंतिम भाग दिखलाया गया है, जिसमें उष्ण वायु धरातल से ऊपर उठ जाती है। इस चित्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के बादलों का चक्रावत् से संबंध भी दिखलाया गया है।

चक्रवात के नए सिंद्धान्त से मौसम का ज्ञान समय से पूर्व ही किया जा सकता है। इस सिद्धान्त में किसी स्थान के ताप, परिवर्तन, जलवर्षा, पवन की दिशा तथा बादलों का पूर्व ज्ञान संभव है। चक्रवात की प्रगति जानने के लिए बैरोमीटर नामक यंत्र से काम लिया जाता है। इस यंत्र में भरा पारा ज्योंही नली में नीचे गिरने लगता है त्योंही चक्रवात का आगमन आरंभ होता है। चक्रवात चले जाने पर पारा फिर ऊपर उठ जाता है। आजकल दूरस्थित चक्रवातों की उपस्थिति जानने के लिये रेडर नामक बिजली का यंत्र प्रयोग में आता है।

चक्रवात का मौसम

साईक्लोनिक वेदर

जैसा कि ऊपर कहा गया है, चक्रवात के आगमन की सूचना आकाश में श्वेत बादलों के आगमन से मिलती है। इन बादलों के आने पर ताप में कुछ अधिकता हो जाती है और उसके कुछ समय बाद हल्की हल्की पवन दक्षिण की ओर से उष्ण वायु को धीरे-धीरे लाने लगती है। यदि आप चक्रवात के मार्ग में हैं, तो थोड़े समय में आप के ऊपर पूरा आकाश काले बादलों से ढँक जायगा और हल्की हल्की वर्षा होने लगेगी। यदि आप उस

मार्ग के उत्तर खड़े हैं तो आपको दक्षिण की ओर से काले बादल की एक बहुत बड़ी राशि चलती दिखलाई देगी। यदि आप मार्ग के दक्षिण में हैं तो ये काले बादल आपको उत्तर में दिखाई देंगे। कुछ समय के बाद बादल छटने लगते हैं, और शीतल पवनें पश्चिम की दिशा से चलने लगती हैं। बादल छटने पर कभी-कभी बादल तड़कने लगते हैं, और बजली चमकने लगती है। शीतल वायु के आने से ताप में अधिक कमी हो जाती है, और कभी-कभी बड़े-बड़े बूंद वाली वर्षा हो जाती है। ये दशाएँ चक्रवात के अन्त की सूचना देती हैं। इसके उपरान्त यदि फिर ताप में अधिकता हो और हल्की वर्षा होने लगे तो यह समझना चाहिए कि सहकारी चक्रवात आया है।
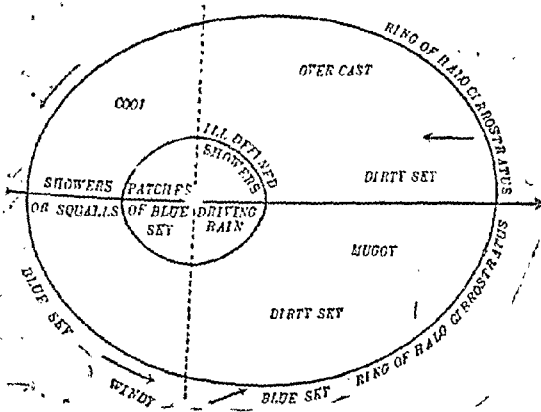
चित्र ४७—आन्तरिक चक्रवात का मौसम

ऊपर दिये चित्र में आन्तरिक चक्रवात का मौसम दिखलाया गया है।

इस चित्र में छोटे-छोटे तीरों द्वारा पवन की दशाएँ दिखाई गई हैं। सबसे लम्बा तीर जो चित्र में एक कोने से दूसरे कोने तक खींचा गया है, चक्रवात का मार्ग दिखाता है। इस चित्र में आन्तरिक चक्रवात के क्षेत्र के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक प्रकार के बादलों के नाम वर्षा के स्थान तथा शीतल अथवा उष्ण ताप का ब्यौरा भी दिया गया है।

चक्रवात के प्रमुख मार्ग

आगे दिए हुए चित्र में चक्रवात के प्रमुख मार्ग दिखाए गए हैं। इन मार्गों से यह स्पष्ट होता है कि संसार में सब से अधिक चक्रवात् शीतोष्ण खंड में आया करता है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की प्रधानता होने के कारण ये मार्ग टेढ़े-मेढ़े हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में, जल की प्रधानता के कारण ये मार्ग प्रायः सीधे हैं। इन मार्गों की दिशा धरातली पवनों के लगभग समानान्तर रहती है। इनकी स्थिति प्रायः उन भागों में है जहाँ पर एक ओर ध्रुव से

आई हुई शीतल और शुष्क वायु का मेल विषुवत् रेखा से आई हुई उष्ण तथा आर्द्रवायु से होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में चक्रवात के मार्ग उत्तरी अमेरिका, उत्तरी अटलांटिक महासागर तथा पश्चिमी और दक्षिणी योरप हैं।

दक्षिणी गोलार्द्ध में चक्रवात पूरे वर्ष भर आते रहते हैं, क्योंकि ध्रुव पर स्थित ऐन्टारकटिक महाद्वीप पर सदा शीतल वायु बनी रहती है, और इसलिए उसमें तथा उसके निकटवर्ती उष्ण वायु में ताप का अन्तर बराबर गहरा रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तरी ऐटलांटिक तथा उत्तरी प्रशांत महासागरों में बहने वाली उष्ण जल धाराओं से इन मार्गों का घनिष्ठ संबंध है। इन धाराओं का महत्व ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा शीत ऋतु में अधिक होता है। इसीलिये इन क्षेत्रों में अधिकतर चक्रवात् शीत ऋतु में ही आते हैं। चूँकि आर्द्र वायु का होना चक्रवात् के लिये आवश्यक है; इसलिए ये प्रायः समुद्र पर अधिक प्रभावशाली रहते हैं। स्थल पर समुद्र की अपेक्षा चक्रवात् कम प्रभावशाली होते हैं।

बाह्य चक्रवात (एन्टीसाइक्लोन)

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, बाह्य चक्रवात में केन्द्रीय क्षेत्र में वायुभार अधिक होने के कारण वायु का वहन भार की ओर होता है। ऐसे चक्रवात् में वायु धरातल की ओर ऊपर से दबा करती है। इस दबाव में वायु का ताप अधिक हो जाता है जिससे बाह्य चक्रवात में बादलों का प्रायः अभाव रहता है। परन्तु अधिकतर बाह्य चक्रवात उस शीतल वायु राशि के ही अंग होते हैं जो आंतरिक चक्रवात की शीतल वायु सीमा होती हैं। आन्तरिक चक्रवात् के अग्र भाग में उष्ण वायु की प्रधानता होने से वायु का ताप ऊँचा होता है। परन्तु इन ऊँचे तापों के उपरांत ही शीतल वायु का आगमन होने से शीतल ताप का प्रभाव बहुत गहरा होता है। तापों की अपेक्षाकृत भिन्नता से ही बाह्य चक्रवात का मौसम शीतप्रधान और शुष्क होता है। प्रायः यह देखा गया है कि बाह्य चक्रवात का आगमन वेग से चलने वाली पवनों द्वारा होता है। वास्तव में ये पवनें आन्तरिक चक्रवात के पिछले भाग के तीव्र वायुभार अन्तर के कारण ही होती है। परन्तु बाह्य चक्रवात का प्रभाव भली भाँति स्थापित हो जाने पर पवनें शिथिल पड़ जाती हैं। बाह्य चक्रवात का संबंध उल्टे तापक्रम (टेम्परेचर) इनवर्शन से अधिक है। रात्रि में धरातल अधिक शीतल हो जाता है; क्योंकि इस चक्रवात की वायु शुष्क होती है, और इसलिए धरातल के ताप की रक्षा करने के लिए आकाश में बादल नहीं होते हैं। असाधारण न्यून ताप के कारण बाह्य चक्रवात में पाला (फ्रास्ट) का अधिक भय रहता है। शीत ऋतु में कभी-कभी असाधारण शीत की लहरें (कोल्ड वेव) इसी बाह्य चक्रवात् से संबंधित हैं।

ग्रीष्म ऋतु में असाधारण उष्णता की लहरें भी इसी से संबंधित हैं। ये असाधारण ताप की लहरें यथार्थ में वाह्य चक्रवात् की असाधारण शुष्क वायु के ही फल हैं। कभी-कभी वाह्य चक्रवात में चलने वाली पवनों में धूल का अंश भी वहुत रहता है, क्योंकि जल की कमी के कारण धूल के कण वायु में शुष्क अवस्था में ही उड़ते रहते हैं। वाह्य चक्रवात की वायु में उत्तेजना कम होने के कारण उसकी प्रगति वहुत कम होती है। कभी-कभी एक-दो सप्ताह तक यह चक्रवात एक ही स्थान पर जमा रहता है।

हैन्जलिक नामक विज्ञानवेत्ता का मत है कि यूरोपीय वाह्य-चक्रवात दो भिन्न प्रकार के होते हैं; शीत वाह्य चक्रवात और उष्ण वाह्य चक्रवात। उष्ण वाह्य-चक्रवात में आकाश में वहुधा वादल पाये जाते हैं; परन्तु ये वादल प्रायः वर्षा न करने वाले स्ट्रेटस वादल ही होते हैं।

ब्रंट का कहना है कि अभी तक विज्ञानवेत्ताओं को वाह्य चक्रवात का पूर्ण ज्ञान नहीं है।

उष्ण खंडीय आंतरिक चक्रवात

एकजनर* नामक विज्ञानवेत्ता का कथन है कि चक्रवात वायुमंडल में समानता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। आन्तरिक चक्रवात के पृष्ठ भाग में तथा वाह्य चक्रवात के अग्र भाग में वायु का वहन विषुवत् रेखा की ओर हुआ करता है। इस प्रकार के वहन से विषुवत रेखीय खंड से ऊपर उठी हुई वायु की पूर्ति हुआ करती है, और इसलिए उच्च अक्षांशों में वहुत अधिक वायुराशि नहीं एकत्रित हो पाती है। इस दृष्टि से उष्ण खंडीय आन्तरिक चक्रवात का वहुत वड़ा महत्व है; क्योंकि इनकी तीव्र गति, तथा इनकी अथाह शक्ति के कारण विषुवत रेखीय प्रदेशों की शान्त पेटी में से उठी हुई वायु की शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति हो जाती है।

उष्ण-खंडीय (ट्रापिकल) आन्तरिक चक्रवातों की उत्पत्ति प्रायः समुद्र के जल पर होती है, जहाँ जल की समतलता के कारण इनकी प्रगति में कोई विघ्न नहीं पड़ता है। इनकी उत्पत्ति अधिकतर शांत पेटी के उस भाग में होती है जो विषुवत् रेखा से दूर होता है, और जहां पर व्यापारिक पवनों का अन्त होता है। ऐसे भागों में स्थली और समुद्री वायुराशियों का मिलाप होता है जिससे वायुमंडल में भँवरें उत्पन्न होना स्वाभाविक है। ये चक्रवात प्रायः ग्रीष्म ऋतु के अन्त भाग में अधिक होते हैं।

इन चक्रवातों में, अन्य चक्रवातों की भाँति, समान-भार-रेखायें गोलाकार होती हैं। अधिकतर चक्रवातों में इनकी आकृति पूर्ण चक्र होती है; और भिन्न-भिन्न रेखाओं के मध्य की दूरी भी प्रायः समान होती है। उष्ण खंडीय चक्रवात् का व्यास २०० मील से अधिक नहीं होता है; कभी-कभी तो यह व्यास केवल ३२ मील के लगभग ही

*एकजनर—डाइनेमिशे मीट्रियोलोजी

होता है। केन्द्र पर वायु भार बहुत ही न्यून होता है; लगभग ९६० मिलीबार। कहीं-कहीं यह भार ९३३ मिलीबार तक देखा गया है। इस केन्द्र की चक्रवात को 'चक्षु' (आई) भी कहते हैं। भार का अन्तर बहुत ही तीव्र होने के कारण इस चक्रवात् की पवनों की गति कभी-कभी २० मील प्रति घंटा तक हो जाती है। पवनों की गति बाहरी भागों की अपेक्षा केन्द्र के निकट बहुत होती है। परन्तु वास्तविक केन्द्र पर पूर्ण शाँति होती है। वहाँ पर पवन का नाम भी नहीं होता है। पवनें तो इस केन्द्र के चारों ओर ही चलती हैं। परन्तु इस चक्रवात की प्रगति इतनी अधिक होती है कि दो ही तीन मिनटों में इसका केन्द्र कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है।

जहाज के चलाने वालों के अनुभव के अनुसार, इस चक्रवात के आगमन का ज्ञान क्षितिज पर एकाएक काले बादलों की उपस्थिति से होता है। थोड़े ही समय में बादल ऊपर आ जाते हैं। इन बादलों के आने से पहले कुछ समय के लिए एकाएक सन्नाटा छा जाता है। पवनों का चलना बिलकुल बन्द हो जाता है, थोड़े समय में धीमी-धीमी पवन चलना आरंभ हो जाती है, जो अन्त में आँधी के वेग से चलने लगती है। अर्थात् ७५ मील प्रति घंटा से ऊपर चक्रवात के आ जाने पर मूसलाधार वर्षा और बिजली का चमकना तथा बादलों का गर्जना आरंभ हो जाता है। कभी-कभी जलवर्षा के बाद छर्री अर्थात् छोटे-छोटे ओले (स्लीट) भी पड़ते हैं। ऐसा देखा गया है कि बादलों का गर्जना इस चक्रवात् के अंतिम भाग की पहुँच की घोषणा होती है।

इस प्रकार के चक्रवातों का प्रभाव बड़ा ही भयानक होता है। समुद्र पर यदि कोई जहाज इनके चंगुल में फँस जाता है, तो उसको बहुत बड़ी क्षति भोगनी पड़ती है। प्राचीन काल में जब जहाज लकड़ी के बने होते थे और पाल (सेल) की सहायता से चलते थे, ऐसे जाहज प्रायः डूब जाते थे। परन्तु इन चक्रवातों का सबसे घोर परिणाम समुद्र तट पर होता है। वहाँ पर इनके कारण समुद्र में उठी हुई बड़ी ऊँची-ऊँची लहरें आती हैं जिनका प्रभाव [illegible] फैल जाता है, और अनेक मनुष्य डूब जाते हैं; उनके घर तथा खेतों की [illegible] हुई नावें बह जाती हैं। ३१ अक्तूबर सन् १८७६ में इस प्रकार [illegible] पर कम से कम १ लाख मनुष्य डूब गये थे।

[illegible] वेदर ब्यूरो ने उष्ण कटिबंधीय चक्रवातों को निम्नलिखित [illegible] डिस्टर्बेन्स) जिसमें धरातल पर वायु सम भार रेखा [illegible] कर सकी हैं, और जिसमें धरातल पर पवन का [illegible] हुआ है।

शीतल चक्रवात का मौसम
चक्रवात का आगमन वेग से चलता
चक्रवात के पिछले भाग के तीव्र
वात का प्रभाव भली भाँति स्थापि
चक्रवात का संबंध उल्टे-तापक्रम (टेम्प
अधिक शीतल हो जाती है; क्योंकि इस
धरातल के ताप की रक्षा करने के लिए आ
ताप के कारण बाह्य चक्रवात में पाला (फ्रास्ट
कभी-कभी असाधारण शीत की लहरें (कोल्ड वे

२. उष्ण कटिबंधीय साधारण तूफान (डिप्रेशन) जिसमें धरातल पर केवल एक गोलाकार सम वायु भार रेखा होती हैं।

३. विशिष्ट तूफान (स्टार्म) जिसमें धरातल पर कई गोलाकार समवायु भार रेखायें होती हैं।

४. झंझावात (हरीकेन) जिसमें गोलाकार सम वायु भार रेखायें अनेक और पास-पास होती हैं, और जिसमें पवन का वेग ७५ मील प्रति घंटा से अधिक होता है। उष्ण खंडोय झंझावात के आगमन को सूचक प्राय: निम्नलिखित दशायें हैं:—

१. पवन की दिशा में एकाएक परिवर्तन।

२. गत २४ घंटों में वायुभार का असाधारण पतन।

३. अन्य क्षेत्रों में गत २४ घंटों में घनी वर्षा।

झंझावात की मुख्य विशेषता उसकी घनी जलवर्षा है। १९११ में फिलीप्पीन देश के वागुइओ नामक स्थान में २४ घंटे में ४६ इंच वर्षा इस झंझावात से हुई थी। संयुक्त राज्य के मियामी नगर में केवल १० मिनट में ही लगभग डेढ़ इंच वर्षा ऐसी ही झंझावात के कारण हुई थी।

इन चक्रवातों का पथ एक समान नहीं रहता है। इन पथ का आकार एक अनुवृत्त (पैराबोला) होता है जिसकी धुरी विषुवत् रेखा के समानान्तर चलती है। इस अनुवृत्त का खुला मुख प्राय: पूर्व की ओर होता है। नीचे दिये चित्र में इन चक्रवातों का पथ व क्षेत्र दिखलाये गये हैं:—
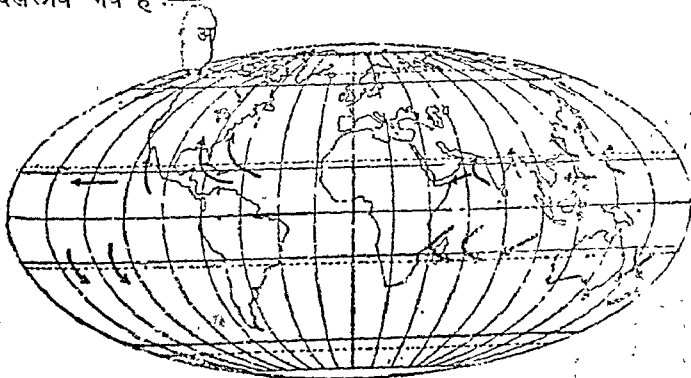
चित्र ४८—उष्णखंडोय चक्रवात् के क्षेत्र में झंझावात

इस चित्र से यह विदित होता है कि :—

१. विषुवत् रेखा और १५° अक्षांश के मध्य वाले क्षेत्र में इन चक्रवातों का पथ पश्चिम की दिशा में मुड़ जाता है।

२. १५° और ३०° अक्षांशों का मध्य पथ बहुत अनिश्चित होता है; परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में यहाँ पर यह पथ उत्तर की ओर, तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में यह पथ दक्षिण की ओर रहता है।

३. ३०° अक्षांश के बाहर यह पथ पूर्व की ओर मुड़ जाता है।

पूरे चक्रवात की प्रगति पश्चिम की दिशा में चलने में, आरंभ में, कुछ शिथिल होती है। उस दिशा में इसकी चाल केवल ५ से १५ मील प्रति घंटा ही होती है। इसी प्रकार उत्तर अथवा दक्षिण की दिशा में जाने पर भी प्रगति शिथिल होती है परन्तु अन्त में उसकी चाल ३० मील प्रति घंटा हो जाती है। उत्तरी गोलार्द्ध में इसकी चाल दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा कम होती है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि यह चक्रवात किसी स्थान पर कुछ समय के लिए स्थिर हो जाता है।

विसर* के अनुसार इन चक्रवातों का भौगोलिक वितरण निम्न प्रकार है :—

क्षेत्र	चक्रवातों की संख्या (प्रति वर्ष)
पश्चिमी-उत्तरी प्रशान्त सागर	३०
दक्षिणी हिन्द महासागर	१३
आस्ट्रेलिया के निकट	१३
बंगाल की खाड़ी	८
पश्चिमी द्वीप समूह के निकट	५
अरब सागर	४

उष्ण खण्डीय चक्रवातों की अन्य चक्रवातों से भिन्नता

यह भिन्नता निम्नलिखित है:—

१. शीतोष्ण खंड के आन्तरिक चक्रवातों का व्यास अधिक लंबा होता है।

२. शीतोष्ण खंड में भार का अन्तर (ग्रेडियन्ट) बहुत कम होता है।

३. शीतोष्ण खंड में वहाँ के चक्रवातों की समान-भार रेखायें पूर्ण वृत्ताकार नहीं होती हैं। उष्ण खंड में इनका आकार अधिकतर गोल होता है।

४. शीतोष्ण खंड के चक्रवात में अग्र और पृष्ठ भाग में तापक्रम में अधिक अन्तर होता है। उष्ण खंड में चक्रवात के सभी भागों में तापक्रम प्रायः एक समान होते हैं।

---

*विसर—रायल ज्योग्राफिकल जर्नल, १७ भाग, १९२१

बंगाल की खाड़ी के चक्रवात

डा० रामानाथन* के कथनानुसार उष्ण कटिबंधी चक्रवातों के तीन काल होते हैं, (१) मानसून से पहले का काल (अप्रैल-जून), (२) मानसून काल (जुलाई-सितम्बर) और (३) मानसून के बाद का काल (अक्तूबर-दिसंबर)। इनमें से मानसून के पहले के और मानसून के बाद के चक्रवातों की संख्या बहुत होती है और वे बहुत भयानक भी होते हैं। ये तूफान या तो बंगाल की खाड़ी में शुरू होते हैं और या प्रशान्त में शुरू होकर स्याम की खाड़ी से होते हुए इस खाड़ी में आ जाते हैं। इन तूफानों की उत्पत्ति डा० रामानाथन के अनुसार एक वायुसीमा (फ्रंट) के बन जाने से होती है जो दक्षिणी विषुवत रेखीय हवा और उत्तरी हवा के मिलने के स्थान पर बनता है। मानसून के पहले और मानसून के बाद में, दोनों प्रकार के आने वाले चक्रवातों में, अल्पभार का निर्माण इसी वायुसीमा के कारण होता है।

मानसून के पहले आने वाले चक्रवात में दक्षिण हवा के बढ़ते हुए स्तम्भ का अग्रिम भाग 'मानसूनी सीमा' या 'नम शीत सीमा' कहलाता है, क्योंकि यह तापक्रम के गिरने से और आपेक्षिक तरी के बढ़ने से संबंधित है। उत्तर में गर्म भूमि से आने वाली गर्म शुष्क हवा एक 'गर्म शुष्क सीमा' बनाती है और जब दोनों सीमायें मिलती हैं तो मानसूनी हवा के ऊपर चढ़ जाती है। ३ से ४ किलोमीटर की ऊँचाई पर, मानसूनी हवा स्थलीय हवा से अधिक गर्म होती है, इसलिए यह स्थलीय हवा के प्रदेश में फैल जाती है। मानसून से पहले आने वाले तूफान में बड़ी तेज हवाएँ चलती हैं। उष्ण-शुष्क सीमा के आगे-आगे और साधारणतया मानसूनी भाग में बड़ी तेज आँधियाँ चलती हैं जो कभी-कभी वर्षा कर देती हैं।

मानसून-काल के अन्तर आने वाले तूफानों में अचानक विषुवत् रेखीय समुद्रों से आने वाली गर्म, नम हवा का आक्रमण होता है। यह हवा उत्तर-पश्चिम की शीत स्थलीय वायु से मिलती है। मिलने पर यह हवा शीत स्थलीय हवा के ऊपर चढ़ जाती है, इससे एक 'गर्म सीमा' (वार्म) बन जाती है।

मानसून चक्रवातों की उत्पत्ति उसी प्रकार से होती है। इनकी बनावट भी वैसी ही होती है। गंगा के मैदान में मानसून हवा और शुष्क उत्तर-पश्चिम हवा की जो सीमा बनती है वहीं पर इन चक्रवातों का आरम्भ होता है।

हमारे वर्तमान अनुभव के अनुसार, इस खाड़ी का उत्तरार्द्ध हमेशा तूफानों से बचता रहता है। दिसम्बर में प्रथम सप्ताह के अन्त से लेकर अप्रैल के लगभग अन्त तक लगभग साढे चार मास तक तूफान नहीं आते। वास्तव में नवम्बर के मध्य के बाद से ही उनका आना बहुत कम हो जाता है।

*डा० के० आर० रामानाथन, साइंस नोट्सः मीट्रियोलाजिकल डिपार्ट १९३१.
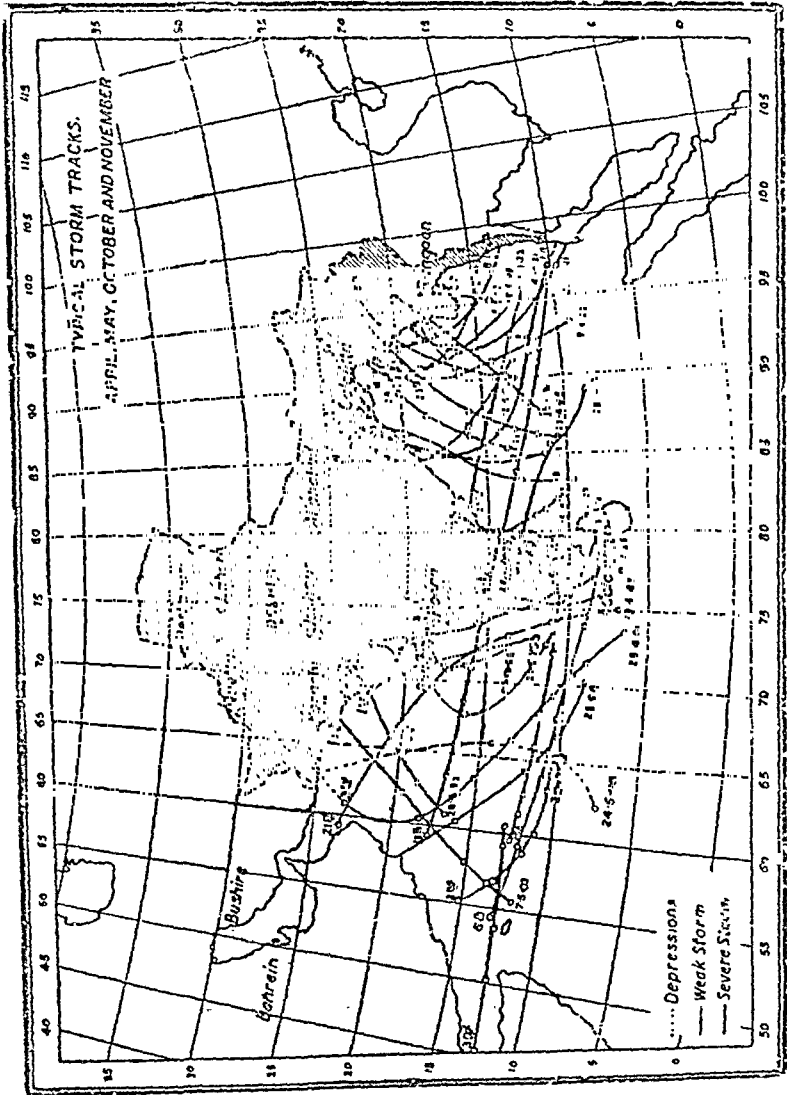
चित्र ४९—तूफानों के पथ

परन्तु वायु-दशा का भविष्य ज्ञान समान-भार रेखाओं के मानचित्र से ही सम्भव है। वायु-दशा के मानचित्र (वेदरमैप) की परिभाषा निम्नलिखित है। "धरातल के किसी क्षेत्र पर होने वाले वायु-परिवर्तन के परिणाम का नियत चिन्हों द्वारा वर्णन वायु-दशा का मानचित्र कहलाता है ।"* इस वर्णन में अनेक बातों का ध्यान रखा जाता है। उदाहरण के लिए आकाश में बादल हैं या नहीं हैं; यदि हैं तो उनका रूप क्या है; वायु किस दिशा से आती है, और उसकी गति कितनी है; समान-भार रेखाएँ किस प्रकार की हैं; गत २४ घंटे में जलवर्षा कहाँ और कितनी हुई; इत्यादि बातें वायु दशा के मानचित्र में नियत चिन्ह द्वारा दिखाई जाती हैं। मानचित्र के कई अंग होते हैं, इनमें से एक को सामान्य अवलोकन मानचित्र (सिनापटिक चार्ट) और दूसरे को समकालीन-अवलोकन मानचित्र (निक्रोनस-चार्ट) कहते हैं। उपरोक्त मानचित्रों में उन वायु परिवर्तनों का दिग्दर्शन कराया जाता है जिनका अवलोकन किसी बड़े क्षेत्र में वायु अवलोकन-गृह (आवजरवेटरी) वाले अथवा समुद्र के भिन्न-भिन्न भागों में स्थित जहाज के कर्मचारी एक नियत समय पर किया करते हैं। इन अवलोकनों की सहायता से ही मानचित्र में समान-भार रेखाएँ वायु की गति और दिशा तथा जलवर्षा; इत्यादि बाद में चिन्हों द्वारा दिखलाई जाती हैं। इस मानचित्र के तैयार करने के लिए अनेक यंत्रों की सहायता द्वारा वायु का अवलोकन किया जाता है। इन यन्त्रों में भार-मापक यंत्र (बैरोमीटर), ताप-मापकयंत्र (थर्मामीटर), वर्षा-मापक यंत्र (रेन गेज) इत्यादि मुख्य यंत्र हैं। ये सभी यंत्र स्वयं चालित (आटोमेटिक) होते हैं। इन यंत्रों के साथ एक लेखनी लगी रहती है जिससे एक कागज पर वायु परिवर्तन की दशा के अनुसार एक रेखा बराबर खिंचती रहती है। नियत समय पर यंत्र घड़ी की भाँति चाभी दे देने से ही ये यंत्र अपना कार्य सुचारु रूप से करते रहते हैं।

वायु-दशा अवलोकन के लिए आजकल सबसे अधिक महत्वपूर्ण यंत्र रेडियो गुब्बारा (रेडियो जोन्ड) है। यह गुब्बारा रेशमी कपड़े का बना होता है, जिसके नीचे एक छोटा रेडियो का यंत्र लटका दिया जाता है। इस रेडियो यंत्र में वायु का भार, ताप, तथा उसकी वाष्प के अवलोकन के लिए समुचित प्रबंध रहता है। इस यंत्र में स्थित बिजली की बैटरी से रेडियो द्वारा सूचना आप ही आप अवलोकनगृह के यंत्र रेडियो में मिल जाती है। रेडियो गुब्बारे का महत्व ऊँचाई पर स्थित वायु की दशा का ज्ञान धरातल पर तत्काल और सुगमता से मिलने में है। हम जानते हैं कि धरातल पर जो कुछ वायु परिवर्तन होता है उसका संबंध ऊँचाई पर स्थित वायु के परिवर्तनों से ही है।

ऊपरी वायु के परिवर्तन का ज्ञान धरातल की वायु के भविष्य के परिवर्तनों का सूचक है। संसार के सभी बड़े-बड़े स्थानों में इस प्रकार के गुब्बारे

*वेदर मैप; एच० एम० आफिस, लन्दन

दिन में कई बार उड़ाए जाते हैं। उड़ते समय थियोडोलाइट नामक यंत्र से इनको यथा संभव लक्ष्य में रक्खा जाता है। थियोडोलाइट की सहायता से इस गुब्बारे की उड़ान से भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों से वायु की गति और दिशा भी जानी जाती है। इस गुब्बारे में गैस भरी होती है जिसकी सहायता से यह ऊपर उठता है। गैस खतम हो जाने पर यह गुब्बारा नीचे गिर पड़ता है। इसके साथ एक यह सूचना लगी रहती है कि पाने वाले किसी अमुक कर्मचारी के पास गुब्बारा ले जाने पर पुरस्कार दिया जायगा। सारांश यह है कि रेडियो गुब्बारे में धन बहुत व्यय करना पड़ता है; परन्तु इस गुब्बारे से जो ज्ञान होता है उसका मूल्य उसमें व्यय किए हुए धन से कहीं अधिक है।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा योरप के कुछ देशों में ऊपरी वायु निरीक्षण करने के लिए वायुयान तथा रेडर नामक यंत्र से भी सहायता ली जाती है। यह सब इसलिए किया जाता है कि वायु की दशा का सत्य और प्रमाणित ज्ञान हमको प्राप्त हो, क्योंकि इस ज्ञान पर वायुयान में चलने वाले सहस्रों मनुष्यों का जीवन निर्भर है।

इस अवलोकन में जिन चिन्हों का प्रयोग किया जाता है उनका विवरण अगले पृ० पर दिया गया है।

समान भार रेखाओं के रूप

(शेप आफ आइसोबार)

समान भार रेखाओं के निम्नलिखित रूप मानचित्र में देखे जाते हैं:—

(१) आंतरिक चक्रवात का रूप, जिसमें रेखाओं का रूप गोलाकार होता है।

(२) वाह्य चक्रवात् का रूप, जो उपरोक्त रूप की भाँति ही गोलाकार होता है। अंतर केवल इतना है कि वाह्य चक्रवात में आन्तरिक चक्रवात् की अपेक्षा रेखाएँ दूर-दूर होती हैं।

(३) सीधी रेखाएँ (स्ट्रेट आइसोबार);

(४) सहकारी चक्रवात् (सेकेन्डरी डिप्रेशन)

(५) झुकी हुई रेखाएँ (वी शेप);

(६) अंगुष्ट-रूपरेखाएँ (वेज), जो दो आन्तरिक चक्रवातों को एक दूसरे से पृथक् करती हैं।

(७) विभाजक रेखाएँ (कोल) जिनके चारों ओर वाह्य चक्रवात् और आंतरिक चक्रवात् की रेखाएँ होती हैं।

बोफोर्ट तथा अन्तर-राष्ट्रीय चिन्ह

(१) आकाश—

b		स्वच्छ आकाश
c		छितरे बादल
o		बादलों से ढका
g		अन्धकारमय आकाश
u		उमड़े बादल, वर्षा-प्रतीक्षा

(२) पवन—

q		आँधी
KQ		आँधी के झोंके

(३) वर्षा—

r	○	जलवर्षा
p	▽	चलती जलवर्षा
d	?	हल्की बूंद
s	✻	हिम
s	[illegible]	छर्रा
h	△	ओला

(४) विद्युत—

t		गरजन
l	[illegible]	बिजली का प्रकाश
tl	[illegible]	झंझावात

(५) वाष्प—

f	≡	कोहरा } दृष्टि सीमा ११०० गज़
fe		
z	∞	धुंध, दृष्टि सीमा ११००–२२०० गज़
m	=	हल्का कोहरा (मिस्ट) दृष्टि सीमा ११००–२२०० गज़
v	[illegible]	दूर तक प्रकाश
e		आर्द्र वायु
y		शुष्क वायु (आनुपातिक आर्द्रता ६०%)

(६) धरातल पर—

w	[illegible]	ओस
x	[illegible]	पाला

चित्र ५०

अगले पृष्ठ पर चित्र में आंतरिक और बाह्य चक्रवातों की गोल रेखाओं को दिखा

लाया गया है। इन रेखाओं से संबंधित वायु दशायें पीछे वर्णन की गई हैं। इस चित्र को देखने से आंतरिक चक्रवात सहकारी चक्रवात, तथा वाह्य चक्रवात, की रेखाओं की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।
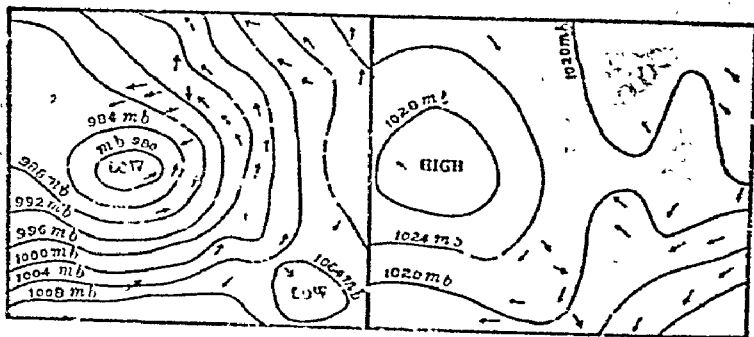
चित्र ५१---वाह्य चक्रवात्

चित्र ५२---आंतरिक चक्रवात

समीप वाले चित्र में सीधी समान भार रेखाओं का वर्णन है। ऐसी रेखाएँ प्रायः आंतरिक चक्रवात और वाह्य-चक्रवात के मध्यवर्ती क्षेत्र में पाई जाती हैं। इन से संबंधित चक्रवात बहुत बड़े क्षेत्र में फैले होते हैं। सीधी समान भार रेखाओं में वायु की दशा (वेदर) बहुत शीघ्र परिवर्तित होती रहती है।

चित्र ५३—सीधी समान-भार रेखायें किसी एक प्रकार की दशा में दीर्घ समय तक नहीं रहती। इन रेखाओं का भार अंतर (ग्रेडियन्ट) समान होता है और इसलिए पवन की गति प्रायः तीव्र होती है।

नीचे दिए हुए चित्रों में सहकारी चक्रवात की दो अवस्थायें दिखलाई गई हैं। इनमें
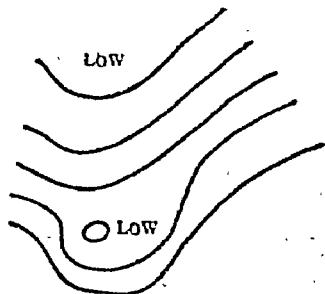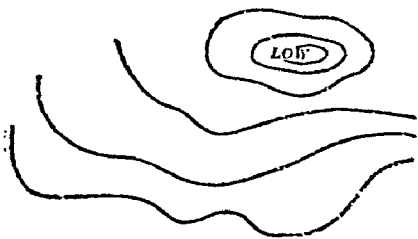
चित्र ५४—सहकारी चक्रवात

चित्र ५५—झुकी हुई रेखायें

से पहली अवस्था में सहकारी चक्रवात की प्रारंभिक दशा नीचे की भार-रेखा के विशेष झुकाव से विदित होती है—

इस चित्र में जो आन्तरिक चक्रवात ऊपर दिया हुआ है वह मुख्य चक्रवात है। दूसरे चित्र में सहकारी चक्रवात पूर्ण रूप से बन गया है, और मुख्य चक्रवात की दिशा चल रहा है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, सहकारी चक्रवात में वायु की दशा प्राय: वैसी ही होती है जैसी कि मुख्य चक्रवात में। एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि सहकारी चक्रवात प्राय: मुख्य चक्रवात के चारों ओर भ्रमण किया करते हैं। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि सहकारी चक्रवात आन्तरिक चक्रवात के विषुवत् रेखीय दिशा में ही प्राय: उत्पन्न होते हैं। यह भी बहुधा देखा जाता है कि आन्तरिक चक्रवात के क्षेत्र में आने वाली आँधी और घनी जलवर्षा का संबंध इस सहकारी चक्रवात से ही होता है।

सहकारी चक्रवात की उत्पत्ति के पहले रेखाओं में जो झुकाव हो जाता है उसका महत्व कभी-कभी अधिक समय तक रहता है। ऐसी दशा में सहकारी चक्रवात या तो देर में बन पाता है, या बन ही नहीं पाता। समान-भार रेखाओं के इस रूप को झुकी हुई रेखायें कहते हैं। इस प्रकार की रेखाओं का संबंध आन्तरिक चक्रवात के क्षेत्र में वायु की दशा के एकाएक परिवर्तन से है। आँधी और पानी का आ जाना ऐसी ही रेखाओं का फल होता है। कभी-कभी इन झुकी हुई रेखाओं का प्रभाव काफी विस्तृत क्षेत्र में होता है। परन्तु ऐसा तभी होता है जब कि मुख्य आन्तरिक चक्रवात की प्रगति मंद हो।
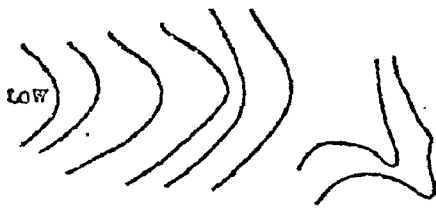
चित्र ५६—झुकी हुई रेखायें

जब कभी दो आन्तरिक चक्रवातों के मध्यवर्ती क्षेत्र में बाह्य चक्रवात प्रविष्ट हो जाता है, तब समान-भार रेखाओं का रूप अँगूठे की भाँति हो जाता है। अँगूठे के रूप वाली रेखाओं का संबंध स्वच्छ आकाश, मंद पवन तथा शीतलता से है।
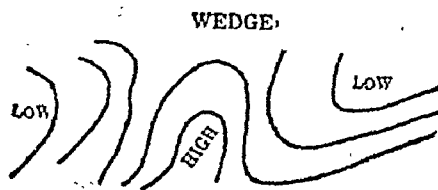
परन्तु वायु की यह दशा बहुत ही थोड़े समय तक रह पाती है; क्योंकि इन रेखाओं के निकटवर्ती आन्तरिक चक्रवात की उष्ण वायु का शीघ्र ही इस क्षेत्र

WEDGE
LOW
LOW
HIGH

चित्र ५७—अंगुष्ट रूप रेखायें

में पहुँच जाता है। प्रायः यह उष्ण वायु पश्चिम दिशा से आती है,और इसलिए उससे हल्की जल वर्षा होने लगती है ॥

विभाजक रेखाओं में वायु की दशा बहुत ही अनिश्चित होती है। इसमें मध्यवर्ती क्षेत्र में समान-भार रेखाओं का प्रभाव होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्र में भार का अंतर बिल्कुल नहीं है। इसीलिए यह क्षेत्र पवन की दृष्टि से शान्ति क्षेत्र है। शीत ऋतु में ऐसे क्षेत्र में कोहरा अधिक पड़ता है। ग्रीष्म ऋतु में आँधी चलने लगती है।
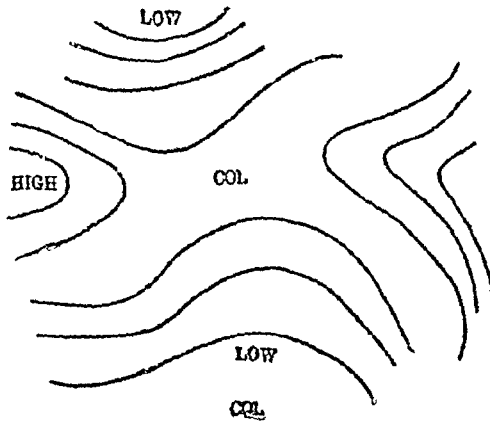
चित्र ५८

भारत की वायु दशा

हमारे देश में वायु की दशा में इतना अधिक परिवर्तन दिन प्रति दिन नहीं होता है, जितना कि शीतोष्ण खंड में। हमारे देश की वायु राशियों के ताप क्रमों में इतनी अधिक भिन्नता नहीं होती है, जितनी कि शीतोष्ण खंड में। केवल वर्षा ऋतु में ही वायु की दशा में शीघ्र परिवर्तन देखा जाता है; क्योंकि इस ऋतु में हमारे देश में वायुराशि में जल की भिन्नता अधिक होती है। इसीलिए हमारे देश की वायु-दशा के मानचित्र में समान-भार रेखाएँ प्रायः दूर-दूर होती हैं। शीत ऋतु में कभी-कभी कई सप्ताह तक वायु की दशा में कोई परिवर्तन नहीं दिखलाई देता है। स्वच्छ, निर्मल आकाश कभी-कभी हल्की पवन, और कभी-कभी प्रातःकाल हल्का कुहरा, ही हमारे देश की शीत ऋतु की विशेपताएँ हैं। ये सभी विशेपतायें वाह्य चक्रवात की विशेपताएँ हैं।

परन्तु कभी-कभी शीत ऋतु में दो-चार दिनों के लिए पश्चिम से आने वाले आन्तरिक

अध्याय ९

जलवायु (क्लाइमेट)

जलवायु (क्लाइमेट) और वायु-दशा (वेदर) की भिन्नता प्रायः 'समय' पर ही निर्भर है। जलवायु में उस दशा का वर्णन किया जाता है, जो बहुत समय तक अवलोकन करने पर किसी क्षेत्र के लिए नियमित अर्थात् साधारण (नार्मल) समझी गई है। अर्थात् वह वायु दशा जो किसी क्षेत्र में बहुधा पाई जाती है, वहाँ की जलवायु कहलाती है। परन्तु वायु दशा वायु की एक क्षणिक दशा है। यह संभव है कि वह पुनः कभी उस क्षेत्र में न पाई जाय; और अगर पाई भी जाय तो बहुत समय के उपरान्त। मनुष्य के जीवन पर गहरा प्रभाव उसी वायु दशा का पड़ता है जिसकी पुनरावृत्ति बार-बार हुआ करती है। यही पुनः होने वाली वायु दशा जलवायु है।

जैसा कि ऊपर दिये हुए वर्णन से विदित होता है, पूरी पृथ्वी पर एक समान जलवायु नहीं हो सकती है। पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न ताप, भिन्न-भिन्न वर्षा; तथा वायु दशा की अन्य भिन्नताएँ मिला करती हैं। इन सब भिन्नताओं का संबंध अक्षांश, स्थल और जल इत्यादि से है। इसीलिये पृथ्वी पर मिलने वाली जलवायु का विभाजन अक्षांश तथा स्थली वं सामुद्रिक प्रभाव पर ही निर्भर है।

अक्षांश की दृष्टि से जलवायु के तीन निम्नलिखित विभाजन किए गए हैं :—

(१) उष्ण जलवायु (ट्रापिकल क्लाइमेट)। (२) शीतोष्ण जलवायु (टेम्परेट क्लाइमेट) और (३) शीत जलवायु (पोलर क्लाइमेट)।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, आधुनिक काल में इस विभाजन की सीमाएँ ६८° फा० वार्षिक ताप-रेखा उष्ण और शीतोष्ण जलवायु में; और ५०° फा० ग्रीष्म ताप-रेखा शीतोष्ण और शीत जलवायु के मध्य मानी गई हैं।

उपरोक्त तीनों प्रकार की जलवायु का और अधिक विभाजन क्षेत्रों में जल व थल के प्रभाव के अनुसार भी किया गया है। इस दृष्टि से उष्ण जलवायु की निम्नलिखित चार प्रकारें हैं:—

(१) विपुवत्‌रेखीय, (२) उष्ण-मरुस्थलीय (सहारा), (३) उष्ण-तृणीय (सवाना अथवा सूदान), और (४) मौसमी जलवायु (मानसून)।

शीतोष्ण जलवायु की भिन्न प्रकारें नीचे लिखी हैं:—

(१) भूमध्य सागरीय (मेडिटेरियन); (२) अर्द्ध-मरुस्थली (तूरानी); (३) पूर्व तटीय (चीनी); (४) पश्चिमी योरोपीय (ब्रिटिश),(५) मध्य-योरोपीय; (६) शीतल-तृणीय (प्रेरी); और (७) उच्च-अक्षांशी पूर्वतटीय (सेंट लारेंस)।

शीत जलवायु की निम्नलिखित प्रकार हैं—

(१) शीत-प्रदेशीय (नार्दन फारेस्ट)

(२) हिम-प्रदेशीय (टुन्ड्रा)

उपरोक्त विभाजन के अतिरिक्त पर्वतीय जलवायु का वर्णन अलग किया जाता है।

नीचे दी हुई तालिका में ऊपर दिए हुए जलवायु-विभाजन के ताप तथा जलवर्षा का विवरण मिलता है।

अक्षांश	उच्चतम ताप (फ०)	न्यूनतम ताप (फ०)	बादल	वर्षा (,,)
४०°—३०°	९८	२७	४०	२४
३०°—२०°	१००	४५	३४	२५
२०°—१०°	९९	५९	४०	४०
१०°— ०°	९७	६५	५२	६८

(ब्रुक्स के अनुसार)

उष्ण जलवायु

उष्ण जलवायु अधिकतर उन्हीं क्षेत्रों में मिलती है जो कर्क और मकर रेखा से सीमित क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में सूर्य के ताप सबसे अधिक होते हैं; क्योंकि सूर्य की सबसे अधिक सीधी किरणें पृथ्वी पर केवल इसी भाग में मिलती हैं। इस भाग में सूर्य आकाश में ४३ से नीचे कभी नहीं जाता है और यहाँ किसी भाग में भी दिन की मात्रा साढ़े दस घंटा से कम नहीं होती है। इस कारण नीचे ताप इस क्षेत्र में नहीं पाए जाते हैं। दिन में सूर्य की गर्मी इतनी मिल जाती है कि रात्रि में धरातल से निकलने में उसे बहुत समय लगता है, जिससे रात्रि के न्यून से न्यून ताप भी लगभग ५०° फ० से ऊपर ही रहते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है यहाँ पर ग्रीष्म और शीत ऋतु में भी तापक्रम में बहुत अन्तर नहीं होता है। ऊँचे तापक्रम इस क्षेत्र में लगभग सभी जगह जलवायु की विशेपता हैं। स्थल के भीतरी भागों में तथा कर्क अथवा मकर रेखा के निकटवर्ती क्षेत्रों में,अन्य स्थानों की अपेक्षा तापक्रम कुछ अधिक ऊँचे होते हैं।

यद्यपि इस क्षेत्र में जलवर्षा पृथ्वी के अन्य खंडों की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में होती है। तथापि जलवर्षा की मात्रा में स्थान-स्थान पर बड़ी भिन्नता देखी जाती है। न केवल चेरापूँजी जैसा आर्द्र स्थान इसी जलवायु में सम्मिलित है, वरन् सहारा जैसा मरुस्थल भी इसी का अंग है, जहाँ जलवर्षा का वार्षिक औसत केवल एक ही इंच के लगभग है।

जलवर्षा की भिन्नता के अनुसार ही यहाँ पर आकाश में बादलों की मात्रा में भी बहुत कुछ भिन्नता रहा करती है।

परन्तु इस जलवायु के तापक्रम में अधिक ऋतुवत् समानता ही इसकी मुख्य विशेषता है। यह ऋतुवत् समानता विषुवत् रेखा के समीप अधिक होती है। उस से दूर हटने पर ऋतुवत् तापक्रमों का अन्तर अधिक होता जाता है। जलवर्षा की भिन्नता तो इतनी अधिक हो जाती है कि संसार के सबसे बड़े अनावृष्टि वाले क्षेत्र इसी जलवायु में हैं। गर्मी और अनावृष्टि इस क्षेत्र की दो बड़ी महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। इस क्षेत्र में चक्रवात उत्पन्न करने वाली तीन मुख्य वायु-भार पेटियों का प्रभाव हुआ करता है। विषुवत् रेखीय शांत पेटी, तथा कर्क और मकर रेखाओं की समीपवर्ती शांत पेटियाँ चक्रवातों की श्रोत हैं। इन चक्रवातों से बहुधा आँधियाँ आया करती हैं, जिनका प्रभाव लगभग पूरे क्षेत्र में होता है। परन्तु उनका सबसे अधिक प्रभाव मरुस्थली क्षेत्रों में, विशेषकर सहारा मरुभूमि में देखा जाता है।

इस जलवायु के कुछ क्षेत्रों में, जैसे अफ्रीका के पश्चिम तट तथा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर, समुद्र की शीतल जल धाराओं का प्रभाव उल्लेखनीय है। ऐसे क्षेत्रों में जलवर्षा का अभाव तथा रात्रि में कोहरा की प्रधानता मुख्य विशपताएँ हैं।

१—उष्ण जलवायु के विभाजनों में विषुवत् रेखीय जलवायु (इक्वीटोरियल क्लाइमेट) का विस्तार सबसे अधिक है। अफ्रीका की कांगो नदी का बेसिन, दक्षिण अमेरिका की अमेजन नदी का बेसिन तथा पूर्वी और पश्चिमी द्वीपसमूह इत्यादि पृथ्वी के विस्तृत क्षेत्र इसी विषुवतरेखीय जलवायु में हैं। इस जलवायु का विस्तार विषुवत् रेखा के १०° उत्तर तथा उसके १०° दक्षिण तक है। इस जलवायु की मुख्य विशेषता उसकी ऋतु के अभाव में है। यहाँ की ऋतु न ग्रीष्म ऋतु है, न शीत है; न वर्षा ऋतु है, और न शुष्क ऋतु है। वास्तव में पूरे वर्ष भर यहाँ सब ऋतुओं का मिश्रण रहता है। इस जलवायु में सूर्य की शक्ति सबसे अधिक मात्रा में मिलती है और इसलिए ऊँचा तापक्रम इस जलवायु की एक विशेपता है। वर्ष भर लगभग ७८° फ० तापक्रम रहा करता है। चूँकि इस जलवायु पर सूर्य का सीधा प्रभाव पड़ता है इसलिए यहाँ रात्रि और दिन के तापक्रमों में बहुत अंतर पड़ता है। कहीं-कहीं तो रात्रि और दिन के तापक्रम में लगभग २०° फ० का अन्तर पड़ जाता है। परन्तु पूरे वर्ष भर सूर्य की किरणों को सिधाई में बहुत कम अन्तर होने के कारण वार्षिक तापक्रम में बहुत कम अन्तर होता है। सिंगापुर में यह वार्षिक अन्तर लगभग ३° फा० है और अफ्रीका में स्थित बोलोबो (बेलजियम कान्गो) में तो यह अन्तर २° फा० से भी कम है। यद्यपि यहाँ पर सूर्य की किरणें सदैव

सीधी पड़ती हैं, परन्तु इस जलवायु में जल की मात्रा अधिक होने से तापक्रमों में इतनी अधिकता नहीं हो सकती है जितनी कि शुष्क वायु वाले क्षेत्रों में। जल की मात्रा अधिक होने से बादल बहुधा रहा करते हैं जिससे अधिक ऊँचे ताप नहीं हो पाते। सबसे अधिक तापक्रम दोपहर के बाद ही हो सकता है। इस जलवायु में दोपहर के उपरान्त झंझावातीय (कनवेक्शनल) जलवर्षा हो जाया करती है, जिससे बढ़ते हुए तापक्रम नीचे आ जाते हैं। उच्च ताप होते ही उष्ण वायु ऊपर उठने लगती है, और उससे बादल बनने लगते हैं। ये बादल मुकुट रूपी (क्युमुलस) होते हैं जिनसे वर्षा शीघ्र ही हो जाती हैं।

यद्यपि इस जलवायु में ताप बहुत ऊँचे नहीं होते हैं, तथापि इस जलवायु में पवनों के बहुत कम चलने के कारण तथा वायु में जल की मात्रा अधिक होने से ये तापक्रम भी प्रायः असह्य होते हैं। यही कारण है कि इस जलवायु में रहने वाले योरोपीय लोग भी बहुत कम वस्त्र पहनते हैं। यहाँ के आदिवासी तो प्रायः अपनी प्राकृतिक दशा में ही रहा करते हैं। समुद्र तट के निकट, तथा संध्या समय ही इस जलवायु में थोड़ी हल्की पवन चला करती है।

इस जलवायु में जल की मात्रा अधिक होने से प्रातः लगभग पूरे वर्ष हल्का कुहरा पड़ा करता है। दिन में आकाश में बादल भी अधिक रहते हैं।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, इस जलवायु में सूर्य के उत्तर-दक्षिण भ्रमण के कारण वर्ष में दो बार सबसे ऊँचे ताप और सबसे अधिक जलवर्षा होती है। इसी प्रकार, वर्ष में दो महीने ऐसे होते हैं जब कि न्यूनतम ताप तथा न्यून जलवर्षा होती है।

आगे दी हुई तालिका में सिंगापुर का तापक्रम तथा जल-वर्षा दिए गए हैं। इस तालिका का उद्धरण नीचे के चित्र में भी किया गया है।
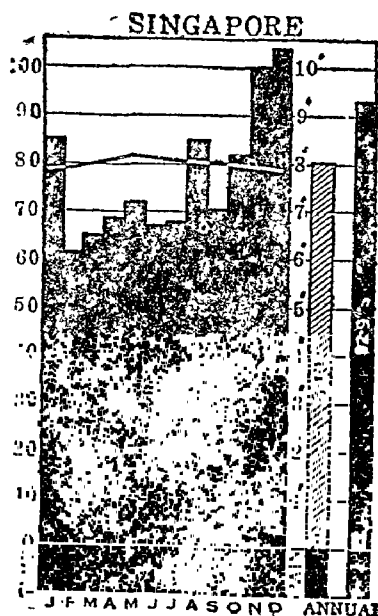
चित्र ७५

सिंगापुर (अक्षांश १°उत्तर, १०४° देशान्तर-पूर्व, ऊँचाई (

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जु
तापक्रम	७७.९	७८.४	७९.९	७९.९	८०.६	७९.९	८०.२
जलवर्षा	९.७	७.१	७.३	७.८	६.५	७	६.७

	अ	स	अ	न	दि	व
तापक्रम	७९.७	७९.५	७९.७	७९	७८.३	७९.३
जलवर्षा	७.८	६.९	७.९	१०.१	१०.४	९५.२

इस जलवायु में वर्षा होते समय बिजली का चमकना और बादलों का गरजना बहुत अधिक देखा जाता है।

ऊँचे ताप और शुष्क ऋतु का अभाव इस जलवायु की दो ऐसी विशेषताएँ हैं कि जिनके कारण यहाँ पर वनस्पति का उगना वर्ष भर चलता रहता है। कभी-कभी तो एक ही पेड़ में भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ देखी जाती हैं; एक डाल में फूल, दूसरी डाल में फल और तीसरी डाल में पतझड़ होना इस जलवायु के लिए असाधारण दृश्य नहीं है।

(२) मरुस्थली जलवायु उष्ण जलवायु के क्षेत्र में ही पाई जाती है। सहारा मरुस्थल की जलवायु ऐसी जलवायु का आदर्श समझी जाती है। इस जलवायु में स्थल का प्रभाव पूर्ण रूप से दिखलाई देता है। इसका फल यह है कि ग्रीष्म ऋतु में दिन को तापक्रम लगभग १००°फ० से ऊपर पहुँच जाता है, परन्तु अर्द्धरात्रि के उपरांत बहुत ही शीतल तापक्रम लगभग ३०° फ०, हो जाया करता है। दिन और रात्रि के तापक्रमों में इतना अधिक अंतर केवल उष्ण मरुस्थली जलवायु में ही देखा जाता है। संसार का उच्चतम ताप (१३६.४ फ०) इसी जलवायु में, अजीजिया नामक स्थान में (त्रिपोली, उत्तरी अफ्रीका) में देखा गया है। परन्तु इस जलवायु के ग्रीष्म और शीत ऋतुओं के तापक्रमों में इतना अधिक अंतर नहीं देखा जाता है। ऋतुवत् अंतर तो केवल ३०° फ० तक ही रहता है। समुद्र तट के निकट तो यह तापक्रम का ऋतुवत अन्तर और भी कम होता है। उष्ण मरुस्थली जलवायु में वर्षा की कमी ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इस जलवायु में वर्षा का वार्षिक औसत केवल १ इंच के लगभग ही है। इतनी जलवर्षा से किसी भी प्रकार की स्थाई वनस्पति का होना, साधारण दशा में असंभव है। मरुस्थल की जलवर्षा कभी-कभी ६–७ वर्ष के बाद हुआ करती है। इस समय वहाँ पर प्रायः घंटे-आध घंटे के लिए एकाएक मूसलाधार, झंझावातीय जलवर्षा हो जाती है। इसके उपरांत कई दिन तक कुछ नीचे भागों में, आर्द्र मिट्टी मिला करती है, जिससे एकाएक भिन्न-भिन्न प्रकार की घास उग जाती है परन्तु इस घास का जीवन बहुत ही शीघ्र समाप्त हो जाता है।

मरुभूमि की वायु इतनी शुष्क होती है कि उसमें साधारण दशा में बादल बन ही नहीं सकते हैं। यही कारण है कि इस जलवायु में आर्द्रता की मात्रा केवल नाम के लिए

ही होती है। इस जलवायु में रात्रि में धरातल की शीतलता के कारण कहीं-कहीं विशेषकर शाद्वल स्थान (ओसिस) के निकट थोड़ा-बहुत कुहरा ही वायु में उपस्थित जल-वाष्प का प्रमाण देता है।

परन्तु इस जलवायु की आँधी, जिसमें पवन का वेग कभी-कभी ७०—८० मील प्रति घंटा या उससे भी अधिक हो जाता है, एक महत्वपूर्ण विशेपता है। स्थानीय आँधियाँ तो प्रायः प्रति दिन संध्या समय चला करती हैं, परन्तु महत्वपूर्ण आँधियाँ वे हैं जो मध्य एशिया से आने वाली बोरा नामक शुष्क मरुस्थली वायु में चला करती हैं। कभी-कभी ये आँधियाँ लगातार कई दिनों तक चलती हैं। इनमें बालू और मिट्टी के कण इतने उड़ा करते हैं कि मीलों तक इनमें कुछ भी नहीं दिखाई दे सकता है।

शुष्क बालू पर उष्ण मरुस्थल में दिन को सूर्य की किरणें बड़ी तेजी से चमका करती हैं। उनका प्रभाव नीचे को उठने वाली तप्त वायु की तरंगों पर उठती हुई लहरों के रूप में दिखलाई देता है। इस प्रभाव को मिरज (मिराज) कहते हैं। मरुस्थल में यात्रा करने वालों के मस्तिष्क पर इन लहरों का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है, जिससे कभी-कभी लोग पागल तक हो जाते हैं। इस मिरज के प्रभाव से बचने के लिए, तथा दिन की उष्णता और आँधी से बचने के लिए भी मरुस्थल में लोग प्रायः रात्रि को ही यात्रा करते हैं। यहाँ की आँधियों में वायु बहुत उष्ण और झुलसाने वाली होती है। नीचे दी हुई तालिका में तथा चित्र में काहिरा (कैरो) का तापक्रम तथा जलवर्षा दिए हुये हैं:—

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जू
तापक्रम	५४	५६.८	६२.४	७०.२	७६.८	८१.९	८३.५
वर्षा	.३	.२	.२	.१	०	०	०

	अ	स	अ	न	दि	वर्ष		
तापक्रम	८२.६	७८.१	७१.४	६५.१	५७.९	७०.१		
वर्षा	०	०	०	.२	.२	१.२		

३—उष्ण तृणीय जलवायु (सवाना) की विशेपता अधिकतर उसकी शुष्क ऋतु तथा नियत वर्षा-ऋतु का होना है। जिस समय सूर्य दूसरे गोलार्द्ध में होता है, उस समय इस जलवायु की शुष्क ऋतु होती है दक्षिणी गोलार्द्ध में यह ऋतु जून, जुलाई और अगस्त में हुआ करती है। जब सूर्य उसी गोलार्द्ध में होता है, तब इस जलवायु की वर्षा ऋतु होती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह ऋतु दिसंबर से अप्रैल तक चला करती है। अर्थात् वर्षा की ऋतु उसी समय होती है जब कि सूर्य की किरणें अधिक सीधी पड़ती हैं। शीत और ग्रीष्म ऋतु के तापों में भी अंतर देखा जाता है, यद्यपि यह अंतर मरुस्थली जलवायु के ऋतुवत् तापक्रमों के अन्तर से कम होता है। वास्तव में जलवर्षा तथा तापक्रम की दृष्टि से यह जलवायु विषुवत् रेखीय जलवायु तथा मरुस्थली जलवायु के मध्य की जलवायु है।

चित्र—६५

इस जलवायु में शीत काल लगभग ६०° फ० है, और ग्रीष्म ऋतु तापक्रम लगभग ७०° फा० है। इस जलवायु में भी ग्रीष्म ऋतु में आँधी बहुधा चला करती है।
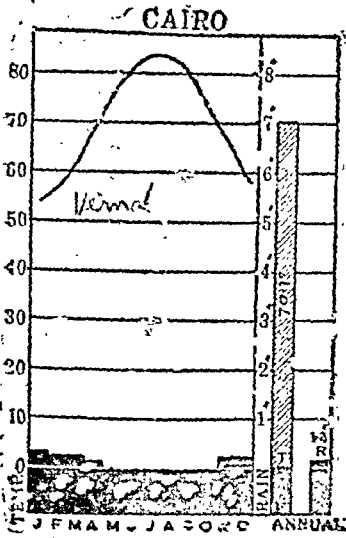
वर्षा ऋतु में विषुवत् रेखीय जलवायु की भाँति प्रति दिन जलवर्षा नहीं होती है। कई दिन के अन्तर के बाद वर्षा हुआ करती है। इस जलवायु में वर्षा की मात्रा अधिक नहीं होती है, केवल २०-२५" ही वार्षिक औसत रहता है। इस उष्ण जलवायु के लिए इतनी कम जलवर्षा में वनस्पति की अधिकता नहीं हो सकती है। यही कारण है कि इस जलवायु में जलाशयों के निकट लम्बी घास अथवा काँटेदार झाड़ियाँ और कहीं-कहीं पेड़ मिलते हैं। अन्य स्थानों में छोटी-छोटी घास और तितरी-बितरी झाड़ियाँ ही देखी जाती हैं।

इस जलवायु में भी रात्रि और दिन के तापक्रमों में काफी अन्तर पाया जाता है। कभी-कभी तो यह अंतर ३०° फा० तक पहुँच जाता है।

नीचे दी हुई तालिका और चित्र में इस जलवायु के तापक्रम तथा जलवर्षा का विवरण मिलता है।
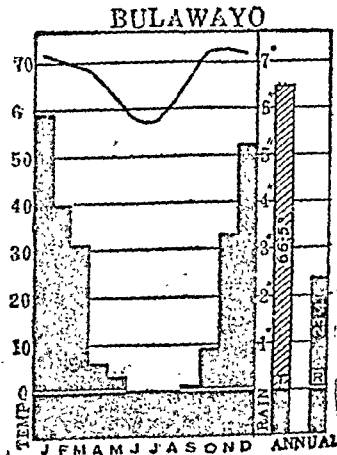
चित्र—६६

[बुलवायो

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जू
तापक्रम	७१.५	७०.२	६८.९	६६.	६१.२	५७.४	५७.२
वर्षा	५.९	४	३.१	.६	.३	०	०

	अ	स	अ	न	दि	वर्षा
तापक्रम	६१.२	६७.६	७२.४	७२.२	७१.८	६६.५
वर्षा	.०	.१	.९	३.३	५.२	२३.४

४—उष्ण जलवायु में मौसमी जलवायु (मानसून) का वहुत वड़ा महत्व है। संसार की सवसे अधिक जनसंख्या हमारे देश तथा चीन इत्यादि की जनसंख्या इसी जलवायु में रहती है। जिस जलवायु में इतनी घनी जनसंख्या पल सकती है, उस जलवायु का महत्व अवश्य वहुत वड़ा है। इसी जलवायु में संसार के उपयोगी कच्चे माल उगते हैं। उपजाऊ भूमि वाले गंगा के मैदान तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की नदियों के वड़े-वड़े मैदान इसी जलवायु में स्थित हैं। परन्तु इस जलवायु का सवसे अधिक महत्व तो उसकी घनी जलवर्षा में है। यह जलवर्षा केवल वर्ष के एक नियत समय में होती है। वर्ष के अधिकांश भाग में ऋतु शुष्क ही रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि खेती में अड़चन डालने वाले वन-वृक्षों की उन्नति इतनी सरलता से नहीं हो सकती है, जितनी कि विपुवत्-रेखीय जलवायु में; जहाँ वर्ष में प्रतिदिन वर्षा हुआ करती है। वास्तव में इस जलवायु की नियत समय पर गहरी जलवर्षा हो उसको उष्ण-तृणीय जलवायु से पृथक करती है। उष्णीय तृणीय जलवायु और मौसमी जलवायु में एक दूसरा अंतर यह है कि मौसमी जलवायु में जलवर्षा का मुख्य श्रोत वृहत् हिन्द महासागर में चलने वाली व्यापारिक पवनें हैं। परन्तु उष्ण तृणीय जलवायु में प्रायः झंझावात तथा आंतरिक चक्रवात में पड़ी हुई व्यापारिक पवनें हैं जिसमें प्रायः जल की मात्रा कम होती है।

शीत और ग्रीष्म ऋतु के तापक्रमों का अन्तर इस जलवायु में अक्षांश के अनुसार कहीं कम और कहीं अधिक होता है। परन्तु यह अन्तर २०°-३०° फ० तक हुआ करता है। इस जलवायु में भी ग्रीष्म ऋतु के शुष्क भाग में दैनिक तापक्रमों में वहुत अन्तर पड़ जाता है। समुद्र से दूर-स्थित भागों में यह अन्तर लगभग ५०° फ० तक हो जाया करता है।

शीतकाल में प्रातः समय, धरातल की शीतलता के कारण इस जलवायु में कोहरा वहुधा हुआ करता है। इस ऋतु में पवनें भी कम और मंद गति से ही चला करती हैं। परन्तु ग्रीष्म काल में वेगवती पवनें और आँधी अधिकतर देखी जाती हैं। इस ऋतु की आँधियों में वालू और मिट्टी अधिक उड़ती है। ये आँधियाँ प्रायः संध्या समय ही आती हैं।

वर्षा का आरंभ लगभग जून मास के अन्त में हुआ करता है और उसका अन्त लगभग

अक्टूबर मास तक हो जाता है। समुद्र तट के निकट और पहाड़ी ढालों पर, जहाँ मौसमी वायु का प्रवेश अधिक होता है, जलवर्षा का औसत ६०"-२००" तक होता है। समुद्र तट अथवा पहाड़ों से दूर हटने पर वर्षा की मात्रा लगभग ३०"-४०" तक ही रह जाती है। इस जलवायु में वर्षा की अनिश्चितता एक भयानक विशेपता है। करोड़ों मनुष्यों का जीवन इस अनिश्चितता पर निर्भर है।

नीचे दी हुई तालिका और जलवायु में इस जलवर्षा का विवरण है।

इलाहाबाद

	ज	फ	म	अ	म	जू	जू
तापक्रमः—	६१.३,	६५.६,	७६.८,	८७.३,	९३.१,	९२.६	८६.४
वर्षा	.७	.५	.४	.१	.३	४.७,	१२

	अ	सि	अ	न	दि	वर्ष
तापक्रमः—	८४.४,	८४.३,	७९.३,	६९.४,	६१.७,	७८.५
वर्षा	११	६.३	२.३	३	.२	३८.८
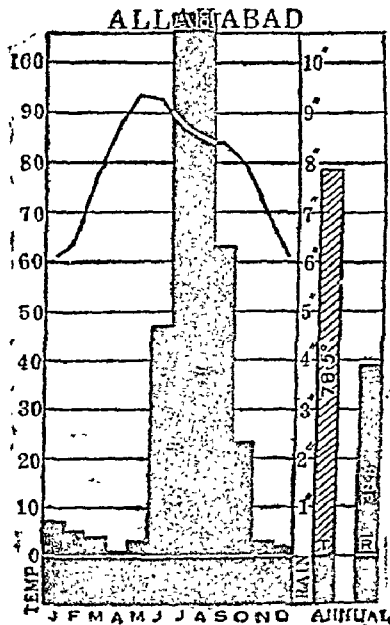
चित्र—६७

शीतोष्ण खण्ड की जलवायु

मध्य अक्षांशों में सूर्य की किरणें सब टेढ़ी पड़ा करती हैं; ग्रीष्म ऋतु में कम टेढ़ी और शीत ऋतु में अधिक टेढ़ी। इन अक्षांशों में सूर्य की किरणें कभी भी सिर के ऊपर खड़ी नहीं पड़ती हैं। इन अक्षांशों की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ पर सदावाहनी पवनें पश्चिम से चलती हैं। परन्तु उनका क्षेत्र उत्तर-दक्षिण ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ हटता रहता है। इस प्रकार मध्य अक्षांशों में विषुवत् रेखा के निकट वाला भाग कभी उपरोक्त पश्चिमी पवनों के प्रभाव में रहा करता है और कभी नहीं। शेष भाग इन पवनों के प्रभाव में सदैव रहता है। इसलिए मध्य अक्षांश की जलवायु को दो विशेष भागों में विभाजित किया जाता है (१) उष्ण शीतोष्ण जलवायु और (२) शीतल शीतोष्ण जलवायु।

उष्ण शीतोष्ण जलवायु के निम्नलिखिति भाग किये गये हैं:—

१. भूमध्य सागरी जलवायु
२. तूरानी जलवायु
३. चीनी जलवायु

शीत शीतोष्ण जलवायु के भाग निम्नलिखित हैं:—

१. पश्चिमी योरोपीय जलवायु
२. मध्य योरोपीय जलवायु
३. पूर्वी योरोपीय अथवा प्रेरी जलवायु
४. सेंट लारेंस अथवा साइबेरियन जलवायु

मिलने से ताप काफी ऊँचा हो जाता है। शीत ऋतु में इसके विपरीत दशा पाई जाती है, जिससे ताप बहुत नीचा हो जाता है।

मध्य अक्षांशों में स्थित समुद्र में वायुमंडल के स्थाई केन्द्र (उत्तरी गोलार्द्ध में आइसलैंड, एल्यूशियन द्वीप और अजोर्स) पाये जाते हैं जिनमें चक्रवातों की उत्पत्ति हुआ करती है। ये चक्रवात पश्चिमी पवनों द्वारा स्थल की ओर जाते हैं और वहाँ की जलवायु पर बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं। संसार की जलवायु में अन्य किसी भी भाग में चक्रवातों का प्रभाव इतना अधिक नहीं देखा जाता है जितना कि मध्य अक्षांशों की जलवायु में।

भूमध्य सागरीय जलवायु

यह जलवायु योरप में भूमध्यसागर के तट पर अपने रूप में मिलती है और इसी-लिए इस सागर के नाम पर ही इस जलवायु का नामकरण हुआ है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि इस सागर के निकटवर्ती सभी स्थली भागों में यह जलवायु नहीं मिलती है। वास्तव में भूमध्य सागरीय जलवायु ३०-३५° अक्षांशों में पश्चिमी तट पर मिलती है। संयुक्त राज्य में कैलिफोर्निया का पश्चिमी तट, दक्षिणी अमेरिका में चिली का पश्चिमी तट, आस्ट्रेलिया में तस्मानिया द्वीप का पश्चिमी तट तथा इस महाद्वीप का दक्षिण-पश्चिम तट और दक्षिणी अफ्रीका का दक्षिण-पश्चिमी तट इस जलवायु के मुख्य क्षेत्र हैं। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में फ्लारिडा प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर तथा योरप में काले सागर में स्थित क्रोमियाँ में भी यह जलवायु मिलती है।

इस जलवायु की मुख्य विशेषताएँ पश्चिमी पवनों द्वारा लाये हुए समुद्री प्रभाव की शीत ऋतु में उपस्थिति, तथा ग्रीष्म ऋतु में व्यापारिक पवनों के चलने से स्थली प्रभाव की उपस्थिति हैं। शीत ऋतु का समुद्री प्रभाव और ग्रीष्म ऋतु का स्थली प्रभाव पवनों के परिवर्तन से होता है। शीत ऋतु में जब सूर्य दूसरे गोलार्द्ध में ऊँचा रहता है उस समय भूमध्य सागरीय जलवायु वाले क्षेत्र पश्चिमी पवनों में होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के विषुवत रेखा पार करने पर वायु भार की पेटियाँ ध्रुव की ओर खिसक जाती हैं जिससे इस ऋतु में यह क्षेत्र स्थल से प्रभावित पवनों का क्षेत्र बन जाता है।

शीत ऋतु में पश्चिमी पवनों द्वारा लाई हुई समुद्री वायु से वर्षा होती है और ताप भी अधिक नीचे नहीं होने पाते हैं। शीत ऋतु का ताप ५०° फा० के लगभग रहा करता है। जलवर्षा की मात्रा लगभग २० इंच होती है। समुद्र तट पर कभी-कभी कोहरा भी हो जाता है। इस ऋतु में कभी-कभी उत्तर अथवा पश्चिम की दिशा से आन्तरिक चक्रवात आ जाया करते हैं। इन चक्रवातों के पिछले भाग में पहाड़ों की ठंडी वायु आ जाती है जिससे थोड़े समय के लिये शीत की मात्रा बढ़ जाया करती है।

इस प्रकार की शीतल वायु को योरप में बोरा कहते हैं। इस जलवायु के अन्य क्षेत्रों में भी शीतल वायु का प्रकोप कभी-कभी हो जाता है।

बोरा

बोरा यूनानी शब्द है जिसका अर्थ उत्तर की दिशा से आने वाली वायु है। इस वायु में प्रायः ऐसी वायु सम्मिलित रहती है जो रात में ऊँचे पठारों पर बहुत शीतल और भारी हो जाती है। प्रातः काल यह वायु पठार से नीचे बड़े वेग से खिसकने लगती है। कभी-कभी इसका वेग ७०-८० मील हो जाता है। इसके वेग से कभी-कभी मनुष्य समुद्र तट से उड़ कर समुद्र में जा गिरते हैं। इसका ताप ३०° फा० से नीचे होता है। परन्तु इतना नीचा ताप होते हुए भी इस वायु से हिम वर्षा नहीं होती है क्योंकि यह वायु बहुत शुष्क होती है। इसकी आनुपातिक आर्द्रता प्रायः १५ प्रतिशत से नीचे ही रहती है। कभी-कभी अधिक ऊँचाई पर बादल भी दिखलाई देते हैं। परन्तु ये बादल प्रायः बोरा के पीछे आने वाली उष्ण वायु के कारण होते हैं। बोरा प्रायः ७ और ८ बजे प्रातःकाल के लगभग चलती है।

फ्रांस के दक्षिण तट पर बोरा का नाम मिस्ट्रल है।

ग्रीष्म ऋतु में भूमध्य सागरीय जलवायु शुष्क और उष्ण होती है। व्यापारिक पवनों का प्रभाव इस शुष्कता को और भी अधिक बढ़ा देता है। ताप की मात्रा लगभग ९०° फा० हो जाती है। परन्तु कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु में निकटवर्ती मरुस्थली भागों से पूर्व की ओर अथवा दक्षिण की ओर से आँधी आ जाती है। कभी-कभी यह आँधी कई दिन तक लगातार चला करती है। धूलि और अति उष्ण वायु के झोंके इस आँधी की मुख्य विशेषताएँ हैं। ये आँधियाँ अधिकतर ग्रीष्म ऋतु में चलने वाले चक्रवात के अंग हैं।

इस आँधी को कहीं-कहीं सिरक्को अथवा खामसिन कहा करते हैं। इसका सिरक्को नाम अरबी भाषा के शरकी अर्थात् पूर्वी शब्द पर रक्खा गया है। इसका खामसिन नाम का अर्थ है आधी आयु; क्योंकि ऐसा देखा गया है कि ग्रीष्म ऋतु के अर्ध भाग समाप्त होने पर ही ये आँधियाँ आया करती हैं। ये आँधियाँ दोपहर के बाद ही अधिक वेग पकड़ती हैं और रात्रि को प्रायः रुक जाती हैं क्योंकि उस समय मरुस्थल में भूमि शीतल हो जाती है जिससे वायु स्थिर हो जाती है।

भूमध्यसागरीय जलवायु के क्षेत्रों के निकट प्रायः पहाड़ी प्रदेश स्थित हैं। इन पहाड़ी प्रदेशों में फोहेन नामक पवन कभी-कभी चला करती है। इस पवन का प्रभाव निकटता के कारण भूमध्य सागरीय जलवायु वाले क्षेत्र में भी पड़ता है। फोहेन पवन ऊँचे

पहाड़ी ढालों से उतरा करती है जिससे उसका ताप बढ़ जाता है। कभी-कभी यह पवन दो-तीन दिन तक चलती है। शीत और वसन्त ऋतु में यह पवन बहुधा चलती है। इस पवन के आने से शीत ऋतु में भूमध्य सागरीय जलवायु का ताप एकाएक लगभग ७०° ८०° फा० हो जाया करता है।

भूमध्यसागरीय जलवायु में आकाश में प्रायः बादल रहा करते हैं। वार्षिक औसत स्वच्छ आकाश का २०० घंटा से अधिक है। शीत ऋतु में जो वर्षा की प्रधान ऋतु है, वर्षा समाप्त होते ही बादल हट जाया करते हैं।

शीत ऋतु में इस जलवायु के पहाड़ी प्रदेशों में रात्रि को घाटियों की नीची ढालों पर पाला बहुधा पड़ता है। यह पाला तापक्रम के उलट जाने से होता है। उलटे तापक्रम का विवरण पीछे दिया गया है। इस जलवायु में ग्रीष्म और शीत ऋतु के तापों में बहुत अन्तर नहीं होता है, क्योंकि यह जलवायु समुद्री जलवायु है।

इस जलवायु में विद्युत प्रकाश अथवा बादलों की गड़गड़ाहट जलवर्षा के समय नहीं दिखती है। चिली और दक्षिण अफ्रीका इत्यादि में बादलों की गड़गड़ाहट से लोग पूर्णतया अपरिचित हैं।

एल्जियर्स नगर के ताप और जलवर्षा का विवरण नीचे दिया जाता है:—

तापक्रम	५१	५५	५८	६१	६६	७१	७७	७८	७५	६८	६२	५७
जलवर्षा	२	४	४	२	१	१	०	०	१	३	५	५

जैसा कि ऊपर बताया गया है, योरप में भूमध्य सागरीय जलवायु में बड़ी भिन्नता पाई जाती है। इस भिन्नता का ज्ञान कराने के लिये रोम के ताप और जलवर्षा का विवरण नीचे दिया है:—

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जू	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	४४	४७	५१	५७	६४	७१	७६	७५	७०	६२	५३	४६
जलवर्षा	३	३	३	३	२	१	०	१	२	५	४	४

इसका चित्र निकटवर्ती है।

तूरानी जलवायु

तूरानी जलवायु एक अर्ध मरुभूमि जलवायु है जहाँ समुद्री प्रभाव का अभाव है। ग्रीष्म और शीत ऋतु के तापों तथा रात्रि और दिन के तापों का अधिक अन्तर की एक विशेषता है। वर्षा की कमी भी यहाँ की एक दूसरी विशेषता है। ग्रीष्म ऋतु में दिन में तापक्रम १००° फा० तक पहुँच जाता है। परन्तु शीत ऋतु की रात्रि में

चित्र ६८

(ऋण)—२०° फा० तापक्रम हो जाता है। वर्षा का वार्षिक औसत लगभग २०-३० इंच रहता है। यद्यपि एशिया के कुछ भागों में यह जलवर्षा २० इंच से कम ही है। जलवायु में बड़े-बड़े झंझावात, विशेपकर वसन्त ऋतु में अधिक देखे जाते हैं। ये झंझावात अथवा आँधी कभी-कभी वर्षा अधिक कर देते हैं। इनसे ताप में भी क्षणिक अन्तर बहुत हो जाता है। कभी-कभी केवल घंटे भर में ही ३०° फा० का अन्तर पड़ जाता है। शिकागो नगर में एक दिन में ४८° फा० का अन्तर देखा गया है। परन्तु तापक्रम का यह असाधारण अन्तर झंझावात से ही संबंधित है। तापक्रम का दैनिक अन्तर साधारण दशा में अधिक नहीं है।
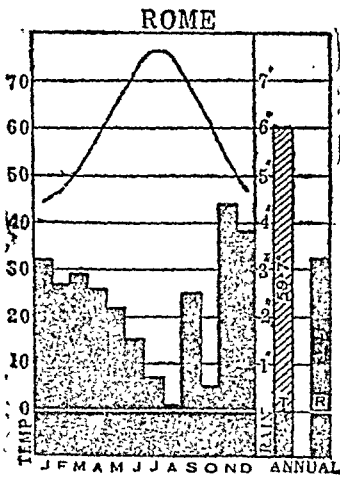
इस जलवायु की वर्षा ग्रीष्म ऋतु में ही होती है यद्यपि शीत ऋतु में थोड़ी-बहुत हिम भी पड़ जाया करती है। शीत ऋतु में इस जलवायु में पाला अधिक पड़ा करता है।

साधारण दशा में यहाँ पवनें कम चलती हैं। झंझावात के समय ही वेगवती पवनों की प्रधानता देखी जाती है। यहाँ की वायु में शुष्कता भी अधिक होती है।

तूरान जलवायु ३०-३५° अक्षांशों में स्थल के भीतरी भागों में मिलती है। इसका बहुत बड़ा क्षेत्र एशिया के किरगीज पठार के आस-पास है। संयुक्त राज्य अमरीका के प्लेन्स में तथा दक्षिणी अमेरिका के अर्जेनटाइन प्रदेश में और आस्ट्रेलिया के भीतरी भाग में इस जलवायु के अन्य क्षेत्र मिलते हैं।

चित्र ६९

शिकागो का तापक्रम तथा जल वर्षा नीचे दिये जाते हैं:—

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जु	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	२६	२७	३७	४७	५८	६८	७४	७३	६६	५५	४१	३०
जलवर्षा	२	२	३	३	४	३	३	३	३	३	२	२

उपरोक्त तालिका को निकटवर्ती चित्र द्वारा भी दिखलाया गया है।

चीनी जलवायु

चीनी जलवायु पूर्वी तटों पर उन्हीं अक्षांशों में मिलती है जिनमें पश्चिमी तट पर भूमध्यसागरीय जलवायु मिलती है। पूर्वी तट पर होने के कारण इस जलवायु में स्थल का प्रभाव अधिक दिखलायी देता है। यही कारण कि यहाँ के तापक्रम में बहुत बड़ा अन्तर मिलता है। शीत ऋतु में हिमांक से नीचे का ताप बहुधा मिलता है, और पाला भी प्रायः पड़ा करता है। ग्रीष्म ऋतु में तापक्रम ९०° फा० से ऊपर पहुँच जाता है। परन्तु तापक्रम का दैनिक अन्तर थोड़ा ही होता है। हैंकाऊ के रात्रि और दिन के ताप का अन्तर लगभग १३° फा० है और न्यूयार्क का यह अन्तर लगभग १५° फा० है।

इस जलवायु में जलवर्षा सभी ऋतुओं में हुआ करती है। शीत ऋतु में हिम वर्षा भी होती है। ग्रीष्म ऋतु में घनघोर वर्षा भी देखी जाती है। यहाँ तक कि दिन में लगभग ८-१० इंच वर्षा भी कभी-कभी हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा के साथ-साथ कभी-कभी ओले भी पड़ते हैं। इस जलवायु के तट पर स्थित भागों में कभी-कभी समुद्र से बड़े भयंकर झंझावात अथवा आँधी आती है। एशिया में इनको टायफून कहते हैं। इन आँधियों से बहुत जलवर्षा होती है और उनमें पवन का वेग अधिक होने से समुद्र से बड़ी ऊँची-ऊँची लहरें आती हैं। इन लहरों से तट पर बसने वाले बहुत से लोग डूब जाते हैं और धन की बड़ी हानि होती है।

इस जलवायु के मुख्य क्षेत्र चीन के उत्तरी तट पर, संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी तट पर तथा आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर पाये जाते हैं।

नीचे दी हुई तालिका में हैंकाऊ में नगर के तापक्रम और जलवर्षा दी है।

४०	४३	५०	६२	७१	८०	८५	८५	७६	६६	५२	५२	४५
२	२	४	६	६	९	७	४	३	३	२	२	१

उपरोक्त तालिका को चित्र ६९ में दिखलाया गया है।

पश्चिमी योरोपीय जलवायु

ऊपर दी हुई मध्य अक्षांशों की जलवायु में ग्रीष्म ऋतु के ऊँचे ताप एक विशेषता है। परन्तु इन अक्षांशों की अन्य जलवायु में ग्रीष्म ऋतु के ताप मध्यवर्ती रहते हैं। इसका उदाहरण पश्चिमी योरोपीय जलवायु में भली भाँति मिलता है। समुद्र का प्रभाव वर्ष के सभी महीनों में प्रधान होने के कारण इस जलवायु में वर्षा सदा होती है। वर्षा के लिये यहाँ कोई नियत ऋतु नहीं है, यद्यपि हेमन्त ऋतु में अन्य महीनों की अपेक्षा सबसे अधिक जलवर्षा होती है। जलवर्षा का वार्षिक औसत लगभग ४०-५० इंच रहता है। मध्य अक्षांशों की दृष्टि से यह औसत ऊँचा है, परन्तु जब इस बात का ध्यान किया जाता है कि इस जलवायु में समुद्र का प्रभाव समुचित है और जलवर्षा पूरे वर्ष होती है, तब यह औसत कम मालूम होता है। इसका कारण यह है कि इन अक्षांशों में वायु का ताप ऊँचा नहीं होता है, और इसलिए वायु की जल धारण

करने की शक्ति भी न्यून ही होती है। वायु में जल की मात्रा कम होने से यहाँ की वर्षा का औसत भी कम होता है। इस जलवायु की जलवर्षा अधिकतर नन्हीं-नन्हीं बूँदों में होती है। बड़े-बड़े बूँदों वाली मूसलाधार जलवर्षा यहाँ नहीं होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस जलवायु में आन्तरिक चक्रवातों में चलने वाली उष्ण वायु शीतल वायु से संपर्क होने पर थोड़ी ही ऊँचाई पर आर्द्र हो जाती है। थोड़ी ऊँचाई पर बादल बनने से वर्षा के कण छोटे ही रहते हैं। बड़े कण तो वायु के एकाएक अधिक ऊँचाई पर उठने से ही बन सकते हैं।

इस जलवायु में कोहरा अधिक देखा जाता है। यहाँ के समुद्र में उष्ण जल की धाराएँ बहती हैं। उष्ण जल पर बहने वाली वायु में आर्द्रता अधिक होती है। जब इस वायु का सम्पर्क रात्रि में शीतल हुई स्थल की वायु से होता है तब गहरा कोहरा उत्पन्न हो जाता है। पवनों द्वारा समुद्र तट का यह कोहरा कभी-कभी २०-२५ मील दूर तक स्थल के भीतर भाग में पहुँच जाता है। यह कोहरा शीत ऋतु में अधिक होता है।

शीत ऋतु में कभी-कभी हिम वर्षा भी हो जाती है। परन्तु हिम की मात्रा थोड़ी ही होती है और ऊँचे पर्वतों को छोड़ कर सभी जगह थोड़े घंटों में ही वह पिघल जाती है। यह हिम वर्षा उसी समय होती है जब कि चक्रवात द्वारा उत्तर पूर्व की ओर से ध्रुव खंड की अति शीतल वायु यहाँ आती है और वहाँ के तापक्रम को एकाएक नीचे गिरा देती है।

इस जलवायु में समुद्र के प्रभाव के कारण पाला कभी नहीं पड़ता है। शीत ऋतु के तथा ग्रीष्म ऋतु के मध्यम तापक्रम इस जलवायु की विशेषता है। शीत ऋतु में समुद्र के प्रभाव से तापक्रम अधिक नीचे नहीं जाते हैं; और ग्रीष्म ऋतु में इसी प्रभाव के कारण तापक्रम अधिक ऊँचे नहीं उठते हैं। इस जलवयु में ३२° फा० की तापक्रम रेखा नहीं मिलती है। शीत ऋतु में ४०-५०° फा० तापक्रम रहता है, और ग्रीष्म ऋतु में यह तापक्रम लगभग ५० और ६०° फा० होता है। ग्रीष्म और शीत ऋतु के तापक्रम में इस जलवायु में बहुत कम अन्तर देखा जाता है। यद्यपि दैनिक अन्तर कुछ अधिक होता है।

चित्र ७०

इस जलवायु में चक्रवातों का सबसे अधिक महत्व है। कोई महीना ऐसा नहीं जाता जिसमें एक-दो चक्रवात यहाँ न आते हों। इन चक्रवातों में शीतल और उष्ण वायु का परिवर्तन होता रहता है जिससे इस जलवायु

में वायु की दशा भी स्थिर नहीं रह पाती। कभी वादल, कभी कोहरा, कभी धूप, कभी जलवर्षा आदि का समागम बराबर लगा रहता है। इस जलवायु के क्षेत्रों के निकट वायु-केन्द्रों की स्थिति के कारण ही यहाँ चक्रवातों की इतनी अधिकता है।

चक्रवातों की प्रधानता का फल यह है कि इस जलवायु में आकाश स्वच्छ बहुत कम रह पाता है। लंदन नगर में स्वच्छ आकाश का औसत दिसम्बर में दिन में केवल १५ मिनट का है। अन्य स्थानों में भी बादलों की अधिकता इस जलवायु की एक विशेषता है।

आयरलैंड के वैलेन्सिया नगर के तापक्रम व जलवर्षा नीचे दिये जाते हैं—

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जु	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	४५	४५	४५	४८	५२	५६	५९	५९	५६	५२	४७	४५
जलवर्षा	६	५	४	४	३	३	४	५	४	६	५	३

इस तालिका को पीछे के चित्र में भी दिखलाया गया है।

मध्य योरोपीय जलवायु

इस जलवायु में समुद्र का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि शीत ऋतु में शीत की मात्रा अधिक होती है, और ग्रीष्म ऋतु में दिन का ताप काफी ऊँचा होता है। दिन में कहीं-कहीं सूर्य की किरणों से भूमि इतनी तप्त हो जाती है कि वायु का ताप १००° फा० तक पहुँच जाया करता है। शीत ऋतु में रात्रि में ताप हिम विन्दु से नीचे पहुँच जाता है। ३२° फा० ताप रेखा इस जलवायु की शीत ऋतु की मुख्य ताप रेखा है। शीत ऋतु में कभी-कभी ठंडी वायु की आँधी भी यहाँ चलती है। ऐसी आँधी को योरप की जलवायु में ब्लिजर्ड कहते हैं। इस आँधी से हिम वर्षा बहुत होती है। शीत ऋतु में इस जलवायु में पाला अधिक पड़ता है। शीत ऋतु में कभी-कभी असाधारण शीत की लहरें भी आ जाती हैं। ये लहरें प्रायः उस समय आती हैं जब शीत ऋतु में वाह्य चक्रवात द्वारा सूखी और शीतल वायु का प्रकोप होता है।

करने की शक्ति भी न्यून ही होती है। वायु में जल की मात्रा कम होने से यहाँ की वर्षा का औसत भी कम होता है। इस जलवायु की जलवर्षा अधिकतर नन्हीं-नन्हीं बूँदों में होती हैं। बड़े-बड़े बूँदों वाली मूसलाधार जलवर्षा यहाँ नहीं होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस जलवायु में आन्तरिक चक्रवातों में चलने वाली उष्ण वायु शीतल वायु से संपर्क होने पर थोड़ी ही ऊँचाई पर आर्द्र हो जाती है। थोड़ी ऊँचाई पर बादल बनने से वर्षा के कण छोटे ही रहते हैं। बड़े कण तो वायु के एकाएक अधिक ऊँचाई पर उठने से ही बन सकते हैं।

इस जलवायु में कोहरा अधिक देखा जाता है। यहाँ के समुद्र में उष्ण जल की धाराएँ बहती हैं। उष्ण जल पर बहने वाली वायु में आर्द्रता अधिक होती है। जब इस वायु का सम्पर्क रात्रि में शीतल हुई स्थल की वायु से होता है तब गहरा कोहरा उत्पन्न हो जाता है। पवनों द्वारा समुद्र तट का यह कोहरा कभी-कभी २०-२५ मील दूर तक स्थल के भीतर भाग में पहुँच जाता है। यह कोहरा शीत ऋतु में अधिक होता है।

शीत ऋतु में कभी-कभी हिम वर्षा भी हो जाती है। परन्तु हिम की मात्रा थोड़ी ही होती है और ऊँचे पर्वतों को छोड़ कर सभी जगह थोड़े घंटों में ही वह पिघल जाती है। यह हिम वर्षा उसी समय होती है जब कि चक्रवात द्वारा उत्तर पूर्व की ओर से ध्रुव खंड की अति शीतल वायु यहाँ आती है और वहाँ के तापक्रम को एकाएक नीचे गिरा देती है।

इस जलवायु में समुद्र के प्रभाव के कारण पाला कभी नहीं पड़ता है। शीत ऋतु के तथा ग्रीष्म ऋतु के मध्यम तापक्रम इस जलवायु की विशेषता है। शीत ऋतु में समुद्र के प्रभाव से तापक्रम अधिक नीचे नहीं जाते हैं; और ग्रीष्म ऋतु में इसी प्रभाव के कारण तापक्रम अधिक ऊँचे नहीं उठते हैं। इस जलवयु में ३२° फा० की तापक्रम रेखा नहीं मिलती है। शीत ऋतु में ४०-५०° फा० तापक्रम रहता है, और ग्रीष्म ऋतु में यह तापक्रम लगभग ५० और ६०° फा० होता है। ग्रीष्म और शीत ऋतु के तापक्रम में इस जलवायु में बहुत कम अन्तर देखा जाता है। यद्यपि दैनिक अन्तर कुछ अधिक होता है।

चित्र ७०

इस जलवायु में चक्रवातों का सबसे अधिक महत्व है। कोई महीना ऐसा नहीं जाता जिसमें एक-दो चक्रवात यहाँ न आते हों। इन चक्रवातों में शीतल और उष्ण वायु का परिवर्तन होता रहता है जिससे इस जलवायु

में वायु की दशा भी स्थिर नही रह पाती। कभी बादल, कभी कोहरा, कभी धूप, कभी जलवर्षा आदि का समागम बराबर लगा रहता है। इस जलवायु के क्षेत्रों के निकट वायु-केन्द्रों की स्थिति के कारण ही यहाँ चक्रवातों की इतनी अधिकता है।

चक्रवातों की प्रधानता का फल यह है कि इस जलवायु में आकाश स्वच्छ बहुत कम रह पाता है। लंदन नगर में स्वच्छ आकाश का औसत दिसम्बर में दिन में केवल १५ मिनट का है। अन्य स्थानों में भी बादलों की अधिकता इस जलवायु की एक विशेषता है।

आयरलैंड के वैलेन्सिया नगर के तापक्रम व जलवर्षा नीचे दिये जाते हैं—

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जु	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	४५	४५	४५	४८	५२	५६	५९	५९	५६	५२	४७	४५
जलवर्षा	६	५	४	४	३	३	४	५	४	६	५	३

इस तालिका को पीछे के चित्र में भी दिखलाया गया है।

मध्य योरोपीय जलवायु

इस जलवायु में समुद्र का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि शीत ऋतु में शीत की मात्रा अधिक होती है, और ग्रीष्म ऋतु में दिन का ताप काफी ऊँचा होता है। दिन में कहीं-कहीं सूर्य की किरणों से भूमि इतनी तप्त हो जाती है कि वायु का ताप १००° फा० तक पहुँच जाया करता है। शीत ऋतु में रात्रि में ताप हिम विन्दु से नीचे पहुँच जाता है। ३२° फा० ताप रेखा इस जलवायु की शीत ऋतु की मुख्य ताप रेखा है। शीत ऋतु में कभी-कभी ठंढी वायु की आँधी भी यहाँ चलती है। ऐसी आँधी को योरप की जलवायु में ब्लिजर्ड कहते हैं। इस आँधी से हिम वर्षा बहुत होती है। शीत ऋतु में इस जलवायु में पाला अधिक पड़ता है। शीत ऋतु में कभी-कभी असाधारण शीत की लहरें भी आ जाती हैं। ये लहरें प्रायः उस समय आती हैं जब शीत ऋतु में वाह्य चक्रवात द्वारा सूखी और शीतल वायु का प्रकोप होता है।

इस जलवायु में वर्षा की मात्रा २० इंच के लगभग होती है। यह वर्षा प्रायः ग्रीष्म ऋतु में होती है। कभी-कभी शीत ऋतु में भी पश्चिम से आन्तरिक चक्रवात आने पर वर्षा होती है। ग्रीष्म में कभी-कभी स्थानीय झंझावात से भी वर्षा हो जाती है। झंझावात की वर्षा ग्रीष्म ऋतु के आरंम्भ में ही होती है, क्योंकि उस समय वायु को पिघली हुई हिम का जल मिल जाता है जिससे ऊपर उठने पर मुकुटधारी बादल बनते हैं और वर्षा करते हैं।
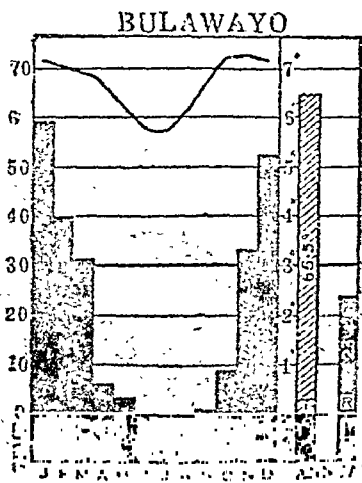
चित्र ७१

नीचे दी हुई तालिका में बोखारेस्ट नगर का ताप क्रम और जलवर्षा दी गई है:—

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जु	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	२६	३१	४१	५२	६२	६९	७३	७२	६३	५३	४०	३१
जलवर्षा	१	१	१	२	२	३	३	२	१	२	२	२

इस तालिका को पीछे के चित्र में भी दिखलाया गया है।

पूर्वी योरोपीय अथवा प्रेरी जलवायु

इस जलवायु में समुद्र का प्रभाव बिल्कुल नहीं है। यह जलवायु पूर्ण रूप से स्थलीय जलवायु है। यही कारण है कि यहाँ जलवर्षा बहुत थोड़ी होती है और ग्रीष्म-ऋतु के तापक्रमों में बहुत बड़ा अन्तर होता है। ग्रीष्म में दिन और रात्रि के तापों में भी बहुत अन्तर होता है। तापक्रमों के इतने अधिक अन्तर के कारण इस जलवायु का वार्षिक ताप मध्य योरोपीय जलवायु की अपेक्षा काफी नीचा रहता है। मध्य योरोपीय जलवायु की अपेक्षा यहाँ जलवर्षा भी कम होती है और पाला भी अधिक पड़ता है।

इस जलवायु में शीत ऋतु में ब्लिजर्ड नामक आँधियाँ बहुधा चला करती हैं और वे इतनी वेगवती होती हैं कि कभी-कभी मीलों तक भूमि पर पड़ी हुई बरफ को वे उड़ा ले आती हैं। इस जलवायु में शीत ऋतु में चारों ओर वर्फ ही वर्फ दिखती है। शीत ऋतु में तापक्रम कभी-कभी (ऋण)—४०° फा० तक पहुँच जाता है। लगभग पूरी शीत ऋतु में तापक्रम का औसत लगभग ३०° फा० रहा करता है। ग्रीष्म ऋतु के आरंभ में भी यहाँ इतने ऊँचे ताप नहीं होते कि सभी जगह बरफ पिघल जाय। अधिकतर स्थानों में तो अप्रैल के अन्त तक भूमि पर बरफ पड़ी रहती है। इस जलवायु में जलवर्षा थोड़ी ही, और हल्की-हल्की होती है। कभी-कभी झंझावात से भी थोड़ी वर्षा ग्रीष्म ऋतु में हो जाती है।
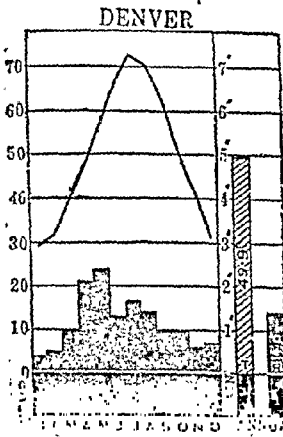
चित्र ७२

नीचे दी हुई तालिका में डेनवर नगर के ताप और जलवर्षा का वितरण है।

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जु	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	३०	३२	३९	४७	५७	६७	७२	७१	६२	५०	३९	३२
जलवर्षा	०	०	१	२	२	२	२	१	१	१	१	१

इस तालिका को निकटवर्ती चित्र में भी दिखलाया गया है।

सेंट लारेंस अथवा साइबेरियन जलवायु

यह जलवायु मध्य अक्षांशों में पूर्वी तटों पर मिलती है जहाँ कभी-कभी समुद्र का प्रभाव चक्रवातों के कारण स्थल में आ जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि साधारण दशा में पश्चिमी पवनों के कारण समुद्र का प्रभाव यहाँ स्थल से दूर ही रहता है। समुद्र के इस प्रभाव का फल यहाँ पर जलवर्षा की मात्रा को अधिक कर देता है। जहाँ तक तापक्रम का सम्बंध है जलवायु का तापक्रम मध्य अक्षांशो की अन्य जलवायु की अपेक्षा बहुत नीचा होता है। इन तटों के निकट बहने वाली शीतल जल-धारा के कारण शीत ऋतु में तापक्रम और भी नीचा होता है; और इस जलवायु में पाला पूरी शीत ऋतु भर रहता है। ग्रीष्म ऋतु में भी ताप ऊँचा नहीं जाता, क्योंकि चक्रवात में पड़ी हुई समुद्र की शीतल वायु यहाँ के तापक्रम को नीचा कर देती है।
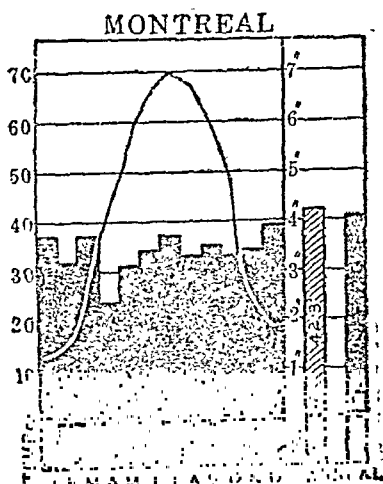
चित्र ७३

नीचे दी हुई तालिका में मान्ट्रील नगर के ताप और जलवर्षा दिये जाते हैं।

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जु	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	१३	१५	२५	४१	५५	६५	६९	६७	५९	४७	३३	१९
जलवर्षा	४	३	४	२	३	३	४	३	४	३	३	४

इस तालिक को निकटवर्ती चित्र में भी दिखलाया गया है।

ध्रुव खंड की जलवायु

ध्रुव खंड की जलवायु की मुख्य विशेषता यहाँ के नीचे तापक्रम में है। यद्यपि यहाँ पर ग्रीष्म ऋतु में कभी-कभी ८०° फा० के लगभग तापक्रम हो जाता है, परन्तु इस प्रकार का ऊँचा ताप केवल कभी-कभी ही होता है। सदा नीचे ताप होने से ध्रुव खंड की जलवायु में अन्न नहीं पक सकता है। इसीलिये यहाँ की वनस्पति वही है जो थोड़े ही दिन में फूल और फल कर अपना जीवन पूरा कर ले।

ध्रुव खंड की जलवायु के दो भाग किये जाते हैं। पहला भाग उत्तरी वन प्रदेशीय और दूसरा भाग टुंड्रा अर्थात् हिम प्रदेशीय जलवायु है।

चित्र ७४

उत्तरी वन प्रदेशीय जलवायु केवल उत्तरी गोलार्द्ध में ही मिलती है, क्योंकि दक्षिणी गोलार्द्ध मे इन अक्षांशों में भूखंड बहुत पतला है और इसलिए यहाँ पर समुद्र का अधिक प्रभाव होने से इस जलवायु की विशेपताएँ नहीं मिलती हैं। इस जलवायु की विशेपता तापक्रम के अधिक से अधिक अन्तर में है। यह अन्तर इस प्रदेश की महीनों लम्बी रात और महीनों लम्बे दिन के कारण है। संसार का न्यून से न्यून तापक्रम इसी जलवायु में स्थित साइबेरिया के वेरखोयान्स्क नामक ग्राम में मिलता है। ग्रीष्म में दिन में तापक्रम कभी-कभी १००° फा० से ऊपर हो जाता है, परन्तु शीत ऋतु में न्यूनतम ताप (ऋण)—७३° फा० तक देखा गया है।

नीचे दी हुई तालिका में वेरखोयान्स्क के ताप और जलवर्पा दिए गए हैं।

	ज	फ	म	अ	म	जू	जु	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	–५८	–४८	–२४	९	३६	५६	६०	५२	३९	६	–३४	–५१
जलवर्पा	०	०	०	०	०	१	१	१	०	०	०	०

इस तालिका को निकटवर्ती चित्र में भी दिखाया गया है।

हिम प्रदेशीय (टुंड्रा) जलवायु

यह जलवायु ध्रुव खंड में ऐसे अक्षांशों में मिलती है जहाँ ग्रीष्म ऋतु इतनी छोटी होती है कि शीत ऋतु में गिरी हुई हिम कभी पूरी पिघल ही नहीं पाती है। बरफ के ढेर लगते जाते हैं जो टूट-टूट कर समुद्र में आइसबर्ग (हिमशिला) बन कर बहते हैं। शीत ऋतु में ब्लिजर्ड नामक आँधी और प्रायः बादलों से आकाश का ढका रहना इस जलवायु की विशेपतायें हैं। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें बराबर कई महीने तक पड़ती रहती हैं और इसलिये कहीं-कहीं बरफ पिघल जाती है, और एक प्रकार की झाड़ी वाली वनस्पति कुछ दिन के लिये उग आती है। इस जलवायु में शीत ऋतु में नदी और समुद्र का जल ऊपरी तह में जम जाता है, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में जल फिर खुल जाता है।

आगे दी हुई तालिका में इसपिट्सबर्गन के ताप और वर्पा दिये हैं। इस स्थान पर समुद्र में गरम जलधारा का प्रभाव होने से ताप बहुत नीचे नहीं पहुँचते:—

	ज	फ	मा	अ	म	जू	जु	अ	सि	अ	न	दि
तापक्रम	४	—२	—२	८	२३	३५	४२	४०	३२	२२	११	६
जलवर्षा	१	१	१	१	०	०	०	१	१	१	१	२

पर्वतीय जलवायु

पर्वत की ऊँचाई के अनुसार वायु का ताप तथा जलवर्षा आदि में परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के कारण ऊँचे पहाड़ों पर ध्रुव खंड का सा तापक्रम और वर्षा मिलती है। पर्वत के नीचे भाग में अक्षांश के अनुसार तापक्रम ऊँचा और जलवर्षा प्रायः अधिक हुआ करती है। विषुवत् रेखा के निकट होने पर भी अफ्रीका के किलामंजारू नामक पर्वत की चोटी सदा हिमाच्छादित रहती है। पर्वतीय जलवायु में न केवल अक्षांश का ही प्रभाव दिखलाई पड़ता है, वरन् वायु वाहन की दिशा का भी। जैसा कि पीछे वर्णन किया गया है, पहाड़ के उन ढालों पर जहाँ वायु ऊपर से नीचे उतरती है, तापक्रम साधारण से अधिक ऊँचा होता है। ऐसे ढाल पर वर्षा नहीं होती है। जलवर्षा उसी ढाल पर होती है जो पवन की ओर होता है। इस प्रकार पर्वतीय जलवायु का संबंध अक्षांश, ऊँचाई और पवन की दिशा से है।

स्थली व समुद्री जलवायु

कभी-कभी जलवायु को स्थली अथवा समुद्री जलवायु भी कहते हैं। किसी स्थान पर स्थल अथवा समुद्र के प्रभाव के अनुसार यह विभाजन किया गया है। विशेष बात ध्यान देने की यह है कि स्थलीय जलवायु में ग्रीष्म और शीत ऋतु के तापक्रमों में महान अन्तर होता है। समुद्री जलवायु में यह अन्तर कम होता है। समुद्री जलवायु में उच्चतम तापक्रम अगस्त मास में, और न्यूनतम ताप फरवरी मास में हुआ करते हैं। स्थली जलवायु में ये ताप जुलाई और जनवरी में होते हैं।

जलवायु का नवीन विभाजन

उपरोक्त जलवायु का विभाजन मोटी-मोटी बातों को ध्यान में रख कर ही किया गया है। इस विभाजन में यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि किसी दो जलवायु के मध्य की सीमा कहाँ है। इस विभाजन में जलवायु की सीमा का निर्धारण करना इसलिए असंभव है कि नियत तापक्रम तथा जलवर्षा का अन्तर-संबंध पूर्ण रूप से ध्यान में नहीं रक्खा गया है। इस संबंध का ध्यान रखते हुए डा० कोयपन ने अपनी पुस्तक ग्रंडरिश-दर-क्लिमा कुंडे में किया है। कोयपन के विभाजन का महत्व इस बात में है कि उन्होंने जलवायु की सीमा का तापक्रम निर्धारण करने से पहले जलवर्षा का जो प्रभाव उस तापक्रम पर पड़ता है उसको भली भाँति अध्ययन कर लिया है।

कोयपन के विभाजन में प्रत्येक जलवायु के लिए अक्षर नियत कर दिये गये हैं। किसी

विशेष अक्षर वाली जलवायु की स्थानीय विशेषताओं का महत्व दिखाने के लिए उस अक्षर के साथ निम्नलिखित छोटे अक्षर भी जोड़ दिये जाते हैं।

ग्रीष्म में भी वर्षा ऋतु होने पर 'S', शीत ऋतु में भी होने पर 'W', पूरे वर्ष वर्षा होने पर F

कोयपन के विभाजन में निम्नलिखित अक्षर प्रयोग में लाये गये हैं:—

उष्ण खंड की विषुवत् रेखीय जलवायु के लिए जहाँ शीत ऋतु नहीं होती है और जहाँ ६४.४° फा० से नीचे तापक्रम नहीं जाता है, A

उष्ण मरुस्थली जलवायु के लिये जहाँ वर्षा से अधिक वाष्पीकरण होता है, B

मध्य अक्षांश की आर्द्र जलवायु जहाँ शीत ऋतु कड़ी नहीं होती है और जहाँ २६.६° फा० से नीचे ताप नहीं जाता है, C

इन्हीं अक्षांशों की आर्द्र जलवायु जहाँ शीत ऋतु में २६.६° फा० से नीचे ताप पहुँच जाता है परन्तु जहाँ ग्रीष्म में ५०° फा० से अधिक ताप पहुँचता है, D

ध्रुव खंड की जलवायु जहाँ ग्रीष्म का औसत ताप ५०° फा० से नीचे ही रहता है, E

इस विभाजन के अनुसार उष्ण खंड की जलवायु का निर्धारण वहाँ के तापक्रम तथा जलवर्षा की मात्रा के अनुसार होता है। शीतोष्ण खंड की जलवायु में ग्रीष्म और शीत ऋतुओं का महत्वपूर्ण अन्तर, तथा समुद्र के प्रभाव का विशेष ध्यान रक्खा गया है। ध्रुव खंड की जलवायु में हिम की प्रधानता तथा ग्रीष्म ऋतु में वनस्पति के उगने योग्य तापक्रम का ध्यान रक्खा गया है।

कोयपन प्रणाली के उपरोक्त पाँच मुख्य भागों के ११ उपभाग (टाइप) किये गये हैं। इनका विवरण नीचे दिया जाता है —

कोयपन की जलवायु प्रणाली

विशेषता	भाग	उपभाग
आर्द्र जलवायु	A	(i) Af—शुष्क ऋतु का अभाव (ii) Aw—शुष्क शीत ऋतु (मानसून जलवायु जिसको Aw कहते हैं)
	C	(iii) Cf—शुष्क ऋतु का अभाव (iv) Cs—शुष्क ग्रीष्म ऋतु (भूमध्य सागरीय जलवायु) (v) Cw—शुष्क शीत ऋतु
	D	(vi) Df—शुष्क ऋतु का अभाव (vii) Dw—शुष्क शीत ऋतु
शुष्क जलवायु	B	(viii) Bs—अर्द्ध मरुभूमि (ix) Bw—मरुभूमि
हिम जलवायु	E	(x) ET—टुन्ड्रा (xi) EF—हिम प्रधान

उपरोक्त सूची में C और D जलवायु के निम्नलिखित नये उपविभाग भी आजकल जोड़े जाते हैं:—

a—कड़ी गर्मी
b—साधारण गर्मी
c—केवल थोड़े समय तक साधारण गर्मी
d—कठोर शीत

इस प्रणाली में निम्नलिखित संकेत भी प्रयोग किये जाते हैं:—

H—उच्च पर्वत शिखर की जलवायु
p—कड़ी गर्मी और शुष्कता
i—वार्षिक ताप-अन्तर न्यून
m—कोहरा की प्रधानता।
n—वायु में आर्द्रता की प्रधानता।

कोयपन ने अपनी प्रणाली में सेन्टीग्रेड अंशों का प्रयोग किया था। ये अंश नीचे दिये जाते हैं:—

A जलवायु की सीमा के लिए	१८° स०	(६४.४° फा०)
C ,, ,, ,,	१०° स०	(५०° फा०)
D ,, ,, ,,	−३° स०	(२६.६° फा०)

जलवायु के ऐतिहासिक परिवर्तन:

भूतत्ववेत्ताओं (जियोलोजिस्ट) की खोज से यह पता चलता है कि संसार के इतिहास में जलवायु के परिवर्तन होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। पृथ्वी की भिन्न-भिन्न प्रकार की चट्टानों में जलवायु के इन ऐतिहासिक परिवर्तनों का मुख्य प्रमाण पाया जाता है। जिसको हम आज 'पत्थर का कोयला' कहते हैं वह एक प्रकार की वनस्पति से बना है। विज्ञान की दृष्टि से उस वनस्पति के उगने के लिए उष्ण और आर्द्र जलवायु का होना आवश्यक था। परन्तु योरप तथा अमेरिका में जहाँ अधिकतर पत्थर का कोयला पाया जाता है, आजकल शीतल जलवायु मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि पत्थर के कोयले को बनाने वाली वनस्पति के उगने के लिए अर्वाचीन काल में उपयुक्त जलवायु वहाँ थी, परन्तु आधुनिक काल में उस जलवायु में महान् परिवर्तन हो गया है।

जलवायु में परिवर्तन सिद्ध करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ विशेषज्ञ ने पुराने पेड़ों से सहायता ली है। यह बात मानी हुई है कि पेड़ों के तनों में अनेक गोल चिन्ह पाये जाते हैं। इन चिन्हों की आपस की दूरी सदा एक सी नहीं देखी जा सकती है। तने के किसी भाग में घेरे एक दूसरे के निकट होते हैं और कहीं दूर। ऐसा देखा गया है कि जिस वर्ष जलवर्षा अधिक होती है उस वर्ष पेड़ अधिक बढ़ता है। परन्तु जिस वर्ष

जलवर्षा कम होती है उस वर्ष पेड़ की उन्नति कम होती है। अधिक उन्नति वाले वर्ष में पेड़ में बनने वाला घेरा बहुत ऊँचाई तक पाया जाता है, और कम उन्नति वाले वर्ष में यह घेरा बहुत पतला होता है। केलिफोर्निया में डगलस फर नामक पेड़ पाये जाने वाले गोल चिन्हों का संबंध जलवर्षा से स्थापित किया गया है। ये पेड़ लगभग ४००० वर्ष पुराने हैं। इन पेड़ों के घेरे को देखने से जलवर्षा में सहस्रों वर्षों में होने वाले परिवर्तनों का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उस देश के सिकोइया नामक पेड़ के चिन्हों से ज्ञात होता है कि ईसा से लगभग १८०० वर्ष पूर्व से ईसा से ५०० वर्ष उपरान्त तक जलवर्षा अधिक थी। परन्तु ५०० ए० डी० के बाद जलवर्षा में कमी होती जा रही है।* पेड़ों के तनों के छोटे-बड़े घेरों से भी यही सिद्ध होता है कि संसार की जलवायु में समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं।

पृथ्वी पर कहीं-कहीं भिन्न प्रकार के फल और फूलों के मृत रूप (फासिल) भूमि में गड़े हुए पाये जाते हैं। ये फल और फूल ऐसी वनस्पति के हैं जो आधुनिक काल में उन भागों में नहीं देखी जाती हैं। यह भी माना गया है कि आधुनिक जलवायु उस वनस्पति के उगने के योग्य नहीं है। इस प्रकार के मृत फूल (फासिल पोलन) संयुक्त राज्य अमेरिका में बड़ी झीलों के निकट खोदे गये हैं।

धरातल के कुछ आकार (लैंडरिलीफ) ऐसे हैं जो केवल बरफ द्वारा ही बन सकते हैं। ऐसे आकार पृथ्वी पर आजकल ऐसे भाग में मिलते हैं जहाँ इस समय बरफ देखी भी नहीं जाती है। इन आकारों की उपस्थिति से भी यह सिद्ध होता है कि उन भागों में जलवायु परिवर्तित हो गई है। कनाडा में प्रोफेसर कोलमैन को एक ऐसी पर्तदार चट्टान मिली है जो जल द्वारा नहीं वरन् बरफ द्वारा बनी थी। यह चट्टान आन्टेरियो प्रान्त में ओरोन झील के निकट लगभग १००० मील तक फैली हुई है। यह पर्तदार चट्टान चिकनी बोल्डर मिट्टी की बनी हुई है जिसको हिमसर (ग्लेशियर) ही इकट्ठा कर सकते हैं। पृथ्वी पर पर्तदार चट्टान का यह सबसे प्राचीन उदाहरण है। इस स्थान पर चिकनी बोल्डर मिट्टी से पर्तदार चट्टान बन जाना यह सिद्ध करता है कि यहाँ पर पृथ्वी की लगभग आरंभिक दशा में ही हिमसर उत्पन्न करने योग्य अति शीत जलवायु थी।

भूगर्भविद्या की खोजों के अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि जलवायु के अर्वाचीन पर परिवर्तनों को दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है। एक प्रकार का परिवर्तन वह है जो पृथ्वी पर लगभग प्रति दस करोड़ वर्ष के उपरान्त हुआ है। दूसरी प्रकार के परिवर्तनों में वे छोटे-छोटे परिवर्तन सम्मिलित हैं जो पृथ्वी के कुछ भागों में ही हुए हैं। ये छोटे-छोटे परिवर्तन प्रायः दो लाख वर्ष के उपरान्त हुए हैं।

*हनटिंगटन—क्लाइमेटिक चेन्जेज

पृथ्वी के इतिहास में, जलवायु की दृष्टि से, तीन महान् परिवर्तन हुए हैं जिनके नाम पृथ्वी के चट्टानों के इतिहास से संबंधित हैं। ये नाम निम्नलिखित हैं:—

१. पैलियोजिक २. मेसोजोयिक और ३. सेनोजोयिक

छोटे परिवर्तन काल निम्नलिखित नामों से विख्यात हैं:—

आर्कओजोयिक = अति प्राचीन जलवायु

(अ) पैलियोजोयिक में—१. कैम्ब्रियजन, २. आर्डोवीसियन, ३. सिल्युरियन ४.डेओनियन, ५. परमियन।

(ब) मेसोजोयिक में— १. ट्रियासिक, २. जूरैसिक, ३. क्रेटेसस।

(स) सेनोजोयिक में—

१. इसोसीयन २. ओलिगोसीन ३. मियोसीन ४. प्लियोसीन	टर्शियरी
५. प्लिस्टोसीन ६. रीसेंट	क्वाटरनेरी

सामान्य रूप से जलवायु के परिवर्तनों के विषय में हम यह कह सकते हैं कि दीर्घकाल तक समस्त पृथ्वी पर एक सी ही जलवायु रहने के बाद वह कटिबन्धों में बँट जाती है। जलवायु का कटिबन्धीयकरण चार बड़े हिमयुगों (आइस एज) के समय हुआ है। ऐसे युग उत्तरकालीन प्रोटेरोजोइक डेवोनियन, पर्मियन और उत्तरकालीन टर्शियरी समयों में हुए हैं।

जलवायु का असाधारण परिवर्तन प्लिस्टोसीन काल से आरंभ होता है जैसा कि उन चार हिम-युगों और उनके तीन मध्यकालीन हिमशर (ग्लेशियर) कालों से (जब जलवायु कुछ गर्म हो जाती है) प्रकट है। परन्तु मियोसीन समय में कटिबन्ध जलवायु का महत्व होने लगता है। उस काल से लेकर आज तक यह परिवर्तन चल रहा है।

दूसरे प्रकार का प्रमाण उन खण्डहरों से मिलता है जो आजकल के मरुस्थली प्रदेशों में पाये जाते हैं। इस तरह के बड़े से बड़े खंडहर अवश्यमेव मुख्य जल-रेखाओं के निकट पड़े हुए हैं। इससे पता लगता है कि किसी समय उन स्रोतों (छोटी नदियों) में स्थिर रूप से पानी उपस्थित रहा होगा जिसके कारण वहाँ गाँव और शहर जो आज भग्नांश हो रहे हैं, उनके किनारे बस गए होंगे।
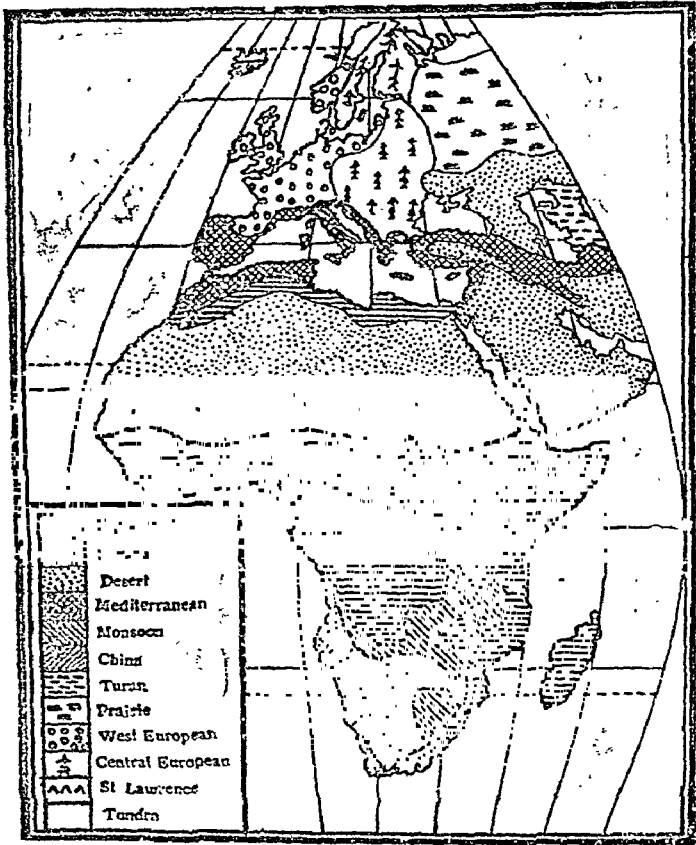
चित्र ७५

संक्षेपतः इस बात का स्पष्ट प्रमाण मौजूद है कि पृथ्वी के जीवन की प्रारंभिक व ऐतिहासिक दोनों ही अवस्थाओं में जलवायु में परिवर्तन हुए होंगे ।

जलवायु में अन्तर पड़ने के कारण

ऐण्डर्स ऐंग्सट्रम (ज्याग्राफिस्का अन्नालेर, Vol,17, १९५३) ने निम्नलिखित कारण बताए हैं जिनसे एक साथ हर जगह की जलवायु बदल जाती है:—

(१) सौर्यिक शक्ति जो पृथ्वी पर आती है उसकी मात्रा में परिवर्तन आ सकते हैं (अ) वायुमंडल के ऊपरी धरातल में पहुँचने वाली सौर्यिक शक्ति की मात्रा में अन्तर

पड़ जाय, (ब) वायुमंडल से छनकर आने वाली शक्ति में अन्तर पड़ जाय या (स) बादलों की मात्रा में अन्तर पड़ जाय।
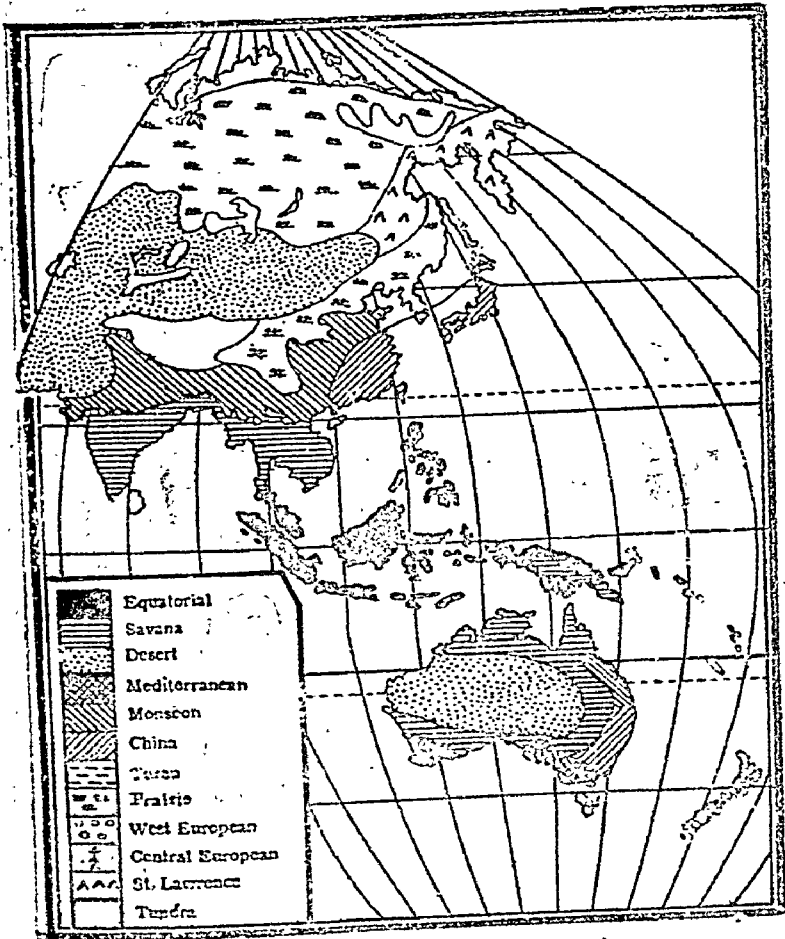
चित्र ७६

(२) वायुमंडली संचालन में परिवर्तन।

(३) ऐसे कारणों में परिवर्तन जिनका वायु पर यथार्थ प्रभाव अभी तक अज्ञात है। ऐसे कारणों में सूर्य से निकलने वाला महीन प्रकाश और वायुमंडल में स्थित जल बिन्दु निर्माण के पदार्थ भी हैं।

आने वाली सौर्यशक्ति पर प्रभाव डालने वाली वस्तुओं में वायु में उपस्थित धूलिकण और कारबन डाई आक्साइड गैस प्रमुख है। धूलि अधिकतर ज्वालामुखी पहाड़ियों के

उद्गारों से प्राप्त होती है। इस प्रकार की धूलि पूर्ण वायुमंडल में प्रवेश कर लेती है। १८८३ में क्राकाटोआ ज्वालामुखी के विस्फोट से जो धूलि आकाश में फैली उससे फ्रांस में स्थित मोन्टोलियर की वेधशाला ने वहाँ आने वाली सौर्यशक्ति में १० प्रतिशत कमी पाई। इस धूलि का प्रभाव लगभग ३ वर्ष तक रहा।

शौर्यशक्ति पर वायु में उपस्थित कारवन डाई आक्साइड के प्रभाव की ओर अंग्रेज वैज्ञानिक जान टिन्डल ने पहले पहल ध्यान आकर्षित किया था। हाल ही में इसका समर्थन अमेरिका में भी हुआ है। साधारण अवस्था में केवल ०.०३ प्रतिशत भाग ही कारवन डाई आक्साइड का रहता है। परन्तु समय-समय पर इस मात्रा में परिवर्तन हुआ करता है। वायु को यह गैस मुख्यत: ज्वालामुखी पर्वतों से तथा वनस्पति के सड़ने से प्राप्त होती है। अधिक ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गार तथा अधिक वनस्पति के सड़ने पर इसकी मात्रा वायुमंडल में बढ़ जाती है। परन्तु सबसे अधिक वृद्धि कोयला और मिट्टी के तेल के जलने से होती है। ऐसा अनुमान है कि आजकल के कारखानों से लगभग ६०० करोड़ टन कारवन डाई आक्साइड वायुमंडल को प्रति वर्ष मिलती है। एक टन कोयला जलाने पर ढाई टन कारवन डाई आक्साइड निकलती है।

वायु में से कारवन डाई आक्साइड खींचने वाले वनस्पति और चट्टानें हैं। वनस्पति का मुख्य भोजन यही गैस है। इसी से पेड़ों की उन्नति होती है। चट्टानों के घर्षीकरण में भी कारवन डाई आक्साइड का अधिक व्यय होता है। वायुमंडल में कारवन डाई आक्साइड के आय-व्यय का व्यौरा देखते हुए वैज्ञानिकों ने यह अनुमान लगाया है कि गत लगभग ५० वर्षों में इसकी वृद्धि लगभग १००% हुई है।

कारवन डाई आक्साइड आने वाली शक्ति को नहीं रोकती है; परन्तु उससे प्राप्त गर्मी को वायुमंडल से बाहर जाने से रोकती है। इसका फल यह है कि जब इस गैस की मात्रा कम होती है तब पृथ्वी पर ताप कम होता है, क्योंकि तब पृथ्वी की गर्मी के बाहर जाने पर रोक कम होती है। जब इस गैस की मात्रा अधिक होती है, तब यह गर्मी बाहर नहीं जा पाती है। इसलिए पृथ्वी पर ताप की वृद्धि हो जाती है।

पिछले १०० वर्षों का अनुभव है कि पृथ्वी पर औसत ताप लगभग २ दर्जे फा० ऊँचा हो गया है। इंगलैण्ड का औसत ताप १८५० की अपेक्षा अब २ फा० अधिक है। स्पिट्सवर्ग में १९१० की अपेक्षा आजकल ताप लगभग १८ फा० दर्जे बढ़ गया है, जिसका फल यह है कि वहाँ का बन्दरगाह अब वर्ष में २०० दिन खुला रहता है। यह वृद्धि वायु में कारवन डाई आक्साइड की वृद्धि के कारण ही बताई जाती है।

कारवन डाई आक्साइड की वृद्धि के समय अधिक ताप और कम जलवर्षा का

समय होता है। उसकी कमी के समय कम ताप और अधिक जलवर्षा का समय होता है। कम ताप के समय हिम नदियों में वृद्धि होती है और इसलिए समुद्र तल पीछे हटता है; अधिक ताप के समय हिम नदियों का ह्रास होता है और इसलिए समुद्रतल (सी लेविल) आगे बढ़ता है।

मनुष्य अपने लिये निजी जलवायु नहीं बना सकता। अतः उसे अपने जीवन तथा दृष्टिकोण को उस जलवायु के अनुसार बनाना पड़ता है जिसे प्रकृति ने उसके लिए बनाया है। यदि उसे अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करनी है, तो उसे कम से कम इस एक न एक क्षेत्र में अवश्य प्रकृति का सहयोग देना होगा, उसके वस्त्र ऐसे होंगे जो उसे ऋतु तत्वों से आवश्यकतानुसार बचा सकें; उसका निवास स्थान ऐसा होना चाहिये जो उसे न उसके शत्रुओं के आक्रमण से ही बचा सके, बल्कि जलवायु के कष्टों से भी बचा सके। उसका भोजन, उसकी आदतें और उसका रहन-सहन सभी जलवायु से प्रभावित होंगे। उदाहरण के लिए उष्णकटिबन्धीय जलवायु में, मनुष्य सवेरे तड़के उठ सकता है और बिना कोई कपड़े पहने बाहर जा सकता है; परन्तु वह उत्तर की ठंडी जलवायु में ऐसा नहीं कर सकता। जाड़े में सवेरे के समय तड़के रूस में बिना समुचित कपड़े पहने या खाये-पिये घर के बाहर निकलने को यदि हिम्मत करे, तो कमकर मर जायगा। अतएव, इसमें आश्चर्य नहीं कि उन गिने-गिने योरोपियों में से जो भारत में रहते हैं बहुत थोड़े लोग सवेरे उठने के आदी होते हैं। जाड़े में रूस में सड़कें और रेल की पटरियाँ बर्फ के नीचे गहरी दब जाती हैं और उन पर चलना तभी संभव हो सकता है जब वहाँ से हिम हटा दिया जाय। कभी-कभी मोटरकारों के इंजिनों में पेट्रोल तक जम जाता है। उष्ण कटिबन्ध की बढ़ी हुई नदियाँ भी वहाँ की जलवायु के कारण चलने-फिरने में ऐसी ही कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देती हैं।

मनुष्य का खाना, किसी न किसी रूप में वनस्पति से ही प्राप्त होता है। मांस खाने वाले लोग अपना भोजन चौपायों या भेड़ों से पाते हैं जो वनस्पति पर ही पलते हैं। शाकाहारी लोग अपना भोजन सीधे पौधों से ही पाते हैं। मनुष्य का एक प्रधान भोजन मछली है, परन्तु वह भी अन्त में एक प्रकार की वनस्पति, प्लैंकटन, पर ही निर्भर है।

वनस्पति जलवायु के प्रभाव से उगती है, तापक्रम, वर्षा और धूप इसके उगने के लिए प्रारंभिक आवश्यकतायें हैं। मनुष्य अपने खाने के लिए विशेष प्रकार की वनस्पतियों का उपयोग करता है। वे साधारणतया घासें होती हैं यद्यपि कुछ पेड़—फलों में आम, सेब, नीबू, कोको, कहवा, अखरोट के पेड़—भी इस दृष्टि से उपयुक्त होते हैं। विशेष प्रकार की वनस्पतियों को विशेष प्रकार की जलवायु और मिट्टी चाहिए। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि मिट्टी स्वयं जलवायु की एक उपज है। अब मनुष्य के भोजन और अन्य आवश्यकताओं के लिए फसलें तैयार की जाने लगी हैं, यह भी मनुष्य के विकास

की एक अवस्था है जो केवल जलवायु के नियमों का सहयोग करने से संभव हो सकी है। उदाहरणतः गेहूँ को सफलतापूर्वक उगाने के लिए विशेष प्रकार के तापक्रम और एक विशेष प्रकार की जलवर्षा की आवश्यकता होती है। इसीलिए, मनुष्य उस सर्वोत्तम ऋतु को चुनता है जब ऐसा तापक्रम और जलवर्षा उसे प्रकृति से मिलती है। निस्संदेह, यह तर्क किया जा सकता है कि आधुनिक मनुष्य कृत्रिम साधनों द्वारा जलवायु की इन आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है, परन्तु यह केवल प्रयोगशाला में कर सकता है, खुले मैदानों में नहीं। यह बात पक्की है कि गेहूँ या और कोई फसल खड़ी करने के लिए उसे जलवायु पर निर्भर रहना पड़ेगा।

एक दृष्टि से मनुष्य कृत्रिम रूप से खेती की फसलों की एक आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ हो सकता है, और वह है जल। मनुष्य खेत की फसलों को कृत्रिम सिंचाई द्वारा कुछ क्षेत्रों में पानी दे सकता है। परन्तु यहाँ भी वह जलवायु से पूर्णतया स्वतंत्र नहीं रहता। पानी प्राप्त करने के लिए उसे जलवर्षा या हिम वर्षा का मुँह ताकना पड़ता है, जिससे नदी का पानी नहर में ले जा सके और नहर का खेत में। यदि वर्षा न हो तो बहुत सी नहरें सूखी रह जायँ।

पृथ्वी के धरातल पर खेती बढ़ाने में, मनुष्य को जलवायु से सहायता लेनी ही पड़ जाती है।

जलवायु का उद्योग-धंधे पर कुछ कम महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ कच्चे माल जलवायु पर ही पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं। कच्ची ऊन उन भेड़ों से आती है जो घास चरती हैं। ऊपर देखा जा चुका है कि घास का उगना पूरी तौर से जलवायु पर निर्भर है। इस प्रकार, जलवायु कच्ची ऊन के परिणाम पर नियंत्रण करती है। भेड़ों के लिए जितनी घास मिल सकेगी उसी हिसाब से ऊन भी मिलेगी। इसी से कच्ची ऊन का घटिया या बढ़िया होना मालूम हो सकता है। शीत जलवायु में, भेड़ों के ऊपर उष्ण जलवायु की अपेक्षा उत्तम ऊन उगती है। भेड़ों को ठंड से बचाने के लिए प्रकृति उनकी खाल पर लम्बी और महीन ऊन उपजाती है। गर्म देशों में प्रकृति को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं होती। खेती से प्राप्त होने वाले कच्चे मालों का जलवायु पर निर्भर होना स्पष्ट ही है।

ऐसे भी कुछ कच्चे माल हैं जिनकी पूर्ति भूतकालीन जलवायु के कारण होती है। भूतकालीन जलवायु के ही कारण जर्मनी में और इंगलैंड में नमक की बड़ी-बड़ी खानें निकली हैं। आधुनिक कला-कौशल के पहियों को चलाने वाले कोयले की बड़ी-बड़ी तहें ऐसी ही एक जलवायु की उपज है। कोयला एक घने रूप से उगी हुई वनस्पति का परिवर्तित रूप है जो, भूगर्भवेत्ताओं के कथनानुसार भूतकाल में कुछ क्षेत्रों में प्रचलित जलवायु के कारण उगी हुई थी। उस प्रकार की जलवायु और वैसी वनस्पति की अनुप-

स्थिति में आज पृथ्वी पर कोयला बिल्कुल न होता। जलोत्पन्न विद्युत्-शक्ति का विकास भी उसी तरह जलवायु के ही कारण संभव हो सका है। जलवर्षा या हिमवर्षा के ही कारण नदियाँ बहती हैं और फिर उनसे बिजली पैदा की जाती है परन्तु यह वर्षा भी वर्तमान जलवायु पर ही निर्भर होती है। हिमशरों वाले प्राकृतिक भागों में आसानी से जल-विद्युत पैदा की जा सकती है। वे क्षेत्र जो हिमशरों से बने हैं, किसी ऐसी भूतकालीन जलवायु की ही उपज है जिसमें पृथ्वी के कुछ हिस्सों में इतनी ठंडक रही होगी कि बर्फ की मोटी-मोटी तहें वहाँ पाई जाती हों। जलवायु में परिवर्तन होने से बर्फ पिघली और उसके खिसकते समय यह हिमशर प्रभावित क्षेत्र बना।

इस पुस्तक की भूमिका में यह उल्लेख किया गया था कि जलवायु मनुष्य के अन्दर काम करने के लिए आवश्यक स्फूर्ति भर देती है। इस कार्यशीलता से ही वह अनुभव प्राप्त करता है और सभ्य बन जाता है। मानवी चरित्र का विकास—जो एकत्रित अनुभव का दूसरा नाम है—और मानवी सभ्यता दोनों मिल कर संसार की भौतिक उन्नति करते हैं, परन्तु ये स्वयं जलवायु पर निर्भर हैं।

संसार की अधिकांश जनसंख्या आजकल उन मैदानों में मिलती है जहाँ वर्तमान जलवायु ने उस जनसंख्या की उदरपूर्ति के लिए अधिक परिमाण में भोजन उत्पन्न करना संभव कर दिया है। चीन, भारत, जापान और एशिया के दक्षिणी-पूर्वी भागों में संसार की जनसंख्या का लगभग आधा भाग बसा हुआ है। घनी जनसंख्या के दूसरे केन्द्र औद्योगिक योरोप तथा उत्तरी अमेरिका में पाये जाते हैं। इसका कारण भी भूत-कालीन जलवायु का प्रभाव है, तभी तो वहाँ कोयले, लोहे या अन्य वस्तुओं की बड़ी-बड़ी खानें हैं जिनसे बड़े-बड़े उद्योग-धंधे खुल गये हैं।

इसके विपरीत, सहारा, अरब, आस्ट्रेलिया और दूसरे विस्तृत मरुस्थल भी हैं जहाँ आजकल बहुत थोड़े लोग रहते हैं। न तो वर्तमान और न कदाचित् भूतकाल की जलवायु ही इन क्षेत्रों में अधिक जनसंख्या को आकर्षित करने में सहायक हो सकी। पानी की कमी इन मरुभूमियों में मनुष्यों के बसने में सबसे बड़ी बाधा डालती है। इस प्रकार ठंड ध्रुवीय मरुभूमियाँ भी हैं। ऐन्टार्कटिका उतना ही बड़ा है जितना योरुप का महाद्वीप परन्तु एक भी मनुष्य वहाँ नहीं बसा है। वहाँ की जलवायु असह्य रूप से ठंडी है। कांगो और अमेजन की घाटियों में, और अन्य भूमध्यरेखीय प्रदेशों में, जलवायु ऐसी है कि घने जंगल उगते हैं। ये घने वन और गर्म, आर्द्र जलवायु (जिसके कारण वे वन उगे हैं) बस्ती नहीं बनने देते।

इसलिए हम देखते हैं कि आजकल पृथ्वी के धरातल पर जनसंख्या का वितरण वर्तमान अथवा भूतकालीन जलवायु द्वारा ही निर्धारित है।

जब कभी किसी क्षेत्र की जलवायु में ऐसे परिवर्तन हुए कि खाद्य-उत्पत्ति पर हानि-

कारक प्रभाव पड़ा, तो बहुत सारे लोग आस-पास के उपजाऊ क्षेत्रों में चले गये। भूतकाल में जब मध्य एशिया से लोगों ने स्थान परिवर्तन किया तो उससे योरप और एशिया में अधिकाधिक महत्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन हुए। *सेम्पिल के कथनानुसार लगभग २००० वर्ष पहले पश्चिमी एशिया से पानी का सूखा पड़ जाने पर लोगों ने जो खिसकना और भागना शुरू किया उसी से रोम का अवःपतन हुआ और मध्य योरप की कृषि योग्य भूमियों पर बस्तियाँ बसीं। इसी कारण चीन, भारत और दजला व फरात एवं नील की घाटियों पर आक्रमण हुए और वे लोग वहाँ जाकर बस गये। सूखा पड़ने की साध्य को अन्य व्यक्तियों ने भी मान लिया है। उनमें अमेरिका के भूगोलवेत्ता हंटिंग्टन और रूस के भूगोलवेत्ता राजकुमार क्रोपोटकिन जैसे मुख्य व्यक्ति हैं। इस तरह जलवायु किसी न किसी रूप में संसार के इतिहास में सबसे महत्वशाली विकासों की भी कारण रही है।

इस प्रकार कोपन के ११ जलवायु निम्नलिखित हैं:—

A—f विषुवत रेखीय जलवायु
A—w सवाना अथवा सूडान जलवायु
B—S तूरानी जलवायु
B—w सहारा जलवायु
C—f पश्चिमी योरोपीय जलवायु
C—w मध्य योरोपीय जलवायु
C—s भूमध्य सागरीय जलवायु
D—f प्रेरी जलवायु
D—w उत्तरी वन प्रदेशीय जलवायु
E—T टुन्ड्रा जलवायु
E—F हिम प्रदेशीय जलवायु

कोयले के अनुसार पृथ्वी का निम्नलिखित प्रतिशत भाग भिन्न-भिन्न जलवायु में है:—

Af	२३	३६
Aw	१३	
BS	७	११
BW	४	
Cw	२	२७
Cs	३	

*Ellen Semple : The Influences of Geographic Environment, पृष्ठ १७।

Cf	२२	७
Df	६	
Dw	१	१९
ET	१३	
EF	६	

ऐतिहासिक काल में ही नहीं, वरन् पुरातन काल में भी जलवायु के कारण जनसंख्या का स्थान परिवर्तन होता था। यह सुदूर भूत की बात नहीं है जब एक महान महाद्वीप हिम राशि दक्षिण की ओर फैल गई थी और उसने आधा योरप ढक लिया था। बर्फ का अग्रिम भाग दक्षिण में जर्मनी और मध्य रूस तक पहुँच गया था। जो लोग उस समय उत्तरी योरप में रहते थे उन्हें विवश हो कर दक्षिण की ओर जाना पड़ा क्योंकि बर्फ बढ़ता चला आ रहा था। ग्रिफिथ टेलर का कहना है कि पिछले चार हिमयुगों का संबंध मनुष्य के चार महान् स्थान परिवर्तनों से है। अन्तिम हिम युग ने प्रारंभिक आर्य जातियों (जैतूनी रंग वाली) को केवल भारत, योरुप और अफ्रीका में ही नहीं जा फेंका बल्कि उत्तरी चीन और जापान में भी ला पटका। बहुत से भागे हुए लोग अमेरिका पहुँच गए और ब्राजील की जातियों में मिलते हैं। जातियों के वर्ण में भेद पड़ने का संबंध, टेलर के कथन के अनुसार जलवायु के उन परिवर्तनों से है जो एशियाई जन्म-स्थान में हुए थे। यह महान् जन्म स्थान अरल व फारस का प्रदेश था। गर्म और आर्द्र जलवायु ने लाल भूरी जातियाँ उत्पन्न कीं, शीतल आर्द्र प्रदेशों ने जैतूनी भूरी जातियाँ पैदा कीं; शुष्क गर्म प्रदेशों ने पीली जातियों को जन्म दिया। ये जातियाँ यदि अधिक समय किसी उष्ण प्रदेश में रहती हैं तो काली पड़ जाती हैं और उनका रंग चमड़े का सा होता है, और यदि अधिक समय तक किसी शीत प्रदेश में रहती हैं तो गोरी हो जाती हैं।

अतएव जलवायु ही वास्तविक सार है और इसी के अनुकूल पृथ्वी के धरातल पर मनुष्य की उन्नति होती है।

जलवायु, वनस्पति तथा भूमि (मिट्टी) का पारस्परिक संबंध आगे दिये हुए चित्रों से विदित होता है। पहले चित्र में पृथ्वी की उत्तरी गोलार्द्ध के साधारण दशा में की जलवायु दिखाई गई है। दूसरे चित्र में उपरोक्त चित्र की जलवायु में होने वाली वनस्पति दिखलाई गई है। तीसरे चित्र में इनसे संबंधित भूमि दी गई है। इस चित्र में पूर्ण आर्द्र जलवायु का संबंध घने वनों से, और उनका संबंध अनेक प्रकार की भूमि से दिखाया गया है। अन्य वनस्पति खंडों में वनस्पति की इतनी अधिक भिन्नता नहीं है जितनी कि इस खंड में।

जलवायु

शुष्क शीत | आर्द्र शीत

निरन्तर हिम

टुन्ड्रा

टैगा—वन प्रदेशीय

मरुभूमि | अर्द्ध मरुभूमि | अर्द्ध आर्द्र | आर्द्र | पूर्ण आर्द्र

शुष्क उष्ण | आर्द्र उष्ण

अध्याय १०

पृथ्वी का धरातल

जल और स्थल का अनुपात—विकास चक्र—वाहरी शक्तियाँ—भीतरी शक्तियाँ चट्टानें—आग्नेय चट्टानें—तहदार चट्टानें—परिवर्तित चट्टानें—चट्टानों का घिसना—भूमि की बनावट पर चट्टानों का प्रभाव, भूमि की बनावट—निर्माण विधि—संचय विधि—स्थलरूपों पर जलवायु का प्रभाव।

पृथ्वी का धरातल स्थल, जल एवं विभिन्न प्रकार के जीवों से आच्छादित है। मानव जीवन के दृष्टिकोण से पृथ्वी के धरातल पर स्थल का वहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि स्थल पर ही मनुष्य अपने आवास का निर्माण करता है और भौतिक विकास के निमित्त सुविधापूर्ण परिस्थितियों को उत्पन्न करता है। मनुष्य ही नहीं भूमण्डल पर रहने वाली और भी प्रकार की जीवकोटियाँ स्थल पर निर्भर रहती हैं। यहाँ तक कि सामुद्रिक जीव जो कि जल में ही निर्वाह करते हैं अपनी स्थिति एवं विकास के लिए स्थल से लाई हुई मिट्टी और जल पर ही रहते हैं। चिड़ियाँ जो प्रायः हवा में ही उड़ा करती हैं, वृक्षों पर बैठती हैं जिनकी जड़ें स्थल में होती हैं। अतएव भूगोल के अध्ययन में स्थल का वड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

पृथ्वी की धरातल का विस्तार लगभग १९७० लाख वर्गमील है। इसमें से स्थल अंश लगभग ५०० लाख वर्ग मील है जो कि समस्त विस्तार के एक चौथाई से थोड़ा अधिक है (२९ प्रतिशत)। निम्नांकित चित्र इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि पृथ्वी पर जल एवं स्थल का वितरण एक सा नहीं है। जव हम स्थल के इस लघु विस्तार की तुलना उसके विभिन्न प्रकार की जीव-कोटियों के लिये महत्व से करते हैं तो स्वभावतः स्थल के अध्ययन में हमारी रुचि वढ़ जाती है।
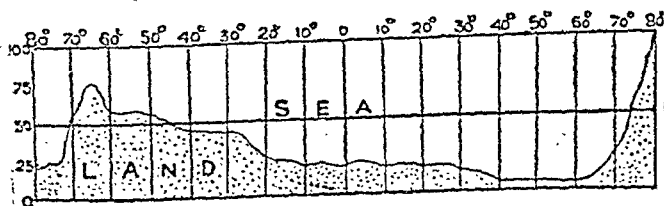
चित्र ७७—जल और स्थल के विस्तार का आक्षांशिक प्रतिशत

विभिन्न अक्षांशों में स्थल एवं समुद्र का अनुपात भिन्न-भिन्न है। चित्र को देखने से ज्ञात होता है कि उत्तरी गोलार्द्ध में २०° और ७०° के बीच में और दक्षिणी गोलार्द्ध में ७०° और ८०° के बीच में स्थल की अधिकता है।

यदि हम पहले अध्याय में विचार किए हुए किसी भी साध्य में विश्वास करते हैं तो मानना पड़ेगा कि पृथ्वी का प्रारंभिक धरातल किसी गैसयुक्त पदार्थ के ठंडा होने से बना। ठंडे होने की इस क्रिया ने अवश्य ही धरातल पर झुर्रियाँ उत्पन्न की होंगी और इसलिए पृथ्वी के प्रारम्भिक धरातल पर एक साथ ही उच्च एवं भिन्न प्रदेश रहे होंगे।

पृथ्वी के धरातल पर एक प्रकार का आवरण पड़ा है। यह आवरण स्वयं वायुमंडल है। इस आवरण की दशा एकसी सदा नहीं रहती, इसके रूप में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। इस परिवर्तन में प्रमुख क्रियाशील शक्तियाँ हैं—ताप आर्द्रता तथा वायुमंडल में विद्यमान रहने वाली रासायनिक शक्तियाँ। वायुमंडल की अवस्था सदैव एक सी नहीं रहती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि पृथ्वी के धरातल का स्वरूप परिवर्तनशील है। वायुमंडल भूमि के ऊपर पड़ी हुई झुर्रियों को दूर करने में क्रियाशील हैं। अतएव उच्च स्थल शनैः-शनैः विलीन हो रहे हैं। वे निम्न स्थलों को भर रहे हैं। किन्तु पृथ्वी के धरातल को समतल बनाने की वायुमंडल की चेष्टा विफल है; क्योंकि पृथ्वी की भीतरी शक्तियाँ उसके कार्य को तोड़-फोड़ देती हैं। जहाँ पहले झुर्रियों का नाम नहीं था वहाँ नई झुर्रियों का उदय हो रहा है। किन्तु वायुमंडल अपने कार्य से कभी विरत नहीं होता, धरातल के स्वरूप सुधारने में अब भी संलग्न है।

विकास चक्र

धरातल का रूप भूतकाल में परिवर्तित होता रहता था, और यह परिवर्तन अब भी गतिशील है। यह आश्चर्यजनक सा प्रतीत होता है, किन्तु है यह सत्य। इस परिवर्त्तन की सूचना स्थिरता के प्रतीक पर्वतों से प्राप्त हुई। भूगर्भ शास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार पर्वतों की आयु अलग-अलग है। हम यह भी जानते हैं कि वर्षा और तुषार उनमें अनवरत रूप से परिवर्तन कर रहे हैं। नदियाँ कोमल से कोमल एवं कठोर से कठोर चट्टानों को घिस देती हैं। इस प्रकार जिन टूटे हुए टुकड़ों को नदियाँ बहा ले जाती हैं वे समुद्र के अन्तराल में एकत्र होते रहते हैं, और इन्हीं से कालान्तर में चट्टानों का निर्माण होता है। हिमालय से निकलनेवाली नदियाँ जो ढेर की ढेर मिट्टी बहा ले जाती हैं उनसे निश्चय ही यह विशालकाय पर्वत छोटा हो रहा है। कौन जानता है अरावली और सतपुड़ा की भाँति यह भी नीची पहाड़ियों का रूप धारण कर लेगा ?

संयुक्त राज्य में ऐसा अनुमान किया गया है कि उस देश की नदियाँ इस प्रकार प्रति वर्ष ७८३० लाख टन मिट्टी बहा ले जाती हैं। सन् १८७६ में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के

बाद इस देश से नदियाँ आज तक इतना मिट्टी वहा ले गई हैं कि उससे एक ऐसे पर्वत का निर्माण किया जा सकता है जिसकी लंबाई सात मील हो और ऊँचाई ४५०० फीट हो।

वैज्ञानिक ऐसा सिद्ध करते हैं कि जो चट्टानें पर्वतों का निर्माण करती हैं वे निश्चय ही सागर में बनी हैं। चट्टानों में विद्यमान पदार्थ के आधार पर और उसके तत्वों के आधार पर वे अनुमान लगा सकते हैं कि अमुक चट्टान कितनी गहराई में थी और वह स्थान समुद्र के तट से कितनी दूर पर है। यह स्पष्ट प्रमाण है कि टूटे हुए टुकड़े विलीन नहीं हो जाते, वरन् उठे हुए भू-खंडों अथवा पर्वतों के रूप में हमारे सामने पुनः आते हैं। संक्षेप में, जो एक स्थल का नष्ट पदार्थ है वही दूसरे स्थल के पुनर्निर्माण का कारण बनता है। इस प्रकार, स्थल का निर्माण सागर में होता है।

जो शक्तियाँ टूटे हुए टुकड़ों से चट्टानों का निर्माण करती हैं तथा उन्हें ऊपर ले आती हैं उनका जन्म पृथ्वी में ही होता है। ये आन्तरिक शक्तियाँ सागर में निहित भूखंड को न केवल ऊपर लाती हैं, वरन् धरातल में दरारें करती हैं और विस्फोट को जन्म देती हैं।

स्थल के ऊपर आने के विषय में तत्कालीन प्रमाण का अभाव नहीं है। यह ज्ञात ही है कि पूर्ण स्कैन्डिनेविया धीरे-धीरे उत्तर से दक्षिण की ओर ढालू हो रहा है। खोज लगाने से पता चला है कि उत्तरी भाग $\frac{४}{५५}$ प्रति वर्ष के हिसाब से ऊपर उठ रहा है परन्तु दक्षिण-पूर्वीय भाग स्थिर है। स्काटलैंड तथा फिनलैण्ड में भी ऐसे परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए हैं। इस प्रकार भूमि के स्वरूप को परिवर्तित करने में क्रियाशील दो शक्तियाँ हैं: ऐसी शक्तियाँ जो भूमि से संबद्ध नहीं हैं अर्थात् वायु-मंडलजात शक्तियाँ जिन्हें भूगर्भ शास्त्रवेत्ता प्रायः 'वाह्य शक्तियाँ (एक्सोजेनिटिक) कहा करते हैं, और दूसरी वे शक्तियाँ जिनका उद्गम स्वयं पृथ्वी के भीतर है। ये 'आन्तरिक शक्तियाँ' (एन्डोजेनिटिक) के नाम से प्रख्यात हैं।

आन्तरिक शक्तियाँ चट्टानों को ऊपर उठाती हैं, परन्तु वाह्य शक्तियाँ उन्हें समतल बनाती हैं। इन दोनों ही शक्तियों में सदैव एक प्रकार की प्रतिद्वंदिता चलती रहती है और ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कोई भी शिथिल नहीं पड़ती। इस अनवरत संघर्ष के फलस्वरूप 'स्थल-रूपों' या भू-रचनाओं (रिलीफ) का जन्म होता है जिनका कि मनुष्य के विकास में इतना महत्वपूर्ण स्थान है। स्थल ऊपर आता है, पुनः वह घिसता है और इसी घिसे हुए पदार्थ से नये स्थलों का निर्माण होता है। पृथ्वी के वक्ष स्थल पर निरन्तर चलने वाला यही विकास क्रम (इवोल्यूशनरी साइकिल) है।

चट्टानें

जिन तत्वों से पृथ्वी की पर्त का निर्माण होता है उन्हें हम चट्टान कहते हैं। चट्टान

कुछ विशेष प्रकार के रासायनिक पदार्थों का संग्रह मात्र है। जब पृथ्वी गैस के रूप में अथवा द्रवित रूप में थी, उस समय ये रसायन उसमें विद्यमान थे। प्रारंभिक चट्टानों का निर्माण इस द्रव के शीतल होने से हुआ। अतएव ये इतनी भारी एवं ठोस हैं। पुनः ये प्रारंभिक चट्टानें भूमि के वायुमंडल के कारण घिसने लगीं। यह घिसा हुआ पदार्थ अर्थात् चूर्ण और तलछट समुद्र में संचित होते रहे और कालान्तर में इसने चट्टान का रूप धारण कर लिया। किन्तु यह चट्टान प्रारंभिक चट्टान से इसी अर्थ में भिन्न थी कि इसके निर्मायक तत्व समानान्तर पत्तों में फैलते गये।

कुछ चट्टानें जिनका निर्माण समुद्र में हुआ वे प्रारंभिक चट्टानों से पाई हुई मिट्टी से नहीं बनी है वरन् उनका निर्माण तो मृत कीटाणुओं अथवा शुष्क वनस्पतियों से उत्पन्न रासायनिक तत्व से हुआ। इस प्रकार हमारे सामने दो प्रकार की चट्टानें आती हैं:—

(क) आग्नेय चट्टानें (इगनियस राक) जो कि एक प्रकार के द्रव पदार्थ के शीतल होने से बनीं।

(ख) पत्तेदार चट्टानें (सेडीमेन्टरी राक) जो कि समुद्र के अन्दर मिट्टी से अथवा मृत जीवों से बनीं। कुछ पत्तेदार चट्टानें पर्याप्त शीत एवं आतप के प्रभाव से ऐसी हो गई हैं कि उनको पहचानना भी कठिन है। उन्हें एक भिन्न कोटि में रखा गया है और वे "परिवर्तित चट्टानें" (मेटामार्फोस्ट राक) कहलाईं। निर्माण विधि के दृष्टिकोण से धरातल को बनाने वाली चट्टानें, इस प्रकार की तीन श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं :—

(क) आग्नेय चट्टानें (इगनियस)
(ख) पत्तेदार चट्टानें (स्ट्रेटीफाइड) या सेडीमेंटरी
(ग) परिवर्तित चट्टानें (मेटामारफोस्ड).

आग्नेय चट्टानें

आग्नेय चट्टानें क्रियाशील अथवा धरातल में निहित ज्वालामुखी पर्वतों के निकट प्रधानतया पाई जाती हैं। ये चट्टानें द्रव पदार्थ के शीतल होने से बनी हैं। अतएव ये ठोस और दानेदार (क्रिस्टलाइन) हैं। ये चट्टानें रासायनिक पदार्थों के कणों के एकीकरण से बनी हैं। जिस द्रव पदार्थ का वर्णन हम ऊपर कर आये हैं, उनका सबसे प्रख्यात स्वरूप धरातल में निहित विस्फोटोद्भूत लावा है। इन चट्टानों का सम्बन्ध विस्फोटक कार्यों से होता है। इनसे धरातल के भीतर की चट्टानें पिघल जाती हैं। जब यह पिघला हुआ पदार्थ धरातल के ऊपर आ जाता है, तब उसे 'लावा' कहते हैं। जब विस्फोट प्रारंभ

[1] सिलिका ५९ प्रतिशत, आलमूनिया ५%, लोहा ७%, चूना ५%, सोडा ४%, पोटाश ३%।

होता है तब यह पदार्थ ऊपर आता है, किन्तु उसका अधिकांश भाग धरातल के भीतर ही रह जाता है। धरातल पर आया हुआ लावा शीघ्र ही ठण्डा हो जाता है, परन्तु पृथ्वी के अन्दर अवशेष द्रव-पदार्थ शनै-शनै: शीतल होता है। इस क्रिया के आधार पर आग्नेय चट्टानों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं:--

(१) वहिर्निर्मित चट्टान।
(२) अन्तर्निर्मित चट्टान।

वहिर्निर्मित शिलायें वे हैं जो लावा के शीतल होने से धरातल पर बनती हैं, अन्तर्निर्मित चट्टानें वे हैं जो पृथ्वी के अन्दर विस्फोट के शेषांशों से बनती हैं। अन्तर्निर्मित चट्टानें पुनः वाहर आती हैं जब उनके चारों तरफ से घेरे रहने वाला पदार्थ हट जाता है।

ऊपर वर्णित दोनों प्रकार की चट्टानों में वास्तविक अन्तर शीतल बनने की गति के अनुसार होता है। जहाँ शीतल बनने की गति तीव्र होती है, जैसा कि धरातल के ऊपर आये हुए 'लावा' में होता है, वहाँ चट्टान में स्फटिक, (क्रिस्टल) अथवा बड़े दाने बनने के लिए काफी समय नहीं मिलता है। कहीं-कहीं लावा इतना शीघ्र शीतल हो गया था कि चट्टान में किसी भी प्रकार का दाना बनने के लिये समय न मिला।

इस कारण लावा से केवल एक चमकदार चट्टान ही बनी। धरातल से भीतर शीतल होने वाली द्रवित चट्टान से बनी अन्तर्निर्मित चट्टान में दाने बनने का काफी समय था। इसलिए चट्टानों में बड़े-बड़े दाने मिलते हैं। यह तीन विशेष प्रकार के रसायनों के हैं जैसे बिल्लौर (क्वार्टज्) फल्सपार तथा अभ्रक (माइका)।

वहिर्निर्मित चट्टानों का सबसे प्रमुख उदाहरण है "बसाल्ट" की चट्टान; जिसके कण बहुत ही बारीक होते हैं। "ग्रेनिट" अन्तर्निर्मित चट्टानों के प्रमुख उदाहरण हैं।

अन्तर्निर्मित चट्टानों का एक दूसरा भेद है—(अ) अधिक गहराई से प्राप्त पदार्थ की आग्नेय चट्टानें तथा (ब) कम गहराई से प्राप्त पदार्थ की आग्नेय चट्टानें। गहराई वाले पदार्थ में सिलिका नामक रसायन अधिक होती है। इसलिए वह 'आम्लिक आग्नेय चट्टान' (एसिड इगनियस) कहलाती है। ग्रेनिट चट्टान इसका उदाहरण है। दूसरी प्रकार का उदाहरण बसाल्ट चट्टान है। इसमें चूना वाले रसायन (एल्कली) होते हैं जिनसे तेजाब मरता है।

पहले प्रकार की चट्टानें प्राय: पीले रंग की होती हैं और देर में घिसती हैं। दूसरे प्रकार की चट्टानें काले रंग की होती हैं और शीघ्र घिसती हैं। पर्तदार चट्टानों के निर्माण के लिए आग्नेय चट्टानों से चूर्ण प्राप्त होता है। भारतवर्ष में आग्नेय चट्टानें प्रायद्वीपीय प्रदेश एवं हिमालय के निकटवर्ती भूभाग में यत्र-तत्र मिलती हैं।

पर्तदार चट्टानें

धरातल पर पर्तदार चट्टानें सबसे अधिक बिखरी हुई हैं। ऐसा अनुमान लगाया

जाता है कि भूभाग के क्षेत्रफल के ¾ अंश में पर्त्तदार चट्टानें फैली हैं, और शेष ¼ अंश में आग्नेय और परिवर्तित चट्टानें। यद्यपि पर्तदार चट्टानें विस्तार के दृष्टिकोण से इतनी अधिक फैली हैं, तथापि भूभाग के घनफल में इनका बहुत ही थोड़ा योग है। घनफल में इनका योग केवल ५ प्रतिशत है, शेष ९५ प्रतिशत आग्नेय एवं परिवर्तित चट्टानों के कारण है। दूसरे शब्दों में, पर्त्तदार चट्टानें क्षेत्रफल (एरिया) के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं, घनफल (वाल्यूम) के दृष्टिकोण से नहीं। ये चट्टानें अधिक गहराई में नहीं मिलती हैं।

पर्त्तदार चट्टानों का निर्माण प्रारम्भ में पूर्ववर्त्ती चट्टानों से प्राप्त मिट्टी से हुआ जो कि वस्तुतः आग्नेय हैं। पुनः कालान्तर में इनका निर्माण दूसरी प्रकार की चट्टानों से हुआ। यह मिट्टी समुद्र में समानान्तर रूप से संचित होती रहती है। प्रधानतः चट्टान तत्वों का संचय नदी की धीमी चाल के कारण होता है। संचय के काल में कण छँटते रहते हैं, भारी और लंबे कण पहले एकत्र होते हैं, पुनः छोटे कण। वजन के अनुसार निर्मायिक तत्वों का संग्रह नदी के वेग का परिणाम होता है जो कि पर्त्तदार चट्टानों की प्रधान विशेषता होती है।

यद्यपि इन शिलाओं का निर्माण वर्तमान चट्टानों के घिसे हुए अंश से ही होता है और इनका संचय बिखरे हुए रूप में होता है किन्तु विभिन्न सतहें रासायनिक पदार्थ के द्वारा ही आपस में जुड़ पाती हैं। अतएव पर्त्तदार शिलाओं के निर्माण में न केवल मिट्टी और चट्टान के निर्मायक तत्वों की भी आवश्यकता पड़ती है वरन् ऐसे तत्वों की भी आवश्यकता पडती है जो उन्हें आपस में मिला दें।

समुद्र में रहनेवाले अनेक जीवधारियों का आवरण (शेल) कठोर होता है। ये जल में विद्यमान रासायनिक तत्वों से बनता है। जब ये जीवधारी मर जाते हैं तब इनके शरीर के अवशेष लहरों के आघात-प्रतिघात से टूट जाते हैं और पर्तदार चट्टानों के निर्माण के लिए सामग्री उपस्थित कर जाते हैं। इसी प्रकार वनस्पति-तत्वों से कोयला तथा पशु पदार्थों से पेट्रोल बनता है। ये तीनों पदार्थ जिनसे पर्त्तदार चट्टानें बनती हैं, इस प्रकार हैं:

(क) शिला निर्मायिक तत्व (क्लास्टिक मटीरियल)
(ख) घुलने योग्य रासायनिक पदार्थ (केमिकल मटीरियल)
(ग) प्राणी पदार्थ (आरगैनिक मटीरियल)

जिन विभिन्न प्रकार के पदार्थों द्वारा पर्त्तदार शिलाओं का निर्माण हो उन्हें ध्यान रखते हुए उक्त चट्टानों को हम तीन प्रधान भागों में विभाजित कर सकते हैं: क्लास्टिक (clastic) अथवा विभिन्न खंडों से निर्मित चट्टानें, रासायनिक एवं जीवज। विभिन्न निर्मायिक तत्वों के आधार पर पर्त्तदार चट्टानों के हम तीन भेद कर सकते हैं—

क्लास्टिक अथवा खडमयी क्योंकि इनका निर्माण चट्टानों के खंडों से होता है। विभिन्न भेदों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

पर्त्तदार चट्टानों का वर्गीकरण

वर्ग	उदाहरण
१. क्लास्टिक	पत्थरों की तहें कंकड़ बालू के पत्थर शेल
२. रासायनिक	स्टैलैक्टाइट, ओलाइट लोहा नमक जिप्सम
३. प्राणिज	अधिकतर चूने के पत्थर डोलोमाइट, कोयला

पर्त्तदार चट्टानों के बहुत से भेद होते हैं किन्तु निम्नांकित तीन प्रकार की चट्टानें बहुतायत से पाई जाती हैं :

(क) शेल (८२% पर्त्तदार चट्टानें इसी कोटि की होती हैं।)

(ख) सैन्डस्टोन (१२% पर्त्तदार चट्टानें इस कोटि की होती हैं।)

(ग) चाक (६% चूने का पत्थर तथा डोलोमाइट लगभग पर्त्तदार चट्टानों की कुछ विशेषताएँ होती है।) पर्त्तदार चट्टानों को पहचानने की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं:—

पर्त्तदार, लहरों के चिन्ह, मिट्टी की दरारें तथा पुरातत्व (फासिल)। इन्हीं विशेषताओं से हम पर्तदार चट्टानों को पहचान सकते हैं।

परिवर्तित चट्टानें

कभी-कभी ताप के प्रभाव से अथवा रासायनिक शक्तियों के आघात-प्रतिघात से एक नवीन प्रकार की शिला पैदा हो जाती है। यह नवीन चट्टानें पूर्ववर्ती चट्टान का पूर्णतः परिवर्तित स्वरूप है। यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है—(१) प्रादेशिक परिवर्तन, (२) स्पर्शजनित परिवर्तन। प्रादेशिक परिवर्तन पर्वतों के धीरे-धीरे दबाव में परिवर्तन के कारण होता है। चट्टानें दबी रहती हैं और इसीलिये उन पर अपरिमित दबाव पड़ता है। इस दबाव के कारण ताप उत्पन्न होता है और यह ताप शिला के नीचे गड़ी हुई शिला के आकार-प्रकार एवं रासायनिक तत्वों में आधारभूत परिवर्तन उपस्थित कर देता है।

पर्वत-खंड सुदूर प्रदेशों तक फैले रहते हैं, अतएव प्रादेशिक परिवर्तन (रीजनल या डायनमिक मेटामारफिज्म) विस्तृत रूप धारण कर लेता है। दूसरी ओर स्पर्श-जनित परिवर्तन चट्टानों में विस्फोटक क्रियाओं के कारण द्रव पदार्थ के पारस्परिक स्पर्श के कारण होता है। स्पर्शजनित परिवर्तन स्वभावतः स्थान और दशा की सीमा से आवद्ध है, अतएव इसका प्रभाव एक सीमित क्षेत्र में ही पड़ता है। इसलिए परिवर्तन-शील शिलायें ज्वालामुखी पर्वतों के निकटवर्ती भागों तक अथवा पर्वतीय प्रदेशों के निकटवर्ती स्थलों तक ही सीमित रहती हैं। परिवर्तनशील शिलाएँ विविध प्रकार की होती हैं। प्रधान चट्टानें नीचे दी जाती हैं:—

प्रारंभिक चट्टानें	परिवर्तित चट्टानें
बालू का पत्थर	क्वार्टजाइट
गोली मिट्टी	स्लेट
चूने का पत्थर	संगमरमर
शेल, सूक्ष्म कण वाली	शिष्ट
शेल, मोटे कण वाली	निस
कोयला	ग्रैफाइट

एक बार परिवर्तित चट्टानें फिर परिवर्तित हो सकती हैं। इस प्रकार दुबारा परिवर्तित चट्टानों को 'पुनर्परिवर्तित' (पोलीमेटामारफोस) चट्टान कहते हैं।

खनिज पदार्थों के मिलने व न मिलने के अनुसार परिवर्तित चट्टानों को 'खनिजपूर्ण, (फोलियेटेड) और 'खनिज रहित' (नान-फोलियेटेड) चट्टानें भी कहते हैं। खनिज-पूर्ण चट्टानों का परिवर्तन प्रायः पूर्ण नहीं होता है।

शिला घर्षण (वेदरिंग)

हमने देख लिया कि किस प्रकार पुरानी चट्टानें टूटती हैं और नयी चट्टानों को जन्म देती हैं। चट्टानों का यह टूटना घिसने के कारण होता है। इस प्रकार घिसने की क्रिया पुरानी चट्टानों के तोड़ने और नयी चट्टानों के निर्माण में बीच की श्रृंखला है जो दोनों क्रियाओं को जोड़ती है। यह ऐसी क्रिया है कि जिससे चट्टान वायुमंडल के स्पर्श में आते ही टूटने और विलीन होने लगती है। घिसने की क्रिया बहुत ही व्यापक है और इससे कोई भी चट्टान बच नहीं सकती है। समस्त ठोस शिलायें निश्चय ही नाशवान हैं। वे नष्ट होने से तभी बच सकती हैं जब या तो भूमि में नीचे गड़ी हों अथवा सागर में पड़ी हों जहाँ कि वायुमंडल पहुँच नहीं सकता।

यह घिसने की क्रिया दो प्रकार की होती है:

(क) चूर्णीकरण क्रिया (मैकेनिकल)

(ख) घुलने की क्रिया (कैमिकल)

चूर्णीकरण या टूटने की क्रिया अत्यधिक ताप और शीत के आघात-प्रतिघात से चट्टानों के फैलने और सिकुड़ने के कारण अथवा दरारों में जल प्रवेश कर जाने के कारण होती है। सभी चट्टानें दिन में गरम तथा रात में ठंडी होती हैं। मरुस्थल की चट्टानों में ही बारी-बारी से इस गरम होने और ठंडे होने की क्रिया को हम देख सकते हैं। इस शिला पर बहुत ही अधिक दवाव पड़ा है। कालान्तर में यही दवाव शिलाओं के आकार-प्रकार को परिवर्तित कर देता है। जब शिला के कणों का संकुचन और फैलाव काफी समय तक हो तो तब शिलायें विच्छिन्न हो जाती हैं। शिलाओं के संकोच और फैलाव के कारण उत्पन्न दरारों में प्रायः पर्याप्त जल घुस जाता है। यह जल शीतकाल में जम जाता है और इस प्रकार शिला के घनफल को बढ़ा देता है। यह बढ़ा हुआ घनफल शिला पर चारों तरफ से दवाव डालता है और चट्टान की दरारें थोड़ी और फैल जाती हैं। यह क्रिया चलती रहती है और अन्त में शिला टूट जाती है। इसको 'तुषार क्रिया' (फ्रास्ट ऐक्शन) भी कहते हैं।

घुलने की क्रिया शिला तत्वों के विच्छिन्न होने के कारण होती है। यह क्रिया रासायनिक परिवर्तनों के कारण होती है। हमने देखा है कि शिलायें कुछ विशेष रासायनिक तत्वों से बनती हैं। वायुमंडल तथा वर्षाकालीन जल के कारण उत्पन्न किये हुए रासायनिक परिवर्तनों के कारण ये तत्व घुल जाते हैं। शेष शिला तत्व विच्छिन्न होकर विलग हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, ग्रैनाइट फोल्स्पेर तथा अन्य रासायनिक तत्वों से बना है। यद्यपि ग्रैनाइट सबसे अधिक बाह्य एवं आन्तरिक प्रभावों को सहने में सूक्ष्म शिला है किन्तु वह भी टूट जाती है क्योंकि उसका एक निर्मायक तत्व फोल्स्पेर घुल जाता है।

उपरोक्त दोनों क्रियायें चट्टानों को विलग करने में सहायक होती हैं। ये दोनों ही क्रियायें साथ-साथ चला करती हैं। चूर्णीकरण घिसने की क्रिया या तो तब होती है जब कुछ तत्व घुल जाते हैं अथवा शिला में दरारें पड़ जाती हैं। शिलाओं के विच्छिन्न हो जाने पर अधिक अंश वायु के स्पर्श में आता है और घुलने की क्रिया तभी बन पड़ती है। घोर ताप के कारण सूखे हुए प्रदेशों में चूर्णीकरण की क्रिया मुख्यतः पाई जाती है। वनस्पतियाँ तथा कीड़े-मकोड़े भी शिलाघर्षण में सहायक होते हैं। पौदों की जड़ें चट्टानों को ढीला कर देती हैं। इस प्रकार वे शीघ्र ही घिसने योग्य बन जाती हैं। कीटाणु भी चट्टानों में प्रवेश कर जाते हैं और इस प्रकार घिसने की क्रिया में सहायक सिद्ध होते हैं। किन्तु पौधे जब बिखरी हुई शिलाओं पर उगते हैं तब वे एक घना सा आवरण बना लेते हैं और किसी सीमा तक चट्टानों को घिसने से बचा लेते हैं।

चट्टानों के जोड़ों (ज्वाइन्ट) से भी घिसने की क्रिया में सहायता पहुँचती है। ये जोड़ पृथ्वी के धरातल के उठते समय में विभिन्न प्रकार के दवावों से उत्पन्न दरारों के परिणाम होते हैं।

स्थल रूपों पर चट्टान का प्रभाव

पहले लोग ऐसा सोचते थे कि जितने प्रकार की चट्टानें हैं उतने ही प्रकार के उनके उत्पन्न स्थल रूप हैं। यह धारणा इतनी स्वाभाविक प्रतीत होती है कि लियोपोल्ड वून, हमबोल्ट तथा एमीव्यू सरीखे पुराने विद्वान भी इसे स्वीकार करते थे। जैसे-जैसे हमारा अनुभव एवं ज्ञान बढ़ता गया वैसे ही वैसे हमें पता चलता गया कि एक प्रकार की चट्टानें सर्वत्र ही एक से स्थल रूपों को नहीं जन्म देती हैं। संयुक्त राज्य में जहाँ कि एटलांटिक से लेकर प्रशान्त महासागर तक विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है भूगर्भशास्त्र-वेत्ताओं के मतानुसार घर्षण की क्रियायें एक ही जाति की चट्टान से विभिन्न प्राकृतिक रूप पैदा करती हैं। अफ्रीका की खोज ने भी उक्त मत को पुष्ट किया।

यह कहना बड़ा ही कठिन है कि कहाँ तक चट्टानों के भेद विभिन्न स्थल रूपों को जन्म देते हैं। जलवायु की विभिन्नता और घाटियों में होने वाले घर्षण की अवस्था के कारण यह समस्या और भी जटिल हो गई है।

यही नहीं भूगर्भ शास्त्रवेत्ताओं ने चट्टानों का जो विभाजन किया है उसमें इस बात का ध्यान नहीं रक्खा गया है कि उनके रासायनिक गुणों अथवा प्राकृतिक गुणों का भी घर्षण पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ ग्रैनाइट और चूने के पत्थरों के कई भेद होते हैं। वास्तव में भूगर्भ शास्त्रवेत्ताओं का वर्गीकरण 'एक ही आयु' अथवा 'एक ही प्रकार से बनी चट्टानों' पर ध्यान देता है। यही वर्गीकरण चट्टान और घर्षण के सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं डालता है।

भूगोल के दृष्टिकोण से इस बात का ध्यान रखते हुए चट्टानों का वर्गीकरण निम्नां-कित रूप से किया जा सकता है:—

कठोर (काम्पैक्ट)	कठोर न हो
भारी (मैसिव)	हल्की
सूक्ष्मकण युक्त	बड़े कण वाली
अभेद्य	भेद्य (परिमिएबुल)
अघुलनशील	घुलनशील

स्थल रूप (रिलीफ़)

चट्टानों का घर्षण ही धरातल पर स्थल रूपों को जन्म देता है। स्थलरूप नयनगोचर प्रदेश (लैन्डस्केप) का वह अंश है जिसकी प्रधान विशेषता है एक निश्चित तथा स्पष्ट सतह, बीच की विशिष्ट बनावट अथवा दोनों ही। नयनगोचर प्रदेश में यह इतना प्रमुख होता है कि इसका प्राकृतिक वर्णन प्रदेश के वर्णन में आवश्यक है।*

*"A land form is any element of the landscape characterised by a distinctive surface expression, internal

स्थल रूपों के तीन भेद किये जा सकते हैं :—

(१) रचनात्मक (कान्सट्रक्शनल)। (२) संग्रहात्मक (डिपोजीशनल) और (३) क्षयात्मक (डिस्ट्रक्शनल)। रचनात्मक रूप आरंभ कालीन रूप होते हैं। शेष रूप बाद में घर्षण क्रिया के फलस्वरूप बनते हैं। स्थल रूप वे हैं जो एकत्रीकरण और भूकंपन कीक्रिया से बनते हैं। विस्फोट पदार्थ संचय एवं भूमि का ढकिलना एकत्रीकरण की मुख्य कार्यक्रियायें हैं। क्षयात्मक स्थल रूप वस्तु के हटने से बनते हैं। क्षयात्मक क्रियाओं में विशेषतः ये हैं:—अपहरण (इरोजन), घर्षण मिट्टी का ढकिलना तथा विस्फोट क्रिया के विध्वंसात्मक कार्य। क्षयात्मक स्थल रूप के दो भेद हैं—हानि रूप (रिडक्शन) और अवशिष्ट रूप (रेजिडुअल)। ऊपर वर्णित वस्तुओं के हट जाने पर गर्त बन कर हानि रूप प्राप्त होता है। अवशिष्ट रूप वे हैं जो घिस कर नष्ट नहीं हुए रहते। हानि रूप से हमको क्षयात्मक क्रिया के सम्पादित कार्यों का उदाहरण मिलता है और अवशिष्ट रूप में असंपादित कार्यों का।

स्थल रूप

प्राप्ति विधि	रूप
कम्पन (डायास्ट्रोफिज्म)	मैदान और पठार, फटी घाटी, विच्छेदीय पर्वत, उथले गर्त, बुर्जदार पर्वत, मरोड़दार पर्वत
विस्फोट (वलकनइज्म)	ज्वालामुखी लावा,
घर्षण तथा मिट्टी का ढकिलना	चट्टानी ग्लेशियर, भूमिपात से निर्मित तथा संचित रूप

[संग्रहात्मक]

जल के द्वारा	मैदान या पठार डेल्टा, बाढ़ के मैदान, वर्षा निर्मित रूप।
ग्लेशियर के कार्य से	हिमोढ़, उभार मैदान।
वायु के कार्य से	लोएस के मैदान, बालू की भित्तियाँ
समुद्र के कार्य से	तटवर्ती बालू, किनारा, दीवारें
झील के कार्य से	झील के मैदान, वर्षा निर्मितरूप
जीव के द्वारा	मूँगे की चट्टानें

structure or both, and sufficiently conspicuous to be includ ed in a physiographic description." Howard and Spock Classification of Land Forms.

क्षयात्मक रूप

	हानि रूप	अवशिष्ट रूप
विधि	रूप	रूप
नदी के कार्य से	घाटियाँ, नदी की घाटियाँ, समतलप्राय (पेनो प्लेन)	अवशिष्ट पर्वत (मोनडनाक)
ग्लेशियर	खाइयाँ, प्राकृतिक गोल रूप गर्त	तेज ढाल वाले पर्वत
वायु के द्वारा		श्रेणियाँ शिलाशिंग (हार्न त्रिकोणशिला (ड्राइकंटर)
समुद्र के कार्य से	समुद्र तल से एकदम ऊँची उठने वाली पहाड़ियाँ, लहरों से कटे हुये चबूतरे	समुद्री स्टैक
जल स्थल के कार्य से	(सिंक होल) गर्त	प्राकृतिक पुल (नेचुरल ब्रिज)

स्थल रूपों पर जलवायु का प्रभाव

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट ही है कि जलवायु का अन्तर किस प्रकार घर्षण को प्रभावित करता है। यह प्रभाव विशेषतया उन स्थल रूपों पर स्पष्ट ही दृष्टि-गोचर होता है जिनका निर्माण गतिशील धारा द्वारा होता है। घाटी का कटना और ढालों का कोण दोनों ही गतिशील जल की मात्रा से संबद्ध हैं। अन्यथा संतुलित क्षेत्रों में घाटी के ढाल का औसत कोण प्रवाह जल के साथ-साथ बदलता है। यदि अर्द्धशुष्क और तर प्रदेशों में एक सी प्रकृति हो तो प्रवाहयुक्त जल के आपतन और गति दोनों ही अर्द्धशुष्क प्रदेशों में कम होंगे। अर्द्धशुष्क प्रदेश में घिसी हुई घाटियाँ दूर दूर होंगी और तर प्रदेश में आसपास। बहने वाले जल पर जलवायु का प्रभाव पड़ता ही है। जलवायु यह भी निर्धारित करती है कि नदी द्वारा घर्षण किस प्रकार का होगा और किस गति से होगा।

जलवायु वनस्पतियों को प्रभावित करती है और वनस्पतियाँ घर्षण की क्रिया को। यदि तुलनात्मक ढंग से विचार किया जाय तो स्पष्टतः ज्ञात होगा कि घर्षण की क्रिया वनों से आच्छादित प्रदेशों में मन्द गति से होती है, कारण कि गिरी हुई पत्तियाँ और गिरे पेड़ भूमि की रक्षा करते हैं। इसके साथ ही साथ, घाटियों के निम्न प्रदेशों का कटना भी नहीं रुकता है क्योंकि जड़ें, लट्ठे तथा पत्तियाँ प्रायः छोटी नदियों को छोड़ कर जिनमें घर्षण की शक्ति बहुत ही कम है नदियों का मार्ग नहीं अवरुद्ध करती है। नीचे की ओर कटने की इस क्रिया के फलस्वरूप ढाल का औसत कोण बढ़ जाता है। जब वन काट दिये जाते हैं

तो अपेक्षाकृत ढालू प्रदेशों में ढालों का कटना सुगम बन जाता है। यदि ढालों की रक्षा घासों या कृत्रिम अवरोधों द्वारा न की गई तो यह गति तीव्रतर हो जाती है। यह घर्षण क्रिया ढालों का औसत कोण थोड़ा सा बढ़ा देता है।

यद्यपि तर प्रदेशों में औसत ढाल अपेक्षाकृत अधिक गहरी रहती है किन्तु ऐसे प्रदेशों में खड़ी चट्टानें बहुतायत से नहीं पाई जाती हैं। कारण यह है कि गर्मतर प्रदेशों में नालियाँ बनने की क्रिया, घर्षण क्रिया आदि शुष्क प्रदेशों की अपेक्षा अधिक वेग से होती रहती है। शुष्क प्रदेशों में नीचे की ओर कटने का कार्य साधारणतया अधिक तीव्र गति से होता है और घाटी को चौड़ी होने का कार्य मन्द गति से। अतएव नदियों के दोनों किनारे ऊँचे रहते हैं और जमीन ऊँची उठती चली जाती है। शुष्क प्रदेशों में चौड़े होने की क्रिया के स्थान पर नीचे की ओर कटने की प्रधानता मिलने का आंशिक कारण तो यह है कि कहीं पर्वत के सुदूरवर्ती भाग में वर्षा हुई होती है अथवा उसी स्थल पर वर्षा हुई रहती है घर्षण और ढालों की मिट्टी को बहा ले जाने वाली क्रिया दोनों ही उसी प्रदेश में होती हैं। सारांश यह है कि आर्द्र क्षेत्रों में घाटी का गहरा होना और चौड़ा होना दोनों क्रियायें साथ-साथ चलती हैं; परन्तु शुष्क क्षेत्रों में घाटी का चौड़ा होना गहरे होने की अपेक्षा बहुत धीरे-धीरे होता है।

जहाँ कहीं भिन्न-भिन्न कठोरपन की चट्टानें होती हैं वहाँ यदि जलवायु शुष्क होती है, तो खड़े ढाल वाले 'बट्ट' और 'मेसा' बनते हैं। ये आकार ऐसी जलवायु में लगभग समतल मैदान में भी मिलते हैं। परन्तु आर्द्र क्षेत्रों में कड़े ढाल वाले आकार प्रायः नहीं मिलते हैं। इसका कारण यह है कि चट्टानों का कटाव तथा भराव बहुत होता है, और ढाल पर से मिट्टी बह जाना अथवा सहायक नदियों की उत्पत्ति की गति शुष्क क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक होती है।

यह बात भ्रमजनक है कि अर्द्ध-शुष्क क्षेत्रों में बीहड़ (ब्लैनलैन्ड) अधिक होते हैं। वास्तव में, यदि अवकाश मिले तो बीहणों का निर्माण आर्द्र जलवायु में अधिक होता है। परन्तु जल की अधिकता के कारण वहाँ पर आकारों का घर्षण इतना अधिक होता है, और वनस्पति की उत्पत्ति इतनी घनी होती कि बीहड़ के योग्य आवरणरहित बंजर अवस्था केवल छोटे क्षेत्र में ही, अधिक दिनों तक मिलती है। यही कारण है कि अपेक्षाकृत अर्द्धशुष्क भागों में बीहड़ अधिक दिखलाई देते हैं, क्योंकि वहाँ खड़े ढालों पर न तो वनस्पति अधिक उगती है, और न तो मिट्टी ही अधिक बनती है; यद्यपि ऐसे क्षेत्रों में। आर्द्र क्षेत्रों की अपेक्षा घर्षण कम होता है।

संसार के अधिकतर भाग, उत्तरी और दक्षिणी ढालों में ढाल के कड़ेपन की जल राशि और उसके बहाव की, चट्टानों के खुलेपन की और घर्षण की भिन्नता होती है

ये भिन्नतायें दोनों ढालों की भिन्नता के कारण होती हैं। उत्तरी और दक्षिणी ढालों की जलवायु की भिन्नता निम्नलिखित कारणों से होती है:—(१) सूर्य के ताप का प्रभाव और (२) जल देनेवाली पवनों की पहुँच।

(१) उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिण की ओर मुख वाले ढालों पर सूर्य का ताप अधिक है, उत्तरी ढालों पर कम। ज्यों-ज्यों उत्तरी ध्रुव की ओर बढ़ते जाइये त्यों-त्यों यह अन्तर बढ़ता जाता है; क्योंकि वहाँ पर किरणों का तिरछापन बढ़ जाता है।

(२) संसार में पवनमुखी ढालों पर अधिक जलवर्षा होती है, और पवन विमुख ढालों पर कम। इसका कारण वायु के चढ़ने और उतरने पर निर्भर है। उतरती हुई वायु प्रायः वर्षा नहीं करती है। पवन विमुख ढाल पर वायु उतरती है।

पर्वत

पर्वत का आकार मनुष्य को प्रायः चकित और भयभीत कर देता है। इतने बड़े महान् आकार को बनाने में कितनी बड़ी शक्ति लगी होगी, तथा कितना अधिक समय लगा होगा, आदि बातें मनुष्य को विस्मय में डाल देती हैं। परन्तु यदि विचार किया जाय तो प्रकृति के लिए पर्वत एक छोटी सी वस्तु है जो पृथ्वी के एक बहुत छोटे से क्षेत्र में पाई जाती है। पृथ्वी का आकार इतना बड़ा है कि उसके सामने बड़े सेबड़ा पर्वत भी तुच्छ हो दिखता है। यदि १२ फीट व्यास का ग्लोब पृथ्वी को प्रदर्शित करने के लिए बनाया जाय तो उस पर पहाड़ की ऊँची से ऊँची चोटी, एवरेस्ट, केवल आध इंचके लगभग ही ऊँची होगी। वास्तव में पृथ्वी के दशांश क्षेत्र के लगभग में हीपर्वत है। वहाँ भी उनकी तुलनात्मक ऊँचाई थोड़ी ही है। पृथ्वी का अधिकतर भाग प्रायः समतल ही है।

परन्तु पर्वत का वास्तविक महत्व पृथ्वी पर हुए प्राचीन क्रान्तिकारी परिवर्तनों के उदाहरण होने में है। समय-समय पर पृथ्वी पर प्रकृति संबंधी भौतिक परिवर्तन तथा जीवों से संबंधित लौकिक परिवर्तन हुए। ये सब परिवर्तन पर्वतों के निर्माण से ही संबंधित रहे हैं। पृथ्वी के इतिहास में पर्वत उन्नति-सूचक चिन्ह (माइलस्टोन) हैं। पृथ्वी के इतिहास में अनेक काल उनमें निर्मित पर्वतों से ही पहचाने जाते हैं।

पर्वत का इतना महत्व होते हुए भी हमको उसके निर्माण का पूर्ण ज्ञान अभी तक नहीं है।

निर्माण क्रिया के अनुसार कई प्रकार के पर्वत पृथ्वी पर पाये जाते हैं; जैसे भूगर्भीय (टेकटानिक), विच्छेदीय (फाल्ट), घर्षित (सरकमइरोजनल) और ज्वालामुखी वाल्कैनिक) पर्वत। इनमें अधिक विस्तृत और सबसे ऊँचे पर्वत भूगर्भीय पर्वत ही हैं। ये पर्वत पृथ्वी के भीतर से उठते हैं और इनके बनने में करोड़ों वर्ष लगते हैं। इनके बनाने

में पृथ्वी की महान् शक्ति लगती है। इन पर्वतों को 'मोड़दार पर्वत' (फोल्ड माउन्टेन) भी कहते हैं।

ऐसा विचार है कि भूगर्भीय पर्वत के निर्माण में तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था में निकटवर्ती क्षेत्रों की टूटी हुई चट्टानों की महान् राशि किसी एक उथले जल-भाग में एकत्रित होती है; दूसरी अवस्था में इस राशि में अनेक मोड़ें (फोल्ड) और दरारें (फाल्ट) बन जाती हैं; और तीसरी में यह राशि जल से ऊपर उठ आती है। पहली अवस्था को धरातलीय आरंभ' (लीथोजेनिसिस), दूसरी को 'भूगर्भीय आरंभ' (औरो जेनिसिस), और तीसरी को 'आकार आरंभ' (ग्लिप्टोजेनिसिस) कहते हैं।

पहली अवस्था के विषय में दो बातें महत्वपूर्ण हैं; पहली, उथले जल में पदार्थ का जमा होना, और दूसरी, इतनी अधिक मोटाई में पदार्थ का जमा होना। पर्वत की ऊँचाई देखने से पता चलता है कि लगभग ५० हजार फीट की मोटाई में समुद्र के भीतर पदार्थ जमता रहा। यह बात उत्तरी अमेरिका में स्थित एपेलेशियन पर्वत को देखने से सिद्ध होती है। किसी भी पर्वत को देखने से यह भी सिद्ध होता है कि पदार्थ की इतनी अधिक मोटाई होते हुए भी उस समुद्र की गहराई लगभग ३०० फीट से अधिक कभी नहीं हुई। इसका प्रमाण यह है कि पर्वतों में मिलने वाला पदार्थ अधिकतर शेपांश मोटे कणों का ही है जो उथले जल में ही जमते रहते हैं। जिन उथले समुद्रों में उनका उथलापन बने रहते हुए भी, पदार्थ की ऐसी मोटी तहें जम सकती हैं उनको 'गिरि-निर्माणक खाल' (जियोसिनक्लाइन) कहते हैं। कहते हैं कि डेना नामक विज्ञानवेत्ता ने यह नाम १८७३ में चलाया। आजकल जितने भी पर्वत क्षेत्र हैं सब इस प्रकार के मुड़े हुए 'खाल' (डिप्रेशन) हैं। कहीं कहीं इस प्रकार के विशेष खाल धरातल धँस जाने से समुद्र के नीचे पहुँच गये हैं।
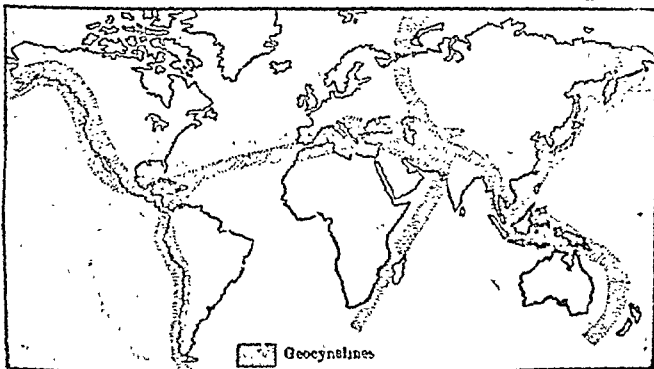
चित्र ७८—विन्दु द्वारा दिखाये गिरिनिर्माणक खाल (जियोसिनक्लाइन)

चित्र ७८ द्वारा—बिन्दु द्वारा दिखाये गिरिनिर्माणक खाल (जियोसिनक्लाइन)
चित्र ७८ में 'गिरि-निर्माणक खाल' दिखाये गये हैं। जहाँ-जहाँ ये 'खाल' स्थल हो गये हैं वहाँ-वहाँ आजकल पर्वत हैं।

इस चित्र में यह दिखाया गया है कि उपरोक्त खाल में पड़ोस से आये हुए पदार्थ की मोटी तह कैसे जमती है। इस चित्र में A में पदार्थ का दोनों किनारों पर जमना आरंभ हुआ है, और इसलिये उसकी मोटाई बहुत कम है। B और C में तह की मोटाई की वृद्धि दिखाई गई है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि अधिक पदार्थ लेने के लिए 'खाल' की पेंदी किस प्रकार नीची होती गई है। इसको समझाने के लिए यह कहा गया जाता है कि आये हुए पदार्थ का धीरे-धीरे बोझ बढ़ने के कारण इस उथले समुद्र की पेंदी नीचे की ओर लटक जाती है क्योंकि जमे हुए पदार्थ के बोझ में पेंदो खिंच कर पतली हो जाती है। उस मुड़ी पेंदी के नीचे, गहरे समुद्र में मिलने वाला अधिक घना पदार्थ होता है। उथले समुद्र में जमा होने वाला पदार्थ उसकी अपेक्षा हल्का होता है। इसलिए पहले वह घने पदार्थ में घुस नहीं पाता है। परन्तु अन्त में उथले समुद्र के दोनों किनारे एक दूसरे के निकट खिंचने लगते हैं जिनके दबाव से उथले समुद्र का पदार्थ मुड़ने लगता है। यह दबाव यहाँ तक बढ़ जाता है कि हल्के पदार्थ का कुछ भाग, दबाव के कारण, घने पदार्थ में घुस जाता है। कहीं-कहीं पेंदी फट जाने से भी नीचे का घना पदार्थ हल्के पदार्थ के चारों ओर ऊपर उठ जाता है। नीचे से आये हुए पदार्थ में रेडियो की तापक शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण ऊपर से आया हुआ हल्का पदार्थ और अधिकतर भीतर का घना पदार्थ भी पिघल जाता है। पिघलने के कारण ऊपर का पदार्थ अधिक गहराई तक पहुँच जाता है। इस हल्के पदार्थ का इतनी अधिक गहराई तक पहुँचना अन्य किसी दशा में संभव नहीं हो सकता था।
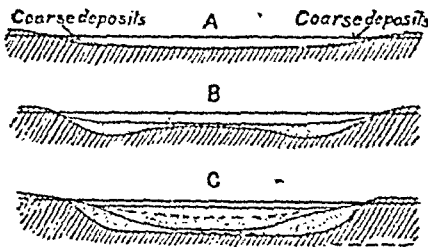
चित्र ७९—खाल में पदार्थ की मोटाई की वृद्धि

होम्स नामक विज्ञानवेत्ता का विश्वास था कि पिघले हुए पदार्थ में ऊपर-नीचे चलने वाली तरंगों (कनवेक्शन) करेन्ट के साथ बहुत कुछ ऊपर से आया हुआ पदार्थ अधिक गहराई तक नीचे पहुँच जाता है।

इस प्रकार, उथले समुद्र की पेंदी पर खिंचाव (टेन्शन) पड़ने से, उस पर किनारों से दबाव पड़ने से, तथा नीचे बहने वाली तरंगों में पड़ जाने से उथले समुद्र में जमा हुआ पदार्थ बहुत मोटाई में इकट्ठा होकर बड़े ऊँचे पर्वत बनाता है।

पर्वत निर्माण में दूसरी अवस्था मोड़ें (फोल्ड) और दरारें पड़ने की होती है। ऊपर कहा गया है कि किनारों से आने वाले दवाव के कारण उथले समुद्र की पेंदी में जमा हुआ पदार्थ मुड़ जाता है। मोड़ों का आरंभ इस चित्र में दिखाया गया है :—
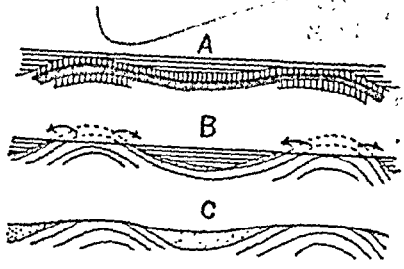
(B और C में मोड़ जल से ऊपर निकलने पर घिस गई है)

चित्र ८०—मोड़ (फोल्ड) की प्रारंभिक दशा

आगे दिये चित्र ९० में 'खाल' युक्त उथले समुद्र में निकटवर्ती अन्य उथले समुद्रों की अपेक्षा पदार्थ की अधिक मोटाई दिखाई गई है। तीनों समुद्र एक दूसरे के निकट हैं। उनमें पदार्थ आने के स्थान भी प्रायः समान हैं। परन्तु बाल्टिक प्रदेश में जमे पदार्थ की कुल मोटाई केवल १२०० फीट, स्वीडेन में ४५०० फीट, और वेल्स में ४०,००० फीट है। इसका कारण यही है कि वेल्स में गिरि-निर्माणिक खाल (जियोसिनक्लाइन) है जिसमें कैलेडोनियन पहाड़ बनने के कारण पदार्थ में मोड़ें पड़ीं। स्वीडेन और बाल्टिक प्रदेश में पदार्थ में मोड़ें नहीं पड़ीं जिससे पदार्थ गहराई तक नहीं जा सका।

सभी मोड़ें एक समान नहीं होती हैं। दवाव की मात्रा के अनुसार वे गोलार्द्ध अथवा पड़ी होती हैं। नीचे दिये चित्र में उनके भिन्न-भिन्न रूप दिये हैं, जैसे सडौल (सिमिट्रिकल), बेडौल (एसिमिट्रिकल), एक अंगीय (वनलिम्ववर्टिकल), अर्द्धलम्वीय (आइसोक्लाइनल) तथा लम्वी (रिकम्बेन्ट)। लम्वी मोड़ कभी-कभी टूट कर अन्य मोड़ों से अलग हो जाती है। ऐसी विच्छिन्न मोड़ को 'नाप' (नापी) कहते हैं :—

चित्र ८१—विभिन्न मोड़ें

पदार्थ के मुड़ने के लिये यह आवश्यक है कि उसके एक ओर ऐसा ठोस और कठोर पदार्थ हो जिसके समक्ष उसे दवना पड़े। ऐसे कठोर पदार्थ क्षेत्र को 'प्रहार स्तल' (थ्रस्ट प्लेन) कहते हैं। बगल के चित्र में प्रहार स्थल और मोड़ें दिखाई गई हैं। जिस ओर से दवाव डालने वाली शक्ति आई है वह तीर द्वारा दिखाई गई है।

चित्र ८२—प्रहारस्तल और मोड़ें

मोड़ों का ऊपरी भाग कटा हुआ है; क्योंकि जल से ऊपर उठने पर वह घिस गया है। घिसा हुआ भाग टूटी हुई रेखाओं द्वारा दिखाया गया है।
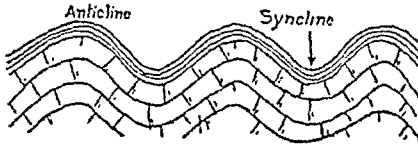
चित्र ८३—मोड़ के अंग

मोड़ में एक भाग ऊपर उठा होता है, और दूसरा भाग नीचे गिरा होता है। ऊपर उठे भाग को 'मोड़-शिखर' (एन्टीक्लाइन) और नीचे गिरे भाग को 'मोड़ तली' (सिनक्लाइन) कहते हैं। ऊपर के चित्र में ये दोनों भाग दिखाये गये हैं।
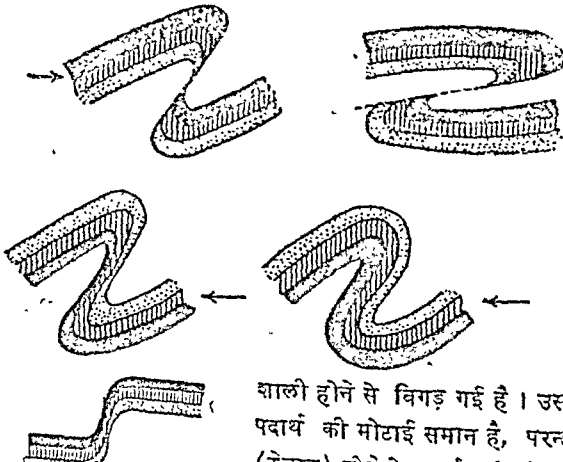
जिस दवाव शक्ति के कारण पदार्थ में मोड़ें पड़ जाती हैं, उसी के कारण मोड़ें टूट भी जाती हैं और पदार्थ में दरारें (फाल्ट) पड़ जाती हैं। नीचे दिये हुए चित्र में मोड़ पड़ने की क्रिया का विवरण है। इस चित्र में सबसे नीचे के भाग में एक मोड़ ऐसी है जिसके मध्य भाग की आकृति दवाव के अधिक शक्तिशाली होने से विगड़ गई है। उसके शिखर और तली में पदार्थ की मोटाई समान है, परन्तु मध्य भाग में खिंचाव (टेन्शन) होने से पदार्थ की मोटाई कम हो गई है। दूसरी श्रेणी और तीसरी श्रेणी में मोड़ के मध्य भाग में पदार्थ की मोटाई की कमी और भी अधिक होती जाती है; यहाँ तक कि अन्त के मोड़ में उसके दो भाग अलग हो जाते हैं। उसमें यह क्रिया टूटी रेखा द्वारा प्रदर्शित है।

चित्र ८४—मोड़ विच्छेदन (फाल्टिंग)

मोड़ें पड़ने पर उथले समुद्र का क्षेत्रफल बहुत संकुचित हो जाता है। आल्पस पर्वत के विषय में विश्वास किया जाता है कि उथले समुद्र की चौड़ाई लगभग ७२० मील से सकुड़ कर केवल ९० मील रह गई है।

पर्वत निर्माण की तीसरी क्रिया में जल के भीतर मुड़ा तथा फटा पदार्थ जल के ऊपर उठता है। इस उठने से गिरि निर्माण खाल (जियोसिनक्लाइन) में भरा हुआ समुद्री जल

(रूट्स) पृथ्वी के भीतर सघन पदार्थ में डूबी हैं जो उनको संतुलित (बैलेन्स) रखता है। इस विचार के अनुसार पर्वत समुद्र में तैर रहे हैं।

उपरोक्त तरित पर्वत (फ्लोटेशन) के विचार को नीचे दिये गये चित्र में प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र में एक ही धातु के छोटे बड़े टुकड़े पारे में तैर रहे हैं। बड़े टुकड़े का कुछ भाग पारा में नीचे डूबा है और इसलिये चारों ओर से सवा है :—

चित्र ८७—तरित पदार्थ का ऊँचाई-निचाई से संबंध

एरी तथा हेफार्ड के मतों के मध्यस्थ जोली का मत है। यह मत उन्होंने सन् १९२५ में प्रकट किया। इस मत में संतुलित-तल को एक रेखा न मान कर एक क्षेत्र माना गया है। यह संतुलित-तल क्षेत्र (जोन आफ कम्पेन्सेटिंग मासेज) पृथ्वी के भीतर १० मील चौड़ा माना गया है। नीचे दिये हुए चित्र में पृथ्वी के भीतर स्थित 'सीमा' नामक सघन पदार्थ में धरातल के कम घने पदार्थ से बने 'सियाल' नामक पदार्थ से बनी भिन्न-भिन्न आकृतियों को तैरते एहु दिखाया गया है।

चित्र ८८—संतुलन शक्ति का प्रभाव

धरातल की आकृतियों के संतुलन करने वाली शक्ति को 'संतुलन-शक्ति' (आइसोस्टसी) कहते हैं। यह नाम १८८९ में संयुक्त राज्य अमेरिका में डटन ने दिया। इस शक्ति के द्वारा ही यह संभव है कि पृथ्वी में भिन्न-भिन्न दबाव वाले पदार्थ होते हुए भी पृथ्वी पर ऊँचे और नीचे आकार, अर्थात् पर्वत और मैदान, साथ-साथ स्थिर हैं। यह शक्ति अपना काम सदा करती रहती है। घर्षण द्वारा पर्वतों में पदार्थ आकर मैदानों में बराबर जमा होता है। इस प्रकार से एक दूसरे के दबाव में जो कमी आती है उसको यह शक्ति बराबर पूरा करती रहती है। ज्यों-ज्यों पर्वत की ऊँचाई घर्षण के कारण कम होती है

मोड़ों का ऊपरी भाग कटा हुआ है; क्योंकि जल से ऊपर उठने पर वह घिस गया है। घिसा हुआ भाग टूटी हुई रेखाओं द्वारा दिखाया गया है।

चित्र ८३—मोड़ के अंग

मोड़ में एक भाग ऊपर उठा होता है, और दूसरा भाग नीचे गिरा होता है। ऊपर उठे भाग को 'मोड़-शिखर' (एन्टीक्लाइन) और नीचे गिरे भाग को 'मोड़ तली' (सिनक्लाइन) कहते हैं। ऊपर के चित्र में ये दोनों भाग दिखाये गये हैं।

जिस दवाव शक्ति के कारण पदार्थ में मोड़ें पड़ जाती हैं, उसी के कारण मोड़ें टूट भी जाती हैं और पदार्थ में दरारें (फाल्ट) पड़ जाती हैं। नीचे दिये हुए चित्र में मोड़ पड़ने की क्रिया का विवरण है। इस चित्र में सबसे नीचे के भाग में एक मोड़ ऐसी है जिसके मध्य भाग की आकृति दवाव के अधिक शक्तिशाली होने से बिगड़ गई है। उसके शिखर और तली में पदार्थ की मोटाई समान है, परन्तु मध्य भाग में खिंचाव (टेन्शन) होने से पदार्थ की मोटाई कम हो गई है। दूसरी श्रेणी और तीसरी श्रेणी में मोड़ के मध्य भाग में पदार्थ की मोटाई की कमी और भी अधिक होती जाती है; यहाँ तक कि अन्त के मोड़ में उसके दो भाग अलग हो जाते हैं। उसमें यह क्रिया टूटी रेखा द्वारा प्रदर्शित है।

चित्र ८४—मोड़ विच्छेदन (फाल्टिंग)

मोड़ें पड़ने पर उथले समुद्र का क्षेत्रफल बहुत संकुचित हो जाता है। आल्प्स पर्वत के विषय में विश्वास किया जाता है कि उथले समुद्र की चौड़ाई लगभग ७२० मील से सिकुड़ कर केवल ९० मील रह गई है।

पर्वत निर्माण की तीसरी क्रिया में जल के भीतर मुड़ा तथा फटा पदार्थ जल के ऊपर उठता है। इस उठने से गिरि निर्माण खाल (जियोसिनक्लाइन) में भरा हुआ समुद्री जल

धीरे-धीरे निकटवर्ती समुद्र में बह जाता है और पहले वाला उथला समुद्र अब धरातल का भाग बन जाता है।

संतुलन (आइसोस्टसी)—पदार्थों के ऊपर उठने और नीचे धँसने का मुख्य कारण यह है कि पृथ्वी पर अपने बोझ अथवा दबाव (डेन्सिटी) के अनुसार दो प्रकार के पदार्थ हैं एक हल्के अर्थात् कम दबाव वाले पदार्थ और दूसरे भारी अर्थात् अधिक दबाव वाले पदार्थ। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण ये दोनों प्रकार के पदार्थ साधारण दशा में एक दूसरे से अलग रहते हैं। हल्के पदार्थ विशेषकर पृथ्वी के ऊपरी भाग में और भारी पदार्थ पृथ्वी के नीचे भागों ही में पाये जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी के बाहरी और भीतरी भागों में बहुत बड़ा अन्तर है। इस अन्तर का प्रमाण भूकम्पजनित कम्पन लहरों से मिलता है। पृथ्वी के भीतरी भाग में पहुँचने पर इन लहरों की गति अति तीव्र हो जाती है, और ऊपरी भाग में पहुँचने पर उनकी गति मन्द हो जाती है। गति का यह अन्तर पदार्थ के अधिक व कम घने होने से संबंधित है। पृथ्वी का भीतरी भाग अधिक ठोस है और इस लिए कम्पन लहरों की गति अधिक होती है; ऊपरी भाग कम ठोस है इसलिए वहाँ कम्पन लहरों की गति कम होती है।

पीछे कहा गया है कि पर्वत निर्माण की दूसरी अवस्था में दबाव तथा दाह के कारण ऊपरी हल्का पदार्थ और भीतरी भारी पदार्थ बहुत कुछ अंश तक एक दूसरे में मिल जाते हैं। ज्यों ही ये असाधारण दशायें शान्त हो जाती हैं, त्यों ही ऊपर रहने वाला हल्का पदार्थ, जो जल के भीतर बहुत गहराई तक पहुँच गया था, ऊपर उठने लगता है और अन्त में पृथ्वी के ऊपरी भाग में पहुँच जाता है। इस उठे हुए पदार्थ की ऊँचाई बहुत अधिक होती है, और इसलिये इसे 'पर्वत' या 'पहाड़' कहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी के ऊपरी भाग में रहने वाला हल्का पदार्थ अपनी 'पूर्ववत्' दशा में 'पर्वत' के रूप में पहुँच जाता है।

इस बात की खोज कि पर्वतों में हल्का पदार्थ है, पहले-पहल भारत में एक विदेशी सज्जन, आर्कडीकटन प्रैट ने की थी। उन्होंने यह देखा कि अक्षांश रेखा बताने वाले यंत्र का लट्टू (प्लम्ब बाब) हिमालय पर्वत की ओर इतना अधिक आकर्षित नहीं होता है जितना कि उसे हिमालय की राशि को देखते हुए होना चाहिए। बाब पर हिमालय का खिंचाव १५ सेकिंड न होकर केवल ५ सेकिंड ही था। सन् १८५२ में इस बात से उन्होंने यह निश्चय किया कि हिमालय पर्वत के भीतर 'रिक्त स्थान' (वायड) है।

उक्त विचार को लेकर संयुक्त राज्य अमेरिका में हेफोर्ड तथा बोवी नामक दो सज्जनों ने बहुत अध्ययन और खोज-बीन की। हेफोर्ड ने यह मत प्रकट किया कि पृथ्वी के भीतर लगभग ६० मील (१०० किलोमीटर) की गहराई पर एक समतुल्य भारतल, अर्थात् संतुलित तल (कम्पेन्सेशन लेविल) स्थित है जिस पर ऊपरी पृथ्वी के सारे पदार्थों का भार है। इस भार की समानता के कारण ही इन पदार्थों के ऊँचे तथा नीचे स्तम्भ साथ-साथ

खड़े हैं। जिन पदार्थों के स्तंभ की ऊँचाई अधिक है, अर्थात् जिनमें पदार्थ अधिक क्षेत्र में फैला है, उनका दवाव अपेक्षाकृत ऊँचाई देखते हुए, संतुलित तल रेखा पर कम पड़ता है और जिन पदार्थों के स्तंभों की ऊँचाई कम है, अर्थात् जिनमें पदार्थ थोड़े क्षेत्र में भरा है, उनका दवाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। लम्बे स्तंभ की अधिक ऊँचाई की बराबरी छोटे स्तंभ के अधिक बोझ से होती है। यदि ऐसा न होता तो एक अधिक ऊँचे और दूसरे कम ऊँचे स्तंभ का दवाव संतुलित-तल रेखा पर समान कैसे हो सकता था? यदि यह दाव समान न माना जाय तो ऊँचे पर्वत निकटवर्ती मैदान में लुढ़क पड़ते। उनका खड़ा होना असंभव हो जाता।

नीचे दिये हुए चित्र में यह दिखाया गया है कि कम घने पदार्थ से बने हुए ऊंचे पठार को खड़े रखने में निकटवर्ती मैदान का सघन पदार्थ सहायता देता है। इस चित्रमें AB रेखा संतुलित तल रेखा मानी गई है:—
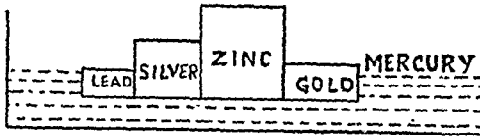
चित्र ८५—राशि और सघनता में सम्बन्ध

नीचे दिये हुए बोवी के आधार पर बनाये हुए चित्र में ऊपर दिये हुए चित्र से उपमा मिलती है। यहाँ पर विभिन्न सघनता (डेन्सिटी) वाली कई धातुओं के समान दवाव डालने वाले छोटे टुकड़े पारा में तैर रहे हैं। इन सब टुकड़ों का निचला भाग समतल है; परन्तु उनका ऊपरी भाग ऊँचा-नीचा है। दवाव की समता लाने के लिए जस्ता का टुकड़ा सोने के टुकड़े की अपेक्षा अधिक बड़ा लिया गया है।

PLATEAU
PLAIN
PLAIN
DENSE ROCKS
LIGHT ROCKS
DENSE ROCKS
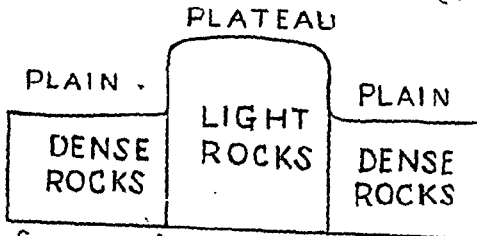
चित्र ८६—पदार्थ की सघनता का आकृतियों से सम्बन्ध

हेफार्ड और बोवी के मत को बहुत लोगों ने इसलिये नहीं माना कि प्रकृति में पदार्थों का वितरण विलग स्तंभों में कहीं नहीं देखा गया है। इस संबंध में ऐरी नामक एक सज्जन सन् १८५९ से ही यह मत दे रहे थे कि पर्वत इसलिये खड़े हैं कि उनकी जड़ें

(रूट्स) पृथ्वी के भीतर सघन पदार्थ में डूबी हैं जो उनको संतुलित (बैलेन्स) रखता है। इस विचार के अनुसार पर्वत समुद्र में तैर रहे हैं।

उपरोक्त तरित पर्वत (फ्लोटेशन) के विचार को नीचे दिये गये चित्र में प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र में एक ही धातु के छोटे बड़े टुकड़े पारे में तैर रहे हैं। बड़े टुकड़े का कुछ भाग पारा में नीचे डूबा है और इसलिये चारों ओर से सधा है :—

चित्र ८७—तरित पदार्थ का ऊँचाई-निचाई से संबंध

एरी तथा हेफार्ड के मतों के मध्यस्थ जोली का मत है। यह मत उन्होंने सन् १९२५ में प्रकट किया। इस मत में संतुलित-तल को एक रेखा न मान कर एक क्षेत्र माना गया है। यह संतुलित-तल क्षेत्र (जोन आफ कम्पेन्सेटिंग मासेज) पृथ्वी के भीतर १० मील चौड़ा माना गया है। नीचे दिये हुए चित्र में पृथ्वी के भीतर स्थित 'सीमा' नामक सघन पदार्थ में धरातल के कम घने पदार्थ से बने 'सियाल' नामक पदार्थ से बनी भिन्न-भिन्न आकृतियों को तैरते एहु दिखाया गया है।

चित्र ८८—संतुलन शक्ति का प्रभाव

धरातल की आकृतियों के संतुलन करने वाली शक्ति को 'संतुलन-शक्ति' (आइसोस्टसी) कहते हैं। यह नाम १८८९ में संयुक्त राज्य अमेरिका में डटन ने दिया। इस शक्ति के द्वारा ही यह संभव है कि पृथ्वी में भिन्न-भिन्न दवाव वाले पदार्थ होते हुए भी पृथ्वी पर ऊँचे और नीचे आकार, अर्थात् पर्वत और मैदान, साथ-साथ स्थिर हैं। यह शक्ति अपना काम सदा करती रहती है। घर्षण द्वारा पर्वतों में पदार्थ आकर मैदानों में बरावर जमा होता है। इस प्रकार से एक दूसरे के दवाव में जो कमी आती है उसको यह शक्ति बरावर पूरा करती रहती है। ज्यों-ज्यों पर्वत की ऊँचाई घर्षण के कारण कम होती है

त्यों-त्यों वह और ऊपर उठता जाता है, और इस प्रकार पहाड़ और मैदान का संतुलन बराबर बना रहता है।

पर्वतीकरण चक्र (ओरोजेनिक साइकिल)—पिछले विवरण से यह स्पष्ट है कि सभी पर्वतों को कुछ निश्चित अवस्थाओं से होकर निकलना पड़ता है। पदार्थ जमा होना उसका मुड़ना और गहराई तक पहुँचना जिससे पर्वत की ऊँचाई अधिक हो सके, तथा गहराई से उसका उठना और घर्षण क्रिया के अधीन होकर पदार्थ तितर-बितर हो जाने से पर्वत का नीचा होना आदि अवस्थाएँ एक चक्र बनाती हैं। इस चक्र को 'पर्वतीकरण चक्र' (ओरोजेनिक साइकिल) कहते हैं। पृथ्वी पर स्थित गिरि निर्माणक खालों के क्षेत्र में आज जो पर्वत हैं कल वह मैदान बन जायेंगे, और अन्त में उनके ही पदार्थ से, दूसरे नये पर्वत फिर बनेंगे। पर्वतीकरण चक्र का यही मूल सिद्धान्त है।

उक्त चक्र की मुख्य बातें ये हैं कि:—

(अ) उसकी पहली दो अवस्थाओं में पदार्थ जल के नीचे धँसता जाता है; और तीसरी अवस्था में ही वहाँ से वह ऊपर उठता है।

(ब) पदार्थ के धँसने और उठने प्रत्येक में दो-दो कारण हैं; पहला धँसना पदार्थ के बोझ के कारण होता है, और दूसरा धँसना किनारों के दबाव के कारण। इसी प्रकार उठने में पहला कारण किनारों के दबाव की कमी और दूसरा कारण घर्षण आरंभ होने पर पदार्थ के बोझ में कमी।

(स) पदार्थ का उठना और पर्वतों की ऊँचाई 'संतुलन-शक्ति' (आइसोस्टसी) के कारण हैं, अर्थात् पर्वतीकरण चक्र में पदार्थ का मुड़ना और उसका ऊपर उठना दो पृथक्-पृथक क्रियायें हैं जो एक दूसरे के बाद होती हैं।

पर्वतीयकरण के विभिन्न मत—यह बात तो प्रायः सभी मानते हैं कि पर्वत निर्माण में दबाव एक महत्वपूर्ण शक्ति है। यह दबाव कैसे उत्पन्न होता है इस विषय में बड़ा मतभेद है। इनमें से कुछ मत नीचे दिये जाते हैं:—

(१) पृथ्वी के शीतलीकरण जनित सिकुड़न (थरमल कांट्रेक्शन) मत यह मानता कि पृथ्वी पहले तप्त गैस के रूप में थी जो शीतल होने से अब ठोस हो गई है। सबसे पहले पृथ्वी का ऊपरी भाग शीतल और ठोस हुआ। उसका भीतरी भाग धीरे-धीरे अब भी शीतल हो रहा है। ज्यों-ज्यों यह भीतरी भाग शीतल होता जाता है, त्यों-त्यों वह सिकुड़ कर छोटा होता जाता है। भीतरी भाग के छोटे हो जाने से ऊपरी ठोस भाग को भी छोटा होना पड़ता है; क्योंकि ऊपरी भाग भीतरी भाग पर ही सधा है। इस क्रिया में ऊपरी भाग में दबाव उत्पन्न हो जाता है जिससे पर्वतीकरण प्रारंभ हो जाता है। यह मत बहुत पुराना है और प्रायः न्यूटन के समय से चला आ रहा है। आजकल इसको जेफ्रे का मत कहा जाता है।

इस मत के विरुद्ध बहुत से तर्क दिये जाते हैं। सबसे पहले तो यही बात है कि पृथ्वी का भीतरी भाग बराबर शीतल हो रहा है इसमें बहुत लोगों को सन्देह है। रेडियो की तपन शक्ति का ज्ञान होने से लोग भीतरी भाग के शीतल होने को नहीं मानते हैं। दूसरी बात इसके विरुद्ध यह कही जाती है कि यदि पर्वतीकरण पृथ्वी के भीतरी भाग के शीतल होने से संबंधित होता, तो पर्वतीकरण की क्रिया समय-समय पर न हो कर बराबर जारी रहती। पर ऐसा देखने में नहीं आता है। तीसरी बात विरोध में यह है कि सारी पृथ्वी का भीतरी भाग शीतल होता है, और इसलिये पर्वतीकरण की क्रिया पृथ्वी के पूरे क्षेत्र में होनी चाहिये, न कि विशेष क्षेत्रों में, जैसा कि देखा जाता है। चौथी बात इस मत के विरुद्ध यह है कि पृथ्वी पर आजकल कई क्षेत्र 'खिंचाव के क्षेत्र' (टेन्शन जोन) माने जाते हैं। ऐसे क्षेत्र प्रस्तुत मत के अनुसार असंभव होते।

(२) पृथ्वी की कीली—प्रदक्षिणा की गति में कमी का प्रभाव 'दवाव शक्ति' पैदा करता है। इस मत को मानने वाले कहते हैं कि ठोस हो जाने से पहले की अपेक्षा अब पृथ्वी की कीली-प्रदक्षिणा (रोटेशन) की गति में कमी हो गई है। इसके कारण भूमध्य रेखा से ध्रुव की ओर पदार्थ को जाना चाहिए। इस पदार्थ के हटने के कारण पृथ्वी पर 'दवाव शक्ति' उत्पन्न होती है। इस मत का खंडन इसी बात से है कि पृथ्वी पर भूमध्य रेखा से ध्रुव की ओर कहीं भी पदार्थ नहीं हट रहा है।

(३) संतुलन-शक्ति (आइसोस्टसी) का मत पीछे वर्णित है।

(४) वेगनर का महाद्वीप—स्थानान्तर (कान्टीनेन्टल ड्रिफ्ट) मत अभी तक विवाद-ग्रस्त है। इस मत के अनुसार पृथ्वी के थल भाग 'सियाल' नामक हल्के पदार्थ से बने हैं और समुद्र 'सीमा' नामक भारी पदार्थ से। आदि में पूरा थल भाग एक में जुड़ा था जिसको 'पैन्जिया' कहते हैं। परन्तु मेसोजोइक काल के आरंभ में 'पैन्जिया' के कई टुकड़े

चित्र ८९—पैन्जिया का विकास

हो गये जो समुद्र के भारी पदार्थ में इधर-उधर तैरने लगे। यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिये कि समुद्र के भारी पदार्थ का तात्पर्य समुद्र में भरे जल से नहीं है, वरन् उसके पेंदी में पाया जाने वाला पदार्थ जो थल भाग के नीचे भी भरा है। भारी पदार्थ में तैरते समय थल भागों के किनारे मुड़ गये। इस प्रकार पृथ्वी के गिरि निर्माणक खालों (जियोसिन क्लाइन) की उत्पत्ति हुई। इन खालों में जमा होने वाला थल का पदार्थ भी इसी प्रकार मुड़ गया और पर्वत बन गया। इस मत के अनुसार 'दबाव शक्ति' की उत्पत्ति थल भागों का समुद्री भागों में उतराने के कारण है। इस मत के पक्ष में कही जाने वाली मुख्य बात यह है कि दोनों अमेरिका और योरप-अफ्रीका के किनारों की आकृति ऐसी है कि वे पूर्ण प्रकार जुड़ सकते हैं। अफ्रीका गिनी देश का भाग दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी भाग से, और उसका दक्षिणी तट दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी भाग से भली भाँति जुड़ सकता है। दोनों ओर के तटों की चट्टानें भी एक ही हैं। उक्त बातों का प्रमाण नीचे दिये हुए चित्र से मिलता है :—

चित्र ९६ में यह समझाया गया है कि स्थल भाग पैन्जिया के अनेक टुकड़े भिन्न-भिन्न कालों में किस प्रकार हुए होंगे।

महासागर का जल वायु

महासागरों तथा महाद्वीपों में तीन मुख्य अन्तर हैं; (अ) ठोसपन, (ब) समतलता, और समुद्रधाराएँ। महासागर में जल थल के समान ठोस नहीं है। वह सरलता से इधर उधर चलता फिरता है और जल में ताप परिवर्तनों का आधार बनता है। जल की सतह मैदान से भी अधिक समतल है जिससे पवन की गति में बहुत कम रुकावट पड़ती है। समुद्रधारायें उष्णता अथवा शीतलता के भण्डार हैं। जनता ताप पवनों द्वारा इधर-उधर फैलता रहता है। महासागरों की ये वशेषतायें थल की अपेक्षा जलवायु में बहुत कुछ विभिन्नता ला देती हैं।

अनेक महासागरों की जलवायु विवरण नीचे है :—गर्मी की ऋतु में एल्यूशियन न्यून वायुभार के स्थान में उच्च वायुभार हो जाता है इस ऋतु में भूमध्यरेखीय क्षेत्र में उठे हुए तूफान पूरे उत्तरी भाग में उड़ा करते हैं। एशिया से लगे हुए प्रशान्त महासागर के सभी भागों में इस ऋतु में बादल और अधिक जलवर्षा होती है। परन्तु इस महासागर के पूर्वी भाग में मौसम अच्छा और शुष्क रहा करता है।

आर्कटिक महासागर—आर्कटिक महासागर में पूरे वर्ष तूफान चला करते हैं। ये तूफान पड़ोसी क्षेत्रों से आते हैं। ग्रीष्म ऋतु में नीचे बादल और कोहरा बहुधा रहते हैं। इस ऋतु में तापक्रम प्रायः तुषारबिन्दु से ऊपर रहा करता है। जब कभी दक्षिण की ओर से वाष्प भरी वायु आ जाती है तब वर्फ पड़ जाती है, ।

हिन्द महासागर—जनवरी के महीने में इस महासागर पर एशिया से लौटी हुई सूखी मानसून (दक्षिण-पूर्वी मानसून) की प्रधानता रहती है। इस वायु में आसमान स्वच्छ और पवन मन्द रहती है। परन्तु ज्यों-ज्यों यह वायु समुद्र पर आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसमें जल की मात्रा अधिक होती जाती है, और भूमध्यरेखा पहुँचने तक बादल और जलवर्षा होने लगती है। भूमध्यरेखा के दक्षिणी भाग में इस महासागर में नाचने वाली आँधियाँ चलने लगती हैं। ये आँधियाँ प्रायः हिन्द महासागर के पश्चिमी भाग तथा मध्यवर्ती भाग में अधिक देखी जाती हैं। आँधी-क्षेत्र के बाहर ४०° दक्षिणी अक्षांश तक मौसम सूखा सुहावना और मन्द पवन वाला होता है। ध्रुवीय क्षेत्र के निकट शीतोष्ण खण्डीय तूफान आने लगते हैं।

मार्च के महीने में ग्रीष्म ऋतु की मानसून की उन्नति करने वाली दशाओं का आरंभ इस महासागर के उत्तरी भाग में होता है। तूफानों का उठना मानसून का पहला लक्षण है। जून तक इस मानसून का पूर्ण प्रभाव दिखने लगता है। इस समय महासागर पर भूमध्यरेखा के उत्तर लगातार जलवर्षा और घने बादल सभी जगह दिखाई देते हैं: भूमध्यरेखा के दक्षिण, महासागर पर व्यापारिक पवनों का शान्त और शुष्क मौसम ४०° दक्षिणी अक्षांश तक बना रहता है। पछुआ हवाओं का मौसम ४०° दक्षिण अक्षांश के आगे ही मिलता है। इन हवाओं में मौसम तूफानी रहता है।

आंध्र महासागर—जनवरी के महीने में इस महासागर के उत्तरी भाग में मौसम प्रायः आइसलैंडवाले न्यून वायुभार क्षेत्र पर निर्भर रहता है। इस न्यूनवायु भार के कारण यहाँ बार-बार तूफान आया करते हैं, इन तूफानों का फल यह होता है कि यहाँ पर कभी बादल, कोहरा और वर्षा की भरमार होती है, और कभी सूखे, सुहावने मौसम की। प्रायः ४०° उत्तरी अक्षांश तक पछुवा हवायें चलती हैं और आगे व्यापारिक पवनों का क्षेत्र है। साधारणतया व्यापारिक पवनों का क्षेत्र भी यहाँ तूफानों से ही प्रभावित है। इस महासागर के भूमध्यरेखीय क्षेत्रों में बादल, जलवर्षा और तूफान फिर मिलते हैं। परन्तु भूमध्यरेखा के दक्षिण में स्थित व्यापारिक पवनों के क्षेत्र में मौसम अच्छा रहता है दक्षिणी आंध्र महासागर में पछुवा हवाओं का वेग अधिक होता है और उत्तरी भाग की भाँति यहाँ भी अधिक तूफान आते हैं। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर कनारीज और बेनगुआला समुद्रजल धाराओं के ठंडे जल के कारण वहाँ बहुत कोहरा हुआ करता है। गर्मी की ऋतु में आंध्र महासागर पर तूफानों में बहुत कुछ कमी हो जाती है। पछुआ हवाओं की गति में तथा उनके क्षेत्र में भी कमी हो जाती है। इस ऋतु में इस महासागर

के उष्णखण्डीय भाग में नाचने वाली आँधियाँ अधिक आया करती हैं। इनका प्रभाव पश्चिमी द्वीप समूह के निकट अधिकतर देखा जाता है। इस महासागर के दक्षिण भाग में ऋतु-परिवर्तन का कोई विशेष प्रभाव वहाँ नहीं दिखलाई देता है। दोनों ऋतुओं में प्रायः एक सी ही दशायें रहती हैं। इस दक्षिणी भाग में नाचने वाली आँधियाँ नहीं मिलती हैं।

प्रशान्त महासागर—जनवरी के महीने में प्रशान्त महासागर का उत्तरी भाग एल्यूशियन न्यूनवायुभार द्वारा प्रभावित रहता है जिससे वहाँ तूफान बहुत आया करते हैं। इन तूफानों के कारण नीचे बादल, वर्षा और कोहरा बहुत होता है। ३५° अक्षांश के दक्षिण व्यापारिक पवनों का क्षेत्र मिलता है जहाँ शुष्क और सुहावना मौसम मिला करता है। यहाँ केवल व्यापारिक पवनों के पश्चिमी क्षेत्र में तूफान पाये जाते हैं।

अन्य महासागरों की भाँति इसमें भी भूमध्यरेखीय क्षेत्र में अधिक जलवर्षा, बादल तथा तूफान मिलते हैं। दक्षिण की ओर आँध्र महासागर के समान ही दशा मिलती है अर्थात् पछुआ हवाओं के क्षेत्र में तूफान तथा व्यापारिक पवनों के क्षेत्र में शुष्क मौसम रहता है।
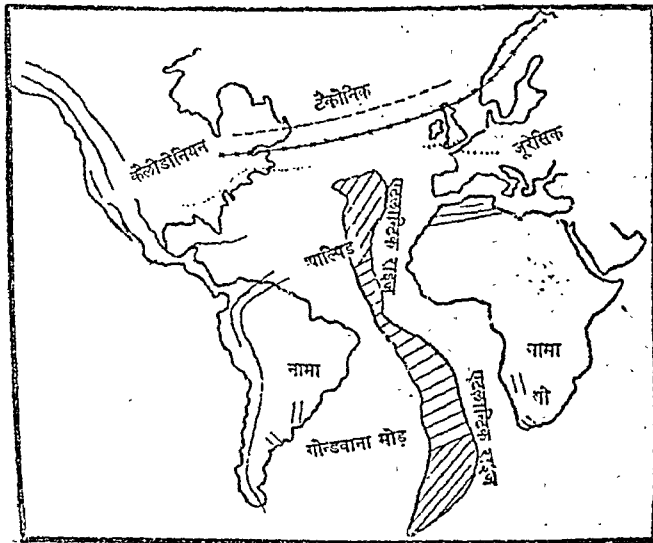
चित्र ९०

वेगेनर के मत के विरुद्ध कही जाने वाली मुख्य बात यह है कि प्रकृति में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जिससे इतना बड़ा थल भाग समुद्री पदार्थ, सीमा में इधर-उधर जा सकता था। और यदि ऐसी शक्ति होती तो पृथ्वी की कीली-प्रदक्षिणा रुक जाती है। वेगेनर के मत का अधिक वर्णन पीछे दिया गया है।

(५) डाली का स्थल-पतन (कान्टीनेन्टल स्लाइडिंग) मत वेगेनर के मत का ही रूपान्तर है। डाली के अनुसार तैरते हुए थल भाग समुद्र के भारी भाग में सीधे ढाल के कारण लुढ़क पड़ते हैं। इस लुढ़कने के कारण स्थल के किनारे वाला भाग गिरि निर्माणक खाल में मुड़ जाता है और अधिक गहराई तक पहुँच जाता है। अधिक गहराई में वह पिघल जाता है और फैलने लगता है। फैलने पर वह ऊपर उठने लगता है और उसी के साथ मुड़ा हुआ उसके ऊपर वाला भाग भी उठ जाता है।

(६) जोली का रेडियो-पतन मत यह मानता है कि समुद्र के भीतरी 'सीमा' में कभी-कभी इतने ऊँचे ताप हो जाते हैं कि वह पदार्थ पिघल जाता है। पिघलने से उसके ऊपर स्थित स्थल भाग उसमें काफी गहराई तक धँस जाते हैं। जो भाग कम गहराई तक धँसते हैं, वे गिरि निर्माणक खाल हो जाते हैं। कालान्तर में रेडियो-जनित ताप कम हो जाते हैं और 'सीमा' शीतल हो जाता है। 'सीमा' शीतल होने से स्थल भाग उसमें से निकल कर बाहर उठता है। सीमा के शीतल होते समय खिचाव उत्पन्न हो जाता है जिससे उपरोक्त खाल में जमा पदार्थ मुड़ जाता है और अन्त में स्थल भाग के ऊपर उठने से वह भी उठ जाता है।

(७) होम्स ने तरंग मत (कनवेक्शनल करेंट) वेगेनर और जोली के मतों के आधार पर चलाया। 'तरंग' मत के अनुसार जब 'सीमा' पिघल जाता है, तब उसमें पहले तरंगें और अन्त में धारायें उत्पन्न हो जाती हैं। ये धारायें थल भागों के नीचे-नीचे बहती हैं, और अपने साथ उनको खींचती हैं। इस प्रकार थल भाग के चलने से गिरि निर्माण खालों का पदार्थ मुड़ जाता है।

आगे दिये हुए चित्र में यह स्पष्ट किया गया है कि दबाव की शक्ति के अनुसार ही पर्वत बनाने वाला पदार्थ मोटा अथवा पतला होता है। उस चित्र में वेल्स में जो चट्टानें अधिक मोटी हैं वही चट्टानें स्वेडन और बाल्टिक में पतली हैं; क्योंकि दबाव की शक्ति वेल्स में बहुत थी।

पर्वतीकरण के उदाहरण— पृथ्वी पर अभी तक हुए पर्वतीकरण के तीन मुख्य उदाहरण पाये जाते हैं। इनके नाम कैलीडोनियन, हरसीनियन और एल्पाइन हैं। इनमें कैलीडोनियन सबसे प्राचीन है; हरसीनियन मध्यकालीन और एल्पाइन सबसे नया उदाहरण है। कैलीडोनियन पर्वतीकरण सिल्यूरियन काल से आरंभ हुआ। हरसीनियन कार्बोनीफरस काल से और एल्पाइन मियोसीन काल से आरंभ हुए। कैलीडोनियन पर्वती-

करण लगभग ३२ करोड़ वर्ष पहले, हरसीनियन लगभग २२ करोड़ वर्ष पहले, और एल्पाइन लगभग ३ करोड़ वर्ष पहले आरंभ हुआ। प्राचीन उदाहरणों को देखते हुए
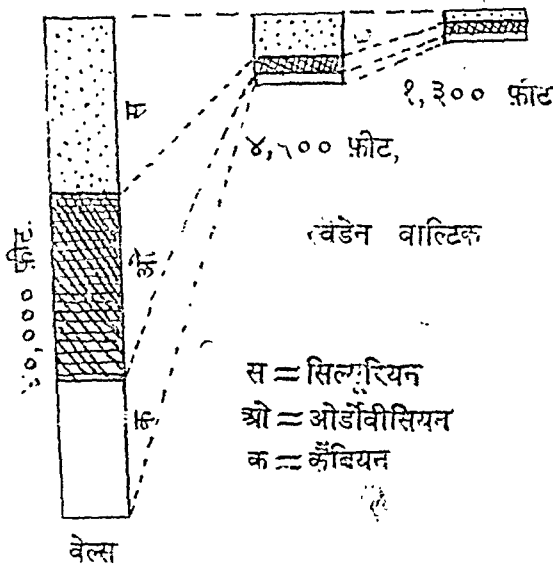
चित्र ९१

यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पर्वतीकरण अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। हिमालय तथा आल्प्स आदि पर्वतों का निर्माण अभी तक चल रहा है।

कैलेडोनियन गिरि निर्माण काल योरप से लेकर ग्रीनलैंड तक फैला था। स्कैन्डीनेवियन प्रायद्वीप, स्काटलैण्ड, उत्तरी वेल्स, दक्षिणी इयरा, न्यूफाउन्डलैण्ड, न्यूब्रंजविक तथा नोवा स्कोशिया आदि में इस काल के पर्वतों के शेषांश अब तक पाये जाते हैं। नियागारा जलप्रपात की चट्टानें कैलेडोनियन की ही उदाहरण हैं।

हरसीनियन के कई नाम हैं, जैसे—हरसीनियन, आर्मोरिकन, आल्टेड इत्यादि। योरप में इसका काल आयर्लैंड (इयरा) से लेकर रूस तक फैला था। उत्तरी अमेरिका में

यह लेब्राडोर से मेक्सिको तक फैला था। भारत में भी अरावली पर्वत इसी काल के हैं। योरप में जूरा पर्वत और उत्तरी अमेरिका में एपालेशियन पर्वत इससे संबंधित हैं।

एल्पाइन पर्वतीकरण का प्रभाव पृथ्वी पर दूर-दूर तक फैला है। राकी, एन्डीज, आल्प्स, एटलस तथा एशिया और आस्ट्रेलिया की मुख्य पर्वत श्रेणियाँ इसी के अन्तर्गत हैं।

आल्प्स पर्वत—पर्वतों में सबसे अधिक अध्ययन आल्प्स पर्वत का किया गया है। इसलिये उसके विषय में लोगों की जानकारी अधिक है। ये पर्वत 'टेथीज' नामक गिरि निर्माणिक खाल में बने थे। आजकल का भूमध्य सागर जिस क्षेत्र में भरा हुआ है पहले उसी क्षेत्र में टेथीज था। टेथीज के उत्तर की ओर योरप का थल भाग और दक्षिण में अफ्रीका का थल भाग था। इन थल भागों से पदार्थ आकर टेथीज में जमा होते थे। लगभग ६-७ करोड़ वर्ष हुए जब अफ्रीका और योरप एक दूसरे के निकट खिंचने लगे जिससे टेथीज में तथा उसके तटों पर जमा हुआ पदार्थ मुड़ कर पर्वत बन गया। अफ्रीका का योरप की ओर खिंचाव अधिक वेग से हुआ और इसलिये उसका कुछ मुड़ा हुआ तटीय भाग योरप के तटीय भाग के ऊपर चढ़ गया। इसीलिये कुछ लोग कहा करते हैं कि आल्प्स पर्वत में 'अफ्रीका योरप पर सवार है।'

इस पर्वतीकरण में योरप के जूरा पर्वत तथा जर्मनी की बोहेमियन ऊँचाई प्रहाररतल थे जिन पर दक्षिण से आने वाले दवाव का पूरा प्रभाव पड़ा। इस दवाव के कारण जूरा
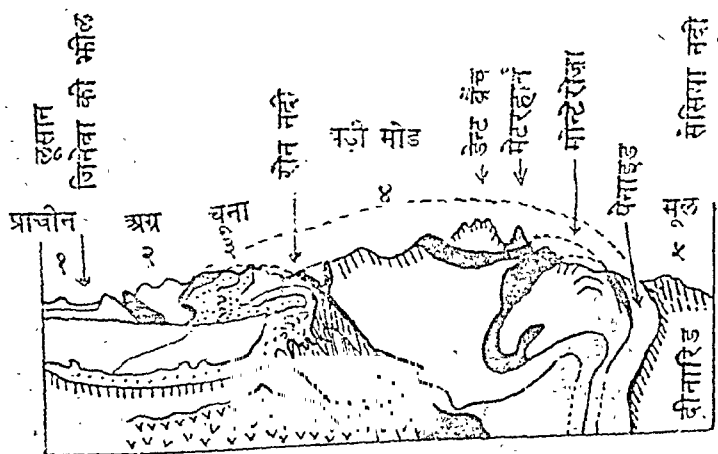
चित्र ९२—आल्प्स

पर्वत का भी कुछ भाग मुड़ गया। दबाव का प्रहार इतना अधिक शक्तिशाली था कि आल्प्स पर्वत की अनेक मोड़ें टूट कर दूर तक खिंचती चली गईं। ऐसी मोड़ों को 'नाप' कहते हैं। इस प्रकार की 'नाप' एक दूसरे के ऊपर इकट्ठा हो गई हैं। सिम्प्लान, ग्रेटमेन्ट बर्नार्ड, मोन्टेरोजा तथा दॉब्लॉश आदि प्रसिद्ध टूटी हुई लम्बी मोड़े हैं। प्रसिद्ध मेटर-हार्न पहाड़ दॉब्लॉश नाप का ही टूटा हुआ भाग है। इन टूटी हुई मोड़ों का खिंचाव कहीं-कहीं इतना अधिक पड़ा कि नीचे की भारी आग्नेय चट्टानें और उन मोड़ों की जड़ें ऊपर निकल आईं। आल्प्स के दक्षिणी-पूर्वी भाग में इन जड़ों के उदाहरण मिलते हैं। मोड़ों के जमा होने का क्रम यह है कि प्राचीन पदार्थ ऊपरी मोड़ में है और सब से नया पदार्थ सबसे नीचे दबा है। कहीं-कहीं पर इन्हीं मोड़ों से प्राप्त पदार्थ ही इनके नीचे दब गया है। जिनेवा झील के निकट स्विस मैदान में इसका उदाहरण मिलता है। कान्सटैन्स झील के दक्षिण सेन्टिस स्थित पहाड़ इसी का एक उदाहरण है।

आल्प्स पर्वतीकरण में अफ्रीका की ओर से दबाव योरप की ओर गया था। इसलिये अफ्रीका मुड़े हुए पदार्थ को 'पृष्ठ प्रदेश' (हिन्टरलैण्ड) और योरोपीय मुड़े हुए पदार्थ को 'अग्र प्रदेश' (फोरलैन्ड) कहते हैं। योरप में प्री-आल्प्स पर्वत अग्र प्रदेश के भाग हैं; और यूगोस्लाविया में स्थित दीनारिक आल्प्स पृष्ठ प्रदेश के भाग हैं जो पहले अफ्रीका के भाग थे।

कोबेर का मत है कि पर्वतीकरण में अधिकतर क्षेत्रों में दबाव दोनों किनारों से बराबर आता है। इसलिये गिरि निर्माणक खाल के दोनों ही किनारे 'अग्र प्रदेश' कहे जाने चाहियें। ये अग्र प्रदेश एक ही गति से आगे बढ़ते हैं और इनके बीच का भाग पूर्ण रूप से मुड़ नहीं पाता है। इस भाग को कोबेर ने 'मध्यराशि' (मीडियन मास) नाम दिया है। इस प्रकार के प्रायः बिना मुड़े हुए क्षेत्र आल्प्स क्षेत्र में कई जगह हैं; जैसे कारपेथियन और दीनारिक आल्प्स के मध्य हंगरी का मैदान, तथा रोडोप पठार।

आगे दिये हुए चित्र में आल्प्स पर्वतीकरण का क्षेत्र दिखाया गया है। इस चित्र में कठोर चट्टानों के प्रभाव के कारण आल्प्स पर्वत की मोड़ों के इकट्ठा होने की दिशा प्रायः गोल है। चित्र में यह भी प्रकट है कि एलपाइन मोड़ों का प्रसार अफ्रीका से योरप होता हुआ एशिया में चला गया है।

चित्र ९३—अल्पाइन मोड़

(१ और २ कठोर चट्टानें, ३ आल्प्स, ४ दीनारिक आल्प्स)

हिमालय—हिमालय पर्वत भी आल्प्स की भाँति ही बने। ये पर्वत भी टेथीज क अन्तस्तल में ही आरंभ हुए। परन्तु इनके बनाने के लिये दबाव लगभग ऊपर की ओर से आया। सायबेरिया में स्थित 'सायबेरिया ढाल' ('सायबेरियन शील्ड') के दक्षिण की ओर खिसकने से टेथीज में एकत्रित पदार्थ से तिब्बत का पठार, हिमालय पर्वत तथा अन्य निकटवर्ती पर्वत बने। फाक्स और वेडेल के मतानुसार हिमालय का पूर्वी भाग दो भिन्न क्रियाओं से बना। ये क्रियायें निम्नलिखित हैं :—

(१) पहली क्रिया में तिब्बत के पठार पर पीछे से दबाव आने से उसके किनारे के भाग में लम्बी सिकुड़नें पड़ गईं। ये सिकुड़नें इस समय हिमालय पर्वत हैं।

(२) दूसरी क्रिया में ये सिकुड़नें ऊपर उठने लगीं और पठार से बहुत ऊँची हो गईं। ऊपर उठने का कारण यह था कि नदियों द्वारा सिकुड़नों का बहुत सा पदार्थ बह गया और अनेक गहरी घाटियाँ तथा दरारें उनमें बन गईं। इसलिये संतुलन शक्ति प्रभाव से उनको उठना पड़ा। इस मत के अनुसार यदि गहरी घाटियाँ व दरारें हिमालय में न होतीं, तो हिमालय की चोटियाँ इतनी ऊँची न होतीं।

उक्त मत का प्रमाण अरुण नदी की सहायक जकर चू के सीढ़ीदार किनारों से प्राप्त होता है। अरुण नदी के समान इस नदी के सीढ़ीदार किनारे उसकी घाटी के अन्तिम भाग में अधिक ऊँचे हैं। ताशी जोम से ऊपरी भाग में किनारे बहुत नीचे हैं, जैसा कि होना चाहिये। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि घाटी में और ऊपर चलने पर किनारों की ऊँचाई फिर बढ़ने लगती है; यहाँ तक कि रोंग बुक के निकट वे लगभग १०० फीट ऊँचे हैं। यहाँ पर उनकी ऊँचाई में वृद्धि का एकमात्र कारण हिमालय का धीरे-धीरे ऊपर उठना है।

इसका दूसरा प्रमाण अरुण की एक दूसरी सहायक यारूचू से मिलता है। थोड़े समय पहले इस नदी का अधिकतर भाग उथली झील था। इस झील के शेषांश दलदल अभी तक मिलते हैं। इस घाटी के लगभग ६ मील पूर्व की ओर वालू और पत्थर का एक क्षेत्र है जो पर्वतों से आया है। यह क्षेत्र ऊपर कही हुई झील में गिरने वाली एक नदी का डेल्टा माना जाता है। विश्वास किया जाता है कि वह झील लगभग ३०० फीट गहरी रही होगी। परन्तु पहाड़ों के ऊपर उठ जाने के कारण पानी बह गया और आज वह झील सूख गई है।

सन् १९१२ में बरर्ड ने हिमालय पर्वत बनने का अपना मत यों बताया कि पृथ्वी के धरातल के नीचे एक दूसरी तह है जो शीतल हो रही है। शीतल होने पर वह तह फट जाती है और उसके टुकड़े इधर-उधर हट जाते हैं। नीचे की तह के हटने से ऊपरी तह में सिकुड़नें पड़ जाती हैं जो हिमालय पर्वत हैं। नीचे के टुकड़ों के बीच नदियों का लाया गया पदार्थ भर जाता है। थोड़े दिनों के बाद वह पदार्थ भी सिकुड़ जाता है। इस प्रकार, हिमालय और शिवालक की उत्पत्ति हुई।

इस मत के विरोध में कहा जाता है कि यदि पृथ्वी की भीतरी सतह इतनी मुलायम है कि ७५ मील की गहराई के भीतर ही पदार्थ का संतुलन हो जाता है, तो क्या उसमें एक चौड़ी खाल (गंगा-सिन्धु मैदान) २० मील गहरी बनी रह सकती थी? इसके अतिरिक्त दबाव आने की वास्तविक दिशा बरर्ड के विरुद्ध है।

जिस दिशा से दबाव आता है उसका निर्धारण निम्नलिखित बातों से होता है :—

(अ) बेडौल मोड़ की धुरी (एक्सिस आफ एसिमिट्रिकल फोल्ड) का झुकाव। इस झुकाव से ऐसा प्रतीत होता है कि मोड़ का ऊपरी भाग उसके निचले भाग की अपेक्षा अधिक झुक गया है।

(ब) चट्टानों का पड़ी दिशा में खिसकना। यह मानी हुई बात है कि चट्टानें पीछे की अपेक्षा आगे को ही अधिक खिसकती हैं।

(स) जिस ओर से दबाव आता है उस ओर नतोदर ढाल (कानकेव) स्लोप होता है।

प्रमुख श्रेणियाँ—भारत के उत्तर में स्थित कई मिली-जुली श्रेणियों को हिमालय कहते हैं। इन श्रेणियों की पूर्ण चौड़ाई लगभग १०० मील और पूर्ण लम्बाई लगभग १५०० मील है। आजकल के मत के अनुसार इन श्रेणियों का उतना ही भाग हिमालय कहा जाता है जो सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्र नदियों के मध्य है। कुछ लोग इस मत से सहमत नहीं हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में सतलज और अन्य कई नदियाँ भी सिन्धु और ब्रह्मपुत्र की भाँति इन पर्वत श्रेणियों को आर-पार काटती हैं। वास्तव में उक्त श्रेणियाँ जैसे कैलाश, लद्दाख, महान् हिमालय, लघु हिमालय तथा शिवालक आदि भी श्रेणियों की दिशा म

एक ही ओर को परिवर्तन होता है। इन श्रेणियों में समानता सी पाई जाती है और वे सब प्रायः एक ही दबाव शक्ति से बनी हैं। इसलिये ये सभी श्रेणियाँ आपस में संबंधित हैं।

सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदियों के मध्य भारत के उत्तर में स्थित पर्वत श्रेणियाँ तीन भागों में विभाजित की जाती हैं: (१) महान् हिमालय (ग्रेट हिमालय रेन्ज), (२) लघु हिमालय (लेसर हिमालय), और (३) शिवालक पर्वत। महान् हिमालय को 'भीतरी हिमालय' (इनर हिमालय) और लघु हिमालय को बाहरी हिमालय (आउटर हिमालय) कहते हैं।

(१) महान् हिमालय एक श्रेणी है जिसकी ऊँचाई हिम रेखा (स्नो लाइन) से सभी जगह ऊँची है। हिमालय की सर्वोच्च चोटियाँ इसी श्रेणी में हैं। यह श्रेणी घड़ियाल की पीठ की भाँति है जिसमें रीढ़ की हड्डियों की उपमा चोटियों से दी जाती है। इस श्रेणी और तिब्बत के पठार के मध्य नदियाँ बहती हैं जिनका जल भारत में आता है। इसलिए यह श्रेणी वास्तविक जल विभाजक नहीं है। इस श्रेणी में चूने की चट्टानें अधिक हैं। तिब्बत के पठार की ओर इस श्रेणी की ऊँचाई अधिक और ढाल खड़ा है। चोमोलहारी, कन्चकेनहास और चोमोयूमो सिक्कम के उत्तर कम्पा मैदान के ऊपर सीधे खड़े हैं।

(२) लघु हिमालय में कई छोटी-छोटी श्रेणियाँ सम्मिलित हैं जिनकी ऊँचाई प्रायः १०-१२ हजार फीट से अधिक नहीं है। इन श्रेणियों की भुजायें (स्पर) बहुत फैली हैं। इनमें अनेक छोटी-बड़ी नदियों की घाटियाँ हैं जो कठोर अथवा मुलायम चट्टानों के अनुसार सकरी अथवा चौड़ी हैं। इस भाग में पहाड़ी झीलें भी अनेक हैं। शेल और स्लेट चट्टानें इस भाग में अधिक हैं।

(३) शिवालिक पर्वत सबसे नवीन है जिसकी ऊँचाई केवल २००० फीट के लगभग है। इनमें अभी तक अपनी नदियों की घाटियाँ नहीं हैं, और इसलिये यहाँ के आकार अधिकतर धरातल की पर्त की सिकुड़नों से ही बने हैं; ये घर्षण क्रिया के पूर्ण फल नहीं हैं। शिवालिक पर्वतों के आर-पार बाहरी हिमालय से आने वाली नदियाँ बहती हैं। गंगा और यमुना आदि नदियाँ इन पर्वतों को पार करके मैदान में आती हैं। यहाँ की निकली नदियाँ छोटी-छोटी हैं जिनके किनारे सीधे खड़े हैं। इन में जल केवल वर्षा ऋतु में ही रहता है। इस पर्वत की भुजायें प्रायः पतली और छोटी हैं।

शिवालिक पर्वत का महत्व गंगा के मैदान के निकटवर्ती होने में है। ये पर्वत उसी पदार्थ से बने हैं जिनसे उक्त मैदान। शिवालिक में हाथियों और मछलियों के प्राचीन अवशेष पाये जाते हैं। हाथी अब तक तराई के मैदान में जीवित मिलता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि शिवालिक पर्वत अभी हाल में मैदान के भाग

थे। शिवालिक पर्वत के बनने से यह ज्ञात होता है कि हिमालय पर्वत का पूरा क्षेत्र मैदान की ओर खिसक आया है जिससे मैदानों का पदार्थ मुड़ गया है और पर्वत बन गये हैं। तिस्ता और रेडाक नदियों के लगभग ५० मील क्षेत्र को छोड़ कर पूर्ण हिमालय के किनारे-किनारे शिवालिक पर्वत बन गये हैं। सतलज नदी के सामने शिवालिक पर्वत कट गये हैं। उनमें वहाँ मुड़ाव नहीं है।

शिवालिक और बाहरी हिमालय के मध्य कहीं-कहीं छोटे-छोटे मैदान हैं। ये मैदान काफी ऊँचाई पर स्थित हैं। इनको 'दून' कहते हैं। सबसे प्रसिद्ध देहरादून है। अन्य दून कुमाऊँ के कोटा दून, पतली दून, कोठरी दून, चुम्बी दून और कियार्दा दून हैं।

नीचे दिये हुए चित्र में हिमालय तथा संबंधित मुख्य श्रेणियाँ दिखाई गई हैं।

प्राचीन पर्वत—प्राचीन मोड़दार पर्वत इतने ऊँचे नहीं हैं जितने कि नवीन मोड़दार पर्वत। प्राचीन पर्वतों में घर्षण क्रिया बहुत दिनों से चली आ रही है जिससे पृथ्वी के विभिन्न तहों में अधिक अंश में संतुलन हो गया है। इसलिए पर्वतों के ऊपर के उठने की क्रिया का प्रायः अन्त हो गया है। परन्तु इन पर्वतों के इतिहास से पता चलता है कि पुराने समय में इनका पुनरुत्थान और कायाकल्प (रीजुविनेशन) कई बार हुआ है। एपेलेशियन पर्वत में समान पुनरुत्थान हुआ जिसमें पूर्ण पर्वत राशि ऊपर उठी। परन्तु कभी-कभी एक अंगीय उत्थान होता है जिसमें पर्वत राशि का केवल एक ही भाग ऊपर उठता है। इसका उदाहरण स्कैन्डोनेवियन पर्वत में मिलता है।
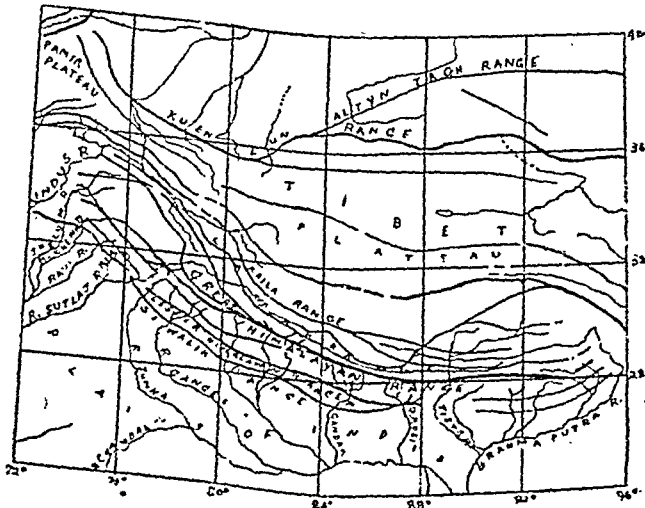
चित्र ९४—हिमालय और संबंधित श्रेणियाँ
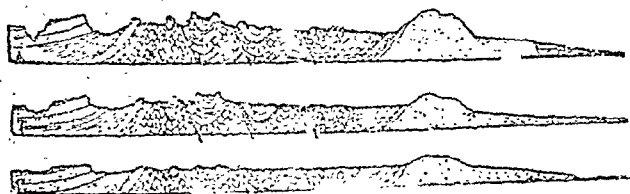
चित्र ९५—एपलेशियन पुनरुत्थान

ऊपर दिये हुए चित्र में एपेलेशियन पर्वत का पुनरुत्थान दिखाया गया है। सबसे नीचे वाले चित्र में पुनरुत्थान की पहली दशा दी हुई है। अन्य चित्रों में बाद की दशा दिखाई गई है। ज्यों-ज्यों पर्वत उठता गया है, त्यों-त्यों नदियों द्वारा अधिक मिट्टी लाने से और समुद्र जल हटने से समुद्र तट के मैदान अधिक विस्तृत हो जाते हैं।

आगे दिये चित्र में प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के मोड़दार पर्वत दिखाये गये हैं। इस चित्र को देखने से यह ज्ञात होता है कि नवीन पर्वत बहुत विस्तृत हैं। योरप में ये पर्वत अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर खिसकने से बने, एशिया में, 'सायबेरिया ढाल' के दक्षिण की ओर खिसकने से और अमेरिका महाद्वीपों के पश्चिम को खिसकने से।

विच्छेदीय पर्वत—धरातल के प्राचीन भागों में ही जहाँ पर कठोर चट्टानें अधिकतर मिलती हैं, विच्छेदीय पर्वत (फाल्ट माउन्टेन अथवा ब्लाक माउन्टेन) पाये जाते हैं। ये पर्वत स्थल की तह फट कर उसके बिगड़ जाने से बनते हैं। तह का इस प्रकार फटना उस पर बराबर खिंचाव (स्ट्रेन) और दबाव (कम्प्रेशन) शक्तियों का पड़ना है। इन शक्तियों का आरंभ संतुलन शक्ति (आइसोस्टसी) से होता है। पृथ्वी की हल्की और भारी तहों में तुल्य भार रखने के लिये स्थल के भाग ऊपर-नीचे हुआ करते हैं। इससे पुरानी कठोर तह में दरारें पड़ जाती हैं। ऊँचे-नीचे होने की क्रिया धीरे-धीरे अपना काम करती रहती है। इसलिए जहाँ एक बार दरार पड़ गई वहाँ उस दरार के सहारे-सहारे स्थल की तह ऊपर की ओर अथवा नीचे की ओर धीरे-धीरे खिसकती रहती है। इस प्रकार की दरार को जिसके सहारे चट्टानें ऊपर-नीचे सरकती हैं, अनुकूल अथवा आकर्षण-बद्ध दरार (नार्मल फाल्ट या ग्रेविटी फाल्ट) कहते हैं। विच्छेदीय पर्वत तथा दरारों से
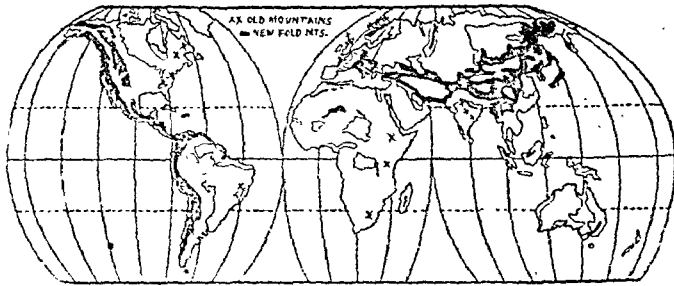
चित्र ९६—संसार के पर्वत क्षेत्र

संबंधित धरातल के अन्य आकार इसी प्रकार की दरार द्वारा बनते हैं। अन्य प्रकार की दरारों का प्रभाव धरातल की आकृतियाँ बनाने में नहीं होता है।

आगे दिये हुए चित्रों में अनुकूल दरार की उन्नति दिखाई गई है। ऊपरी भाग में बिन्दु रेखा दरार दिखाती है। चित्र की भुजा में दो तीर बने हैं जो चट्टानों का ऊपर और नीचे खिसकना दिखाते हैं। नीचे वाले चित्र में खिसकने से पुरानी धरातल की दो तहें हो गई हैं। दो तहें बनने में उन दोनों के बीच एक ढलुआँ तह और निकल आई है। इस तह के निकल आने से यहाँ के स्थल का क्षेत्रफल अधिक हो गया है। यह खिंचाव-शक्ति का ही फल है।

चित्र ९७—अनुकूल दरार

यदि अनुकूल दरार (नार्मल फाल्ट) की उन्नति इतनी शीघ्र होती है कि घर्षण क्रिया उसके प्रभाव को मिटाने में विफल होती है, यदि उससे चट्टान का बहुत बड़ा भाग प्रभावित होता है; और यदि चट्टान बहुत दूर तक खिसक जाती है तो विच्छेदीय पर्वत (फाल्ट ब्लाक माउन्टेन) बनता है।
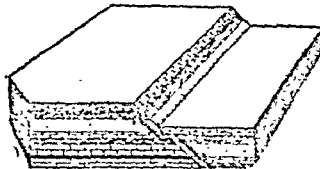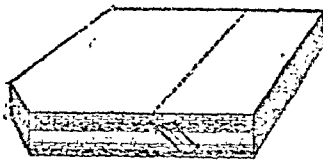
कैलीफोर्निया का सियरनिवादा पर्वत संसार में सबसे प्रसिद्ध विच्छेदीय पर्वत है। इसकी लम्बाई लगभग ४०० मील, औसत चौड़ाई लगभग ५० मील, और ऊँचाई ८००० फीट से १२००० फीट तक है। भारत में पश्चिमी घाट पहाड़ तथा विंध्याचल भी विच्छेदीय पर्वत हैं।

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि विच्छेदीय पर्वत के बनने में (१) दरार पड़ना,

और (२) उसके सहारे टूटी चट्टान का ऊर्ध्वमुखी उत्थान (टिल्ट) आवश्यकीय बातें हैं।

कभी-कभी चट्टानों में कई समानान्तर खड़ी दरारें पड़ जाती हैं। ऐसा होने पर दरारों के बीच का भाग नीचे धँस जाता है और उसके दोनों ओर चट्टानों के भाग ऊपर उठ जाते हैं। यह धँसा हुआ भाग 'फटी घाटी' (रिफ्ट वेली अथवा ग्राबेन) कहलाता है। भारत में जबलपुर के निकट नर्वदा नदी की घाटी इसी प्रकार की है। जर्मनी में वोज और ब्लैक फारेस्ट पर्वतों के बीच, लगभग २० मील चौड़ी और लगभग २०० मील लम्बी, राइन नदी की घाटी एक फटी घाटी है। संसार की सबसे प्रसिद्ध फटी घाटियाँ पूर्वी अफ्रीका में हैं। प्रोफेसर विलिस लिखते हैं कि पूर्वी अफ्रीका में फटी घाटियों के दो मुख्य क्षेत्र हैं; (१) पूर्वी क्षेत्र और (२) पश्चिमी क्षेत्र। ये दोनों क्षेत्र एक दूसरे के सामने चन्द्राकार स्थित हैं और लगभग लगातार फटी घाटियाँ हैं। पूर्वी क्षेत्र लगभग ६५० मील लंबा और २० या ३० मील चौड़ा है। पश्चिमी क्षेत्र लगभग ८५० मील लंबा है। ये दोनों क्षेत्र टैन्गनईका झील के दक्षिण मिल जाते हैं। इन फटी घाटियों की पेंदी ऊँची-नीची है और उसमें ३० झीलें अलग-अलग भागों में भरी है। उसमें कई ज्वालामुखी भी स्थित हैं, जैसे मूफूम्बीरो ज्वालामुखी। यदि पश्चिमी एशिया में स्थित लाल सागर, गोर, अकबा, गैलीली सागर तथा मृत सागर की फटी घाटियों को अफ्रीका की घाटियों का क्रम समझ लिया जाय तो संसार का सबसे बड़ा फटी घाटियों का क्षेत्र यही है। उसमें फटी घाटियों की सम्मिलित लंबाई लगभग ४००० मील होगी। अफ्रीका की इन घाटियों के तट सीढ़ियों की भाँति हैं। चट्टानों के एक साथ न उठ कर अलग-अलग समयों में उठने के कारण ये सीढ़ियाँ बनी हैं।

अफ्रीका की फटी घाटियों के बारे में डाक्टर वेलैंड का मत है कि इनकी दरारें दबाव शक्ति (कम्प्रेशन) के कारण बनीं, न कि खिंचाव (टेन्शन) के कारण। उनके मतानुसार मध्य अफ्रीका का बड़ा भाग टर्शियरी काल में ऊपर उठना आरंभ हुआ। वहाँ आजकल की अलबर्ट झील के निकट दो ओर से प्रहार स्तल (थ्रस्ट प्लेन) थे जो एक दूसरे के आमने-सामने थे। इन प्रहार स्तलों के कारण उनके मध्य का भाग नीचे दब गया और फटी घाटी बन गया। इस फटी घाटी की तह में रोवनजोरी नामक पर्वत है, जो इस मत के अनुसार दोनों ओर से दबाव आने से ऊपर उठा। इसके प्रमाण में यह कहा जाता है कि विक्टोरिया झील के पश्चिम की ओर कुछ नदियाँ ऐसी हैं जो पहले पश्चिम को बहती थी; परन्तु अलबर्ट झील के पूर्व की ओर चट्टानें ऊपर उठ जाने से उन नदियों का बहाव अब विक्टोरिया झील में हो गया है।

जब दो अनुकूल दरारों के बीच चट्टानों का भाग ऊपर उठता है तो वह पर्वत बन जाता है। इस पहाड़ को 'होर्स्ट' पहाड़ कहते हैं। होर्स्ट पहाड़ और विच्छेदीय पर्वत

दोनों ही दरारों से उत्पन्न होते हैं; परन्तु होर्स्ट पहाड़ के दोनों ढाल खड़े ढाल होते हैं, और विच्छेदीय पर्वत में एक ढाल खड़ा और दूसरा ढाल मुलायम होता है। नीचे दिये हुए चित्र में फटी घाटी और होर्स्ट पहाड़ दिखाये गये हैं :—
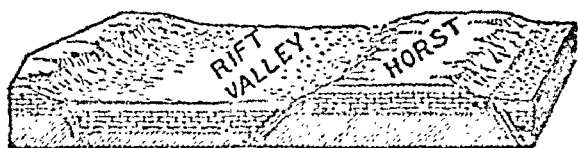
चित्र ९८—फटी घाटी

कभी-कभी दबाव के कारण भी धरातल में दरारें पड़ जाती हैं, ऐसी दरारों को 'प्रतिकूल दरार' (रिवर्स फाल्ट) कहते हैं। आगे दिये हुए चित्र में प्रतिकूल दरार दिखाई गई है। इस चित्र में तीरों की दिशा से ज्ञात होता है कि चट्टानों के दो भाग एक दूसरे पर चढ़ गये हैं। ऊपरी भाग के चढ़ने की सीमा चित्र में विन्दु रेखा द्वारा दिखाई गई है। इस चढ़ने के कारण धरातल का क्षेत्रफल पहले की अपेक्षा कम हो जाता है। इस प्रकार की दरारें संसार में बहुत कम देखी जाती हैं। इस दरार का प्रभाव खनिज खोदने में अधिक महत्व रखता है। एक दूसरे के ऊपर चढ़ जाने से एक ही चट्टान के दो भाग पृथ्वी के भीतर दो भिन्न गहराइयों में मिलते हैं। कभी-कभी कोयले की एक तह के दो भाग भिन्न-भिन्न गहराई पर पाये जाते हैं।
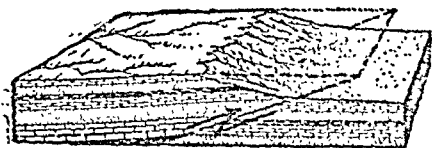
चित्र ९९—प्रतिकूल दरार

कभी-कभी दरार की दिशा पड़ी होती है। इस दरार की उत्पत्ति खिचाव के कारण होती है। इसमें चट्टानें एक दूसरे से दूर खिच जाती हैं। ऐसी दरार को 'खिची दरार' (टेयर फाल्ट) कहते हैं।

दरारें पड़ जाने से जो भाग ऊपर उठ जाते हैं उन पर घर्षण क्रिया का प्रभाव बड़े वेग से पड़ता है, और इसलिए थोड़े ही दिनों में उनके निम्न स्तल मिट्टी से भर जाते हैं और इससे दरारों की उत्पत्ति छिप जाती है। उठे हुए सीधे ढाल भी शीघ्र कट जाते हैं। बगल में दिये हुए चित्र में दरारी आकृति पर घर्षण का प्रभाव दिखाया गया है। ऊपरी भाग से नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी नीचे भाग में बिन्दुओं द्वारा दिखाई गई है।
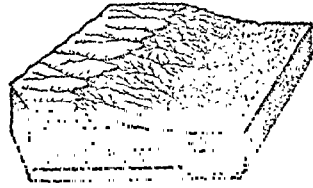
चित्र १००—घर्षण का प्रभाव

घर्षित पर्वत—घर्षण क्रिया का प्रभाव सबसे पहले मुलायम चट्टान पर होता है। सबसे पहले मुलायम चट्टान ही कटती और बहती है जिससे उसके क्षेत्र में नीचे मैदान बन जाते हैं।

चित्र १०१—घर्षित पर्वत

कठोर चट्टान कम कटने के कारण ऊँची बनी रहती है। नीचे सपाट मैदान में इनकी ऊँचाई अधिक प्रतीत होती है और इसलिए उनको पहाड़ कहा जाता है। प्राचीन चट्टानों के क्षेत्रों में ऐसे पहाड़ अधिक होते हैं। ऊपर दिये हुए चित्र १०१ में ऐसे पर्वत दिखाये गये हैं।

ज्वालामुखी पर्वत—ज्वालामुखी के भीतर से निकलने वाला पदार्थ उसके मुख के चारों ओर जमा होता रहता है जिससे उसकी ऊँचाई अधिक हो जाती है। ज्वालामुखी पर्वतों की ढाल प्रायः खड़ी होती है। परन्तु जहाँ पर ज्वालामुखी से निकलने वाला 'लावा' अधिक पतला होता है वहाँ पर पर्वतीय ढाल बहुत कम होता है। पतला लावा बहुत दूर तक फैल जाता है और इसलिए इस प्रकार के लावा से बने ज्वालामुखी पर्वत बड़े
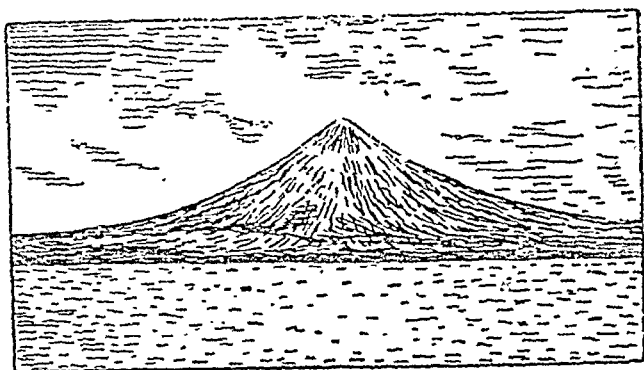
चित्र १०२—ज्वालामुखी पर्वत

क्षेत्र में फैले होते हैं। उनकी ऊँचाई बहुत कम होती है। ऊपर दिये हुए चित्र में ज्वालामुखी पर्वत दिखाया गया है।

मनुष्य पर पर्वतों का प्रभाव—मनुष्य पर पर्वतों का प्रभाव दो प्रकार का होता है; रक्षा और प्रतिबन्ध। पर्वतों से शत्रु के हमले से रक्षा होती है। इससे पर्वती क्षेत्रों में रहने वाले लोग अपनी और अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकते हैं। पहाड़ के रहने वाले लोगों में संसार की प्राचीन प्रथायें अब भी सुरक्षित हैं। कभी-कभी पराजित लोग पर्वतों में छिप कर शरण लेते हैं और सुअवसर पाकर अपने शत्रु पर फिर धावा बोलते हैं।

रक्षा करने में पर्वत इसलिए सहायक होते हैं कि वे प्रायः अगम्य होते हैं। उनकी ऊँचाइयाँ, उनको ढकने वाले वन तथा वहाँ पर वेग से टेढ़ी-मेढ़ी बहने वाली नदियाँ पर्वती क्षेत्र के भीतर आवागमन बहुत कठिन बना देती हैं। साधारणतया इन क्षेत्रों में इधर-उधर जाना बहुत कठिन है। इसीलिए वहाँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में रहने वाले लोग एक दूसरे से कटे रहते हैं। उनकी बोली, उनका भोजन तथा उनका रहन-सहन आपस में मिलता-जुलता नहीं है। एक दूसरे से मेल-मिलाप में कठिनाई होने से पहाड़ के लोग बाहरी लोगों पर देर में विश्वास करते हैं। ऐसी दशा में इन लोगों में व्यापार बहुत कम उन्नति करता है।

पर्वतों से मनुष्य की उन्नति पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगते हैं। वहाँ पर समतल नीची भूमि की बड़ी कमी होती है। इसलिए वहाँ खेती अधिक नहीं हो सकती। अधिक खेती न होने से अन्न कम उपजता है और इसलिए वहाँ पर थोड़ी ही जनसंख्या के लिए भोजन मिल सकता है। इसीलिए संसार में पहाड़ी क्षेत्र विरले बसे होते हैं; क्योंकि वहाँ मार्ग की कमी के कारण तथा अन्य कठिनाइयों के कारण व्यापार कम होता है और इसलिए साधारण दशा में, बाहर से भोजन नहीं आ सकता है। पहाड़ों में समतल भूमि की ही कमी नहीं है, वरन् वहाँ पर मिट्टी भी प्रायः अनउपजाऊ होती

है। पहाड़ों के कारण वहाँ पर मिट्टी में कंकड़-पत्थर बहुत होते हैं। ढाल अधिक खड़ा होने से और जलवर्षा अधिक होने से महीन मिट्टी का बहुत कुछ भाग बह जाता है। जाड़े में शीत अधिक पड़ती है जिससे भली प्रकार सुरक्षित रहने के लिए वहाँ के निर्धन लोगों के पास वस्त्र नहीं हैं। स्वच्छ जलवायु तथा स्वच्छ वायु होने के कारण, और अधिक परिश्रम करने की आदत होने के कारण पहाड़ के रहने वालों का स्वास्थ्य अच्छा होता है। इसीलिए वे अधिक बलवान होते हैं।

पहाड़ों में कहीं-कहीं मूल्यवान खनिज पदार्थ मिलते हैं। जैसे बोलीविया में टीन। ये खनिज अधिकतर पर्वतीकरण क्रिया (ओरोजेनी) से संबंधित हैं। यदि पहाड़ न बनते तो संसार में बहुत सी खनिजों का अभाव होता।

मैदान में रहने वालों के लिए पहाड़ों का दृश्य बहुत ही भिन्न होता है। इस दृश्य का आकर्षण मनुष्य पर बहुत पड़ता है। बहुत से लोग इस आकर्षण में बँधकर पहाड़ों का भ्रमण किया करते हैं।

आधुनिक सभ्यता की वैज्ञानिक उन्नति ने पर्वत को बहुत कुछ बदल दिया। पहाड़ों में मिलने वाली खनिज सम्पत्ति को निकालने के लिए आजकल दुर्गम से दुर्गम पर्वती क्षेत्र में सड़कें बनाई गई हैं जिन पर मोटरों की धड़कन और गर्जन बराबर सुनाई देती है। रेलों और वायुयानों ने भी पर्वत को नहीं छोड़ा है। फल यह हुआ कि पर्वतों की पृथकता व एकान्त अब नष्ट हो गये हैं। पर्वत भी अब संसार का एक आर्थिक अंग बनकर उसके उन्नति-सूत्र में बँध गया है।

पठार और मैदान

पठार और मैदान धरातल की आकृति की दृष्टि से प्रायः एक दूसरे के समान ही होते हैं। दोनों की तल में चढ़ाव-उतार (रिलीफ) में कम अन्तर होता है। बहुधा दोनों की चट्टानें भी कम मुड़ी होती हैं। इसीलिये पठार और मैदान का अध्ययन एक साथ ही होना उचित है।

मैदान में निम्नलिखित विशेषतायें पाई जाती हैं:—

(१) प्रायः एक ही प्रकार की चट्टानों का होना। ये चट्टानें अधिकतर नदियों की लाई हुई कंकड़-बालू (असेडीमेंट) होती हैं जो कम आयु वाली होती हैं। कम आयु होने के कारण वे अधिक मुलायम होती हैं, और इसलिए शीघ्र कट जाती हैं और नीची हो जाती हैं। केवल जहाँ-तहाँ वर्तन क्रिया के प्रभाव में कमी आने के कारण ये चट्टानें कम कटती हैं, और इसलिये वहाँ कुछ ऊँचाई बनी रहती है। वास्तव में मैदानों के सभी भागों का एक ही अन्तिम और समान भौगर्भिक इतिहास होता है।

(२) तल में कम ढाल होना मैदान की एक मुख्य विशेषता है। मैदान के तल का ढाल इतना कम होता है कि देखने से ऊँचाई-निचाई का ज्ञान नहीं होता है। नदियों के समीप ही ढाल की अधिकता दिखाई देती है। कम ढाल का प्रमाण इसी बात से मिलता

हैं कि कलकत्ता से दिल्ली तक गंगा के मैदान में होकर जाने से कहीं भी विशेष ऊँचाई-नीचाई नहीं प्रतीत होती है, यद्यपि इस १००० मील की दूरी में समुद्रतल से लगभग ५०० फीट की ऊँचाई हो जाती है।

(३) अति ऊँचे और अति नीचे स्थानों में तुलनात्मक अन्तर कम होता है। यह अन्तर ट्रिवार्था के अनुसार अधिक से अधिक ५०० फीट होता है। इसीलिए मैदानों में नीचे धरातली आकार (लो रिलीफ) ही होते हैं।

धरातली आकार के अनुसार ट्रिवार्था ने मैदानों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा है :—

(१) समतल मैदान (फ्लैट) जिसमें उच्चतम और न्यूनतम स्थानों का अन्तर ५० फीट से अधिक नहीं होता है।

(२) असमतल (अनडुलेटिंग) मैदान जिसमें उच्चतम और न्यूनतम स्थानों का अन्तर ५० से १५० फीट तक होता है और जिसमें समान चढ़ाव-उतार होता है।

(३) टीलेदार (रोलिंग) मैदान जिसमें उच्चतम और न्यूनतम स्थानों का अन्तर १५० फीट से ३०० फीट तक होता है।

(४) पहाड़ी मैदान (रफ डिसेक्टेड) फटा-कटा मैदान है जिसमें उच्चतम और न्यूनतम स्थानों का अन्तर ३०० से ५०० फीट होता है।

मैदान पुराने और नवीन दोनों ही प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त, मैदान भराव (एग्रेडेशन) और कटाव (डिग्रेडेशन) दोनों ही क्रियाओं से बनते हैं। भराव में गर्तों म मिट्टी और मलवा भर जाने से मैदान बनते हैं, और कटाव में ऊँचाइयों के कट जाने से मैदान बनते हैं।

मैदानों के निम्नलिखित विभाजन भी किये जाते हैं :—

(१) समतलप्राय (पेनोप्लेन) इनको कटाव के मैदान (डिस्ट्रक्शनल प्लेन) भी कहते हैं।

(२) भराव के मैदान (डिपोजीशनल प्लेन)।

(३) तटीय मैदान (इनको कान्सट्रक्शनल प्लेन भी कहते हैं)।

समतलप्राय (पेनी प्लेन)

जब पर्वतों में घर्षीकरण अधिक मात्रा में हो जाता है और वहाँ पर बहने वाली नदियाँ अपने निम्नतल (बेस लेविल) पर पहुँच जाती हैं, तब वहाँ कटाव का मैदान बन जाता है। इस प्रकार बने हुए कटाव के मैदान को 'समतलप्राय' कहते हैं। समतल प्राय वास्तव में घर्षण द्वारा निम्नित पर्वत हैं। ऐसे मैदान में निम्नित दशा में भी जहाँ-तहाँ कुछ पहाड़ियाँ टीलों के रूप में बनी रह सकती हैं; क्योंकि घर्षण-क्रिया का प्रभाव उन पर किसी कारण से कम हुआ है। परन्तु ऐसे मैदान का अधिकतर भाग नदियों द्वारा बनाये हुए कछार तथा उनके धीमे ढाल वाले किनारों से ही बना होता है। जब इस मैदान में इतना

अधिक कटाव हो जाता है कि धरातल की ऊँचाई लगभग समुद्रतल तक उतर आती है, तब उस मैदान को निम्नतल (वेजलेविल) कहते हैं। इस दशा में नदियों की कटाव शक्ति समाप्त हो जाती है और उनका जल बहुत धीरे-धीरे बहने लगता है। निम्नतल प्राप्त करने के लिए नदियों को ऊँची धरातल को काटकर नीची धरातल को भरना पड़ता है, जिससे उनका जल प्रायः समान रूप से बहे।

चढ़ाव-उतार वाली धरातल, जिसमें जहाँ-तहाँ नीची पहाड़ियाँ और टीले स्थित हों, समतलप्राय की विशेषता है। इन टीलों को 'मोनडनाक' भी कहते हैं। संसार में आजकल जो समतलप्राय देखे जाते हैं वे अपनी आदर्श दशा में नहीं हैं। उनमें बहने वाली नदियों की कटाव शक्ति अब भी अधिक है, जो कि आदर्श समतलप्राय में न होना चाहिये। यह विषमता धरातल के पुनरुत्थान के कारण है। संसार में समतलप्राय के अनेक उदाहरण हैं; जैसे रूस के मध्य स्थित मैदान, पूर्वी इंगलैण्ड के मैदान, पेरिस बेसिन, अमेजन बेसिन का दक्षिणी भाग तथा मिसीसिपी बेसिन का ऊपरी भाग। भारत में दिल्ली के निकट स्थित अरावली का क्षेत्र समतलप्राय का उदाहरण है। कुतुबमीनार पर चढ़ने पर इस मैदान का विशाल दृश्य मिलता है। राँची के पठार भी इसके उदाहरण हैं।

समतलप्राय का आकार वहाँ की चट्टानों पर बहुत कुछ निर्भर है। यदि पूर्ण मैदान में एक ही प्रकार की चट्टान है, तब इस मैदान में धरातली आकार एक समान होंगे; क्योंकि ऐसी दशा में नदी की कटाव-शक्ति का सभी स्थानों में एक सा प्रभाव होगा। परन्तु यदि कठोर और कोमल चट्टानों की पेटियाँ एक-दूसरे के निकट हुईं, और इसलिए नदी की कटाव शक्ति का असमान प्रभाव पड़ा तब इस मैदान के धरातली आकार असमान होंगे। कोमल चट्टानें शीघ्र घिस जायँगी, परन्तु कठोर चट्टानें धीरे-धीरे घिसेंगी और इसलिये पहाड़ियों की एक पेटी उपस्थित हो जायगी। इस पेटी के कुछ भागों पर कटाव अधिक होने से उसके कई भाग हो जायँगे। जहाँ-कहीं इस पहाड़ी पेटी का ढाल मैदान के भीतरी भाग की ओर खड़ा और बाहर की ओर मन्द होता है, वहाँ उस पहाड़ी को 'क्वुइस्टा'[१] कहते हैं; और ऐसे मैदान को 'क्वइस्टा मैदान' कहते हैं। इस प्रकार के मैदान का प्रसिद्ध उदाहरण पेरिस बेसिन का मैदान है। इस मैदान में खड़िया (चाक) की कड़ी चट्टान की अनेक पहाड़ियाँ हैं। इनका ढाल मैदान की ओर मन्द है, और दूसरी ओर खड़ा। मैदान का मध्य भाग और पश्चिमी भाग समतल है, क्योंकि पहाड़ियों से आया मलवा (डेबरी) वहाँ

---

[१]डेविस ने क्वुइस्टा शब्द मक्सिको में प्रचलित स्पैनिश भाषा से लिया। इसका अर्थ ऐसी आकृति से है जिसका एक ढाल खड़ा हो और दूसरा मन्द।

जमा हो गया है। पूर्व और दक्षिण की ओर मैदान के किनारे पर पहाड़ियों की संख्या अधिक है। परन्तु पेरिस के निकट और पश्चिम में इन पहाड़ियों का अन्त हो जाता है। इन पहाड़ियों की चोटियाँ चपटी हैं। चित्र १०३ को देखने से यह ज्ञात होता है कि इन पहाड़ियों में होकर कई नदियाँ बहती हैं जिनकी घाटियाँ सकरी और गहरी हैं। परन्तु ये ही अथवा अन्य नदियाँ पश्चिमी भाग में उथली घाटियों में बहती हैं।
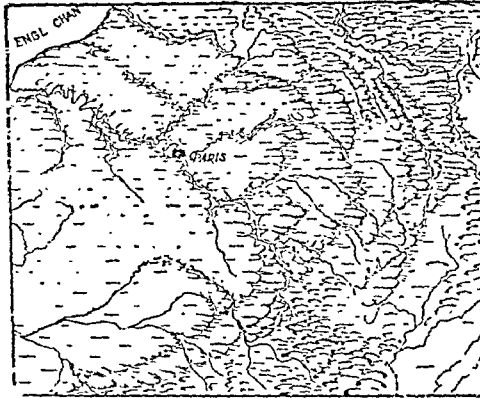
चित्र १०३—पेरिस बेसिन

चूने का मैदान (कार्स्ट अथवा लाइमस्टोन प्लेन) यूगोस्लाविया में चूना की चट्टानों का विस्तार बहुत बड़ा है। इसलिए वहाँ पर चूने की चट्टान के अनेक आकार अपनी विविध दशाओं में पाये जाते हैं। वहाँ की भाषा में चूने की चट्टान को कार्स्ट कहते हैं और चूने से बने मैदान को कार्स्ट का मैदान कहते हैं। चूने की चट्टान की मुख्य विशेषता यह है कि वह प्रायः पूर्णतया घुलनशील (सॉल्यूबुल) पदार्थ से बनी है।

कार्स्ट मैदानों को एक प्रकार का समतलप्राय (पेनीप्लेन) ही मानना चाहिए; क्योंकि इनमें ऐसे मैदान की सभी विशेषताएँ मिलती हैं जैसे समतलभूमि, नदियों के नीचे तथा मन्द ढाल वाले किनारे और चूने की चट्टान के अवशेषांश टीले। कार्स्ट मैदान जमीन के नीचे-नीचे बहने वाले जल से बनते हैं। यहाँ पर धरातल के ऊपर बहुत कम जल दिखाई देता है। जहाँ किसी कार्स्ट मैदान के निकट में कोई बड़ी नदी होती है अथवा चूने के पत्थर के नीचे का पानी किसी झरने के रूप में ऊपर आ जाता है वहाँ घुलनशील चट्टानें नष्ट हो जाती हैं और अभेद्य शिलायें वायुमंडल के संसर्ग में आ जाती हैं। ऐसे प्रदेशों को छोड़कर अन्य स्थलों पर कार्स्ट प्रदेशों में जलका प्रवाह धरातल के ऊपर नहीं पाया जाता है।

कार्स्ट मैदानों की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं:—

गर्त (सिन्क होल), कंदरायें (कैवर्न), प्राकृतिक पुल (नेचुरल ब्रिज) जो कि कन्दराओं की छतों के गिरने से बनते हैं। कार्स्ट मैदानों के प्रमुख उदाहरण यूगोस्लाविया में एड्रियाटिक समुद्र के पास, दक्षिण फ्रांस, फ्लोरिडा तथा उत्तरी अमेरिका में मेक्सिको और क्यूबा में पाये जाते हैं। भारत में चित्रकूट के निकट, रामगढ़ के निकट तथा अल्मोड़ा में बेरीनाग के निकट चूने के मैदान पाये जाते हैं।

कार्स्ट मैदान बहुत से चूने के पत्थर वाले प्रदेशों में पाये जाते हैं; क्योंकि इन प्रदेशों में चट्टानें एक भिन्न प्रकार से घिसती हैं। इस भिन्नता का प्रधान कारण यह है कि कैलशियम कार्बोनेट पानी में घुल जाता है। ऐसी चट्टानों में बहुत ही मजबूत जोड़ होते हैं और घुलने की क्रिया इन्हीं जोड़ों के कारण संभव हो पाती है। जहाँ कार्स्ट मैदान के सभी लक्षण उपलब्ध हैं वहाँ पानी पृथ्वी के नीचे ही बहता है।

सिविजिक के निबन्ध के प्रकाशित होने के पूर्व पानी के पृथ्वी के नीचे प्रवाहित होने के विषय में तो परस्पर विरोधी मत थे। एक ग्रुन्ड का मत और दूसरा काटजर का मत। काटजर के अनुसार पानी जमीन के नीचे अनवरत रूप से बह रहा है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ उसका कारण 'साइफन' के समान गढ़ों का होना बताया जाता है जो कि पानी को ऊपर ठेल देता है। स्थायी जल को केवल एक आकस्मिक और क्षणिक क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। ग्रुन्ड के मतानुसार चूने के पत्थर में एक 'परिपूर्ण स्तर' (सैचुरेशन लेविल) है, जिसके नीचे चट्टान में पूर्ण रूप से जल भरा रहता है। इस जल में बहाव केवल उस समय होता है जब वर्षा का जल ऊपर से नीचे पहुँचता है और परिपूर्ण स्तर में लीन हो जाता है। किन्तु उक्त दोनों ही मतों के आधार पर हम कार्स्ट मैदानों में होने वाली कुछ बातों को नहीं समझा सकते, यथा जल-स्रोतों के स्थान और जल-स्तर में अन्तर और वहाँ की झीलों में पहले जल का कम होना और अन्त में बिलकुल सूख जाना।

सिविजिक के मतानुसार एक पूर्ण कार्स्ट-व्यवस्था में जल-प्रवाह संबंधी तीन प्रकार के क्षेत्र पाये जाते हैं:—

(१) धरातल के कुछ नीचे एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सूखे तालाब और जल मार्ग हैं जिनमें झंझावातों के समय होने वाली वर्षा का जल बहता है।

(२) दूसरा भाग कभी सूखा और कभी जल से भरा रहता है। इसकी कन्दरायें थोड़े समय के लिए भले ही पानी से भर जायें किन्तु सदैव के लिए नहीं।

(३) सबसे नीचे अभेद्य पर्त पर सदैव बहनेवाली जल-धारायें होती हैं। ये जल-धारायें जल से पूर्ण रहती हैं।

भूगर्भित तत्वों की भिन्नता तथा अन्य कारणों से उक्त प्रणाली पूर्ण रूप से कहीं नहीं पाई जाती है। सामान्यतः नवीन दशा में कार्स्ट प्रदेशों में पृथ्वी के नीचे पानी के प्रवाह

मार्ग पूर्ण प्रकार से स्थापित न होने से वर्षा ऋतु का कुछ पानी ऊपर धरातल पर ही रह जाता है। यह पानी शिला की दरारों के अन्दर प्रवेश करने के उपरान्त भी बच रहता है। ऐसी अवस्था में कार्स्ट के मैदान में धरातल के ऊपर स्थायी झीलें मिला करती हैं। दूसरी अवस्था में पृथ्वी के नीचे जल प्रवाह की व्यवस्था इतनी पूर्ण होती है कि वह साधारण वर्षा के सारे जल को सोख लेती है। परन्तु जब असाधारण जलवर्षा होती है तब कुछ जल धरातल के ऊपर झीलों में भरा रह जाता है। इसलिए इस दूसरी अवस्था में अनस्थायी झीलें धरातल के ऊपर पायी जाती हैं।

पूर्ण रूप से विकसित कार्स्ट प्रणाली में जल तुरन्त ही पृथ्वी में प्रवेश कर जाता है। परिणामतः धरातल के ऊपर झीलें नहीं मिलती हैं। इस तीसरी अवस्था में ऐसे ही गहरे गर्तों में ऊपर जल दिखाई देता है जो परिपूर्ण स्तर (सैचुरेशन लेविल) के नीचे तक पहुँचे होते हैं। पृथ्वी के नीचे चूने के स्थल रूप जल मार्गों के विकास के साथ-साथ धरातल पर स्थल रूपों का विकास होता है। इस विकाश-चक्र में सिविजिक के अनुसार तीन अवस्थायें होती हैं, (१) युवावस्था, (२) प्रौढ़ावस्था और (३) वृद्धावस्था। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कार्स्ट मैदान की विशेषतायें तभी उत्पन्न होती हैं जब चूने की चट्टानें पूर्णतया धरातल के ऊपर आ जाती हैं। इसके पूर्व यह चट्टान बहुधा बालू के पत्थर के नीचे दबी होती है। जब साधारण घर्षण क्रिया के कारण ऊपरी बालू के पत्थर की तह बह जाती है, तभी चूने की चट्टानों पर घर्षण क्रिया आरंभ होती है। जब तक यह चट्टान बालू के पत्थर से अथवा वनस्पति से ढकी होने के कारण घर्षण क्रिया से सुरक्षित है तब तक चूने के धरातली आकार नहीं बनते हैं। आरंभिक दशा में कार्स्ट क्षेत्रों में धरातल पर जल के प्रवाह मार्गों के होने पर सिविजिक ने ही पहले-पहल प्रकाश डाला था। चूने के मैदान की युवावस्था में धीरे-धीरे धरातल के ऊपर का जल-प्रवाह भीतर पहुँच जाता है। इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर बहनेवाली नदियाँ लुप्त हो जाती हैं। कुछ दशाओं में इन नदियों के लुप्त होने में अनेक वर्ष लग जाते हैं। युवावस्था में जहाँ कहीं भी चूने का पत्थर वर्षा के संसर्ग में आता है, वहाँ पृथ्वी पर अनेक नालियाँ शिलाओं के घुलने से बन जाती हैं। इन नालियों के अनेक नाम हैं; जैसे 'रासेल', 'कारेन', अथवा 'लापीज'। जहाँ कहीं चूने की चट्टान में दरार, जोड़ या स्तर में परिवर्तन होने से कमजोरी आ जाती है वहाँ जल आसानी से चट्टान के भीतर प्रवेश कर जाता है। ऐसे स्थानों पर संकुचित दरारें बन जाती हैं। इन्हें 'बोगाज' कहते हैं।

चूने की चट्टानों के आकार इस प्रकार आरंभ होते हैं। शनैः-शनैः ये नालियाँ और दरारें और गहरी होती जाती हैं, और भूमि के नीचे जल-मार्ग बनता जाता है। कभी-कभी किसी नदी के मार्ग में यदि दरार उपस्थित हो गई तो नदी उसमें लुप्त हो जाती है; और

उसकी घाटी सूख जाती है। ऐसी घाटियों को जिनमें नदियाँ इस प्रकार लुप्त हो जाती हैं, "अन्धी घाटियाँ" (ब्लाइन्ड वेली) कहते हैं। जिन दरारें में नदियाँ लुप्त होती हैं उनको डोलीन या सिंकहोल कहते हैं। वे दरारें दो प्रकार की होती हैं; कीपाकार (फनेल) और बेलनाकार (सिलिन्डर)।

कालान्तर में निकटवर्ती कीपाकार छिद्रों को मिलाने वाले स्थल टूट जाते हैं और महान खंड वन जाते हैं। इसलिये युवावस्था में कार्स्ट मैदान में अनेक गढ़े दिखाई देते हैं। परन्तु इस अवस्था में अभी तक गुफायें नहीं बनी हैं। युवावस्था में जल-प्रवाह का प्राय: एक ही क्षेत्र मिलता है। प्रौढ़ावस्था में धरातल के ऊपर के जलप्रवाह की अपेक्षा उसके भीतर का जल-प्रवाह अधिक महत्वशाली वन जाता है। इस अवस्था में भीतरी जलमार्ग पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं और जल प्रवाह के तीन क्षेत्र पूर्ण रूप से कार्य करते हैं। इस अवस्था में भीतरी छोटी-छोटी दरारें चौड़ी होकर बड़े-बड़े गर्त बन जाते हैं। इनको 'युवाल्वा' कहते हैं। इस अवस्था में गुफायें भी बन जाती हैं। चूने की चट्टान के घुल जाने से ये गुफायें बनती हैं। इन गुफाओं में कहीं-कहीं ऊपर से टपकते जल के भाप बन जाने से घुले हुए चूने से आकाशी स्तंभ (स्टैलैकटाइट) और पाताल स्तंभ (स्टैलगमाइट) बन जाते हैं।

जैसे-जैसे घुलनक्रिया बढ़ती चलती है, वैसे ही वैसे धरातल पर और पृथ्वी के अन्दर परिवर्तन होता चलता है। बड़े-बड़े छिद्रों को अलग करने वाला चूने का प्रदेश घुल जाता है जिससे बड़े-बड़े समतल मैदान बन जाते हैं। इन समतल गर्तो को 'पोलिये' कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि ये 'पोलिये' प्राचीन फटो घाटियाँ (रिफ्ट या ग्रावेन) हैं जिनमें चूने की चट्टान के ऊपर प्राचीन बालू की चट्टान अब भी है। इन समतल मैदानों अर्थात् 'पोलिये' के बन जाने से नदियों का बहाव वहाँ दिखाई देने लगता है। वास्तव में इस अवस्था में चूने की चट्टान कुछ क्षेत्रों में नष्ट हो जाने से नदी थोड़ी दूर बहती हुई दिखाई देती है, और फिर किसी गुफा में लुप्त हो जाती है। भारत में मध्य प्रदेश की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी, पचमढ़ी में 'वाटर्समीट' स्थान पर इसका प्रत्यक्ष दृश्य मिलता है। प्रौढ़ावस्था में भीतरी जल-प्रवाह इतना विकसित हो जाता है कि उससे वर्षा का सारा जल नीचे ही नीचे बह जाता है। कहीं-कहीं लगातार गुफाओं की छतें गिर जाने से नदियाँ ऊपर दिखाई देने वाली सकरी घाटियों में बहती हैं। धरातल के ऊपर कहीं-कहीं ऊँची भूमि के टुकड़े शेष रह जाते हैं। इन टुकड़ों में अनेक छेद ही छेद दिखाई देते हैं। प्राचीन छेदों के चारों ओर काँप मिट्टी के सीढ़ीदार मैदान भी मिलते हैं। ये मैदान प्राचीन झीलों में जमी हुई मिट्टी के अवशेष हैं।

जिस क्षण चूने की चट्टान के नीचे वाली चट्टान की कोई भी पर्त खुल जाती है उसी समय ऐसा मान लेना चाहिये कि चूने के मैदान की प्रौढ़ावस्था समाप्त हो गई। उत्तर प्रौढ़ावस्था में अभेद्य पर्त पर से चूने का पत्थर हट जाता है जिससे नदियों का बहाव दिखाई देने लगता है।

समतल मैदान की वृद्धि और धीरे-धीरे चूने की चट्टान का अन्त ही वृद्धावस्था की विशेषतायें हैं। इस अवस्था में धरातल पर कहीं-कहीं चूने की चट्टान के टीले बने रहते हैं। इन टीलों को 'हम' कहते हैं।

नीचे दिये हुए चित्र में ऊपर वर्णित आकारों का विवरण है।
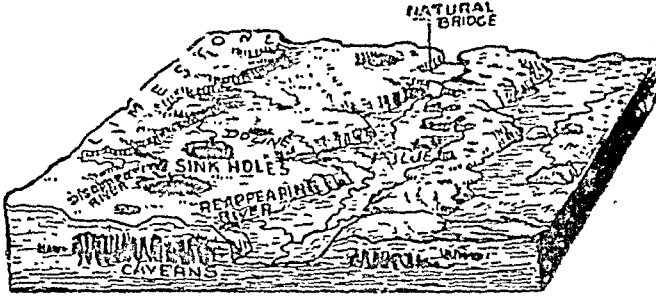
चित्र १०४—चूने का मैदान

भराव के मैदान (डिपोजीशनल प्लेन)—घर्षण शक्तियों द्वारा घिसा हुआ पदार्थ ऊँचे प्रदेशों से कट कर निम्न स्थलों में एकत्र होता रहता है। इस संचय की क्रिया से मैदान बनते हैं जिन्हें भराव के मैदान कहते हैं। अधिकांश भराव के मैदान नदियों से संबद्ध होते हैं। इनका निर्माण नदियों से लाई हुई मिट्टी से होता है और इन्हें कछारी मैदान (एल्यूवियल प्लेन) कहते हैं। फिन्च के अनुसार, इन मैदानों को तीन भागों में बाँटा जाता है; (१) डेल्टा, (२) प्रवाह मैदान (फ्लड प्लेन) और (३) पुरानी मिट्टी से बने मैदान। ये मैदान मूलतः नदियों की घाटियों से संबद्ध हैं; अतएव इन पर हम निम्नांकित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विचार कर सकते हैं:—

(१) ऊपरी घाटी के मैदान।

(२) बीच की घाटी के मैदान।

(३) निचली घाटी के मैदान।

(अ) जब नदी पहाड़ से बाहर निकलती है तो इसका मार्ग चौड़ा हो जाता है अर्थात् घाटी विस्तृत हो जाती है, पानी के वेग में कमी होने के कारण उसमें मिली हुई मिट्टी निकटवर्ती भूमि में फैल जाती है। जो पानी पहले एक संकुचित पहाड़ी घाटी में सीमित था वह पहाड़ से बाहर आने पर विस्तृत भूखंड में फैल जाता है, जिसके जल में निहित मिट्टी भी फैल जाती है। इस अवस्था में मैदान बालू तथा कंकड़ियों से भर जाता है। बाढ़ के समय बहुत से बड़े-बड़े शिला-खंड (बोल्डर) भी धरातल पर फैल जाते हैं। भारत में ऐसे मैदानों को 'भावर' मैदान कहते हैं।

(२) जैसे-जैसे नदी नीचे की ओर बढ़ती है वैसे-वैसे 'भावर' के मोटे कणों से वह अपने लिए विस्तृत मैदान बनाती जाती है। धीरे-धीरे ये मोटे पदार्थ घिसते-घिसते सूक्ष्म बन जाते हैं। इस सूक्ष्म पदार्थ का कुछ अंश जो भावर मैदान में नहीं जम पाता वह बीच रास्ते में ही रुक जाता है, क्योंकि वहाँ नदी का वेग कम हो जाता है। नदी में अनेक छोटे-छोटे नाले मिल जाते हैं जो कि बीच के मैदान को बनाने के निमित्त अपने साथ पदार्थ लाते हैं। मध्य भाग में आने के पहले नदी में अनेक नाले मिल जाते है। इन नालों द्वारा निर्मित मैदान प्रारंभिक नदी के मदान से मिल जाता ह। परिणामत: मैदान अधिक लम्बा हो जाता है।

अतएव बीच के मैदान की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि उसमें बहुत से दोआब नामक मैदान होते हैं। ये दोआब नदियों के तटों के जुड़ने से बने हैं। अतएव इनका धरातल चढ़ाव-उतार वाला होता है।

बीच के मैदान की एक प्रमुख विशेषता नदियों के सीढ़ीदार तटों (टेरेस) में है। ये तट वास्तव में छोटे-छोटे कछारी मैदान हैं जो नदी से कुछ ऊँचाई पर स्थित हैं। इन कछारी सीढ़ियों को 'वेन्च' भी कहते हैं। ये कछारी सीढ़ियाँ वास्तव में उसी नदी के प्राचीन कछार के भग्नावशेष मात्र हैं। कटते-कटते नदी की घाटी पहले से अधिक गहरी हो जाती है और इसलिये प्राचीन कछार जलधारा से काफी ऊँचाई पर हो जाता है। अधिक कटाव से ही नदी की घाटी गहरी होती है। इस अधिक कटाव का कारण धरातल का पुनरुत्थान होना है

चित्र १०५—सीढ़ीदार तट

जिससे नदी में नई शक्ति हो जाती है, रिजुवेनेशन। संलग्न चित्रों में नदी के सीढ़ीदार तटों के बनने की क्रिया दिखाई है :—

चित्र में १ से ५ तक प्राचीन कछार विन्दुओं द्वारा दिखाया गया है। ज्यों-ज्यों नदी का पथ गहरा होता जाता है, त्यों-त्यों कछार की उससे ऊँचाई बढ़ती जाती है। पथ गहरा होने में नदी अपनी दोनों ओर के प्राचीन कछार को जब तक संभव होता है, काटती भी जाती है।
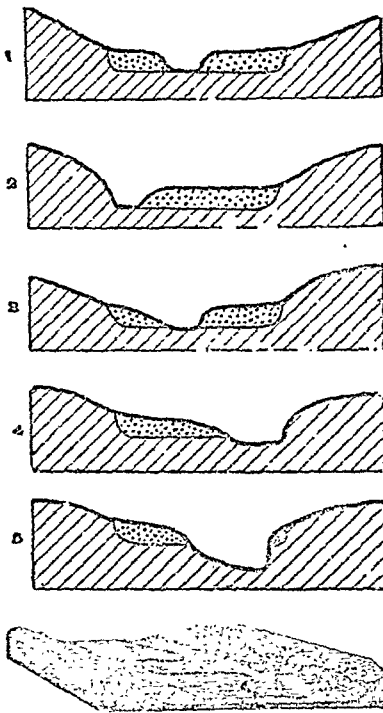
(३) नदी का अन्तिम मैदान बहुत ही चिरस्थायी होता है; क्योंकि यहीं पर नदी का अवसान होता है; इस भाग में घर्षण शक्तियों का कार्य रुक जाता है। नदी की गति धीमी पड़ जाती है और इस भाग की घाटी में पहले का लाया हुआ सारा पदार्थ जमा हो जाता है। मिट्टी पड़ने के कारण इस अवस्था में बना हुआ मैदान समतल होता जाता है। नदी के तट ढलुवाँ और नीचे होते हैं, अतएव इस मैदान में बाढ़ का पानी चारों ओर फैल जाता है। बाढ़ के पानी से लाई हुई मिट्टी मैदान को बनाने वाले मलवा की गहराई और भी अधिक कर देती है।

किसी भी नदी की निचली घाटी के विषय में विशेष बात यह है कि वहाँ नदी में काटने की शक्ति नहीं रहती है। केवल नदी के तट ही कटते रहते हैं। ये तट जल की घर्षण शक्ति के कारण नहीं कटते, वरन् पानी की अधिकता के कारण टूट जाते हैं। काटने की शक्ति की कमी के कारण नदी अपने इस भाग में सदैव ही प्रत्येक प्रकार के गत्यवरोध को बचाती है; किन्तु जब ऐसे अवरोध आ जाते हैं तो वह अपना मार्ग ही बदल देती है। इसी कारण नदी के निचले मैदान में उसका बहाव टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है। इस टेढ़े-मेढ़े बहाव को 'प्रवाह मीड़' (मियान्डर) कहते हैं। इस भाग में जल के बहाव में केवल इस कारण ही कमी नहीं हो जाती है कि यहाँ ढाल बहुत कम होता है, वरन्

इसलिए भी कि वहाँ पहुँचते-पहुँचते जल में मलवे का भार बहुत ही अधिक हो जाता है।

उसी कारण से (अर्थात् गत्यवरोधों को बचाने की प्रवृत्ति) जिसके कारण प्रवाह मोड़ें बनती हैं, या नष्ट भी होती हैं।

हम ऊपर कह आये हैं कि प्रवाह मोड़ों में धीरे-धीरे बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। यह बहाव इतना अधिक हो जाता है कि प्रवाह मोड़ के दोनों सिरे एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं, और अन्त में मिल जाते हैं। उनके मिल जाने पर नदी का बहाव फिर सीधा हो जाता है, और प्रवाह मोड़ एक ओर छूट जाती है। ऐसी प्रवाह मोड़ को 'मृत-झील' (मोर्टलेक) या मोड़दार झील (आक्सबोलेक) कहते हैं।

प्रवाह मोड़ में नदी का जल भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न वेगों से बहता है। मोड़ के उन्नतोदर (कानवेक्स) भाग में कम और नतोतर भाग (कान्केव) में अधिक वेग रहता है। आगे दिये हुए चित्रों से यह ज्ञात होता है कि मोड़ के उन्नतोदर भाग में जल का बहाव घाटी के सामान्य ढाल के विरुद्ध होता है। इसलिए आकर्षण शक्ति के विपरीत होने से इस भाग में जल का वेग स्वाभाविक ही कम होता है। मोड़ के नतोदर भाग में जल के वेग को अधिक करने में न केवल ढाल ही सहायक है, वरन् प्रारंभिक बहाव (इनर्शिया) उस दिशा में होने से भी सहायता मिलती है। प्रकृति का यह नियम है कि सभी संचालनों में अपनी आरंभिक दिशा में बने रहने की प्रवृत्ति रहती है। नदी के बहाव की प्रारंभिक दिशा उसके मुख की ओर होती है। इसीलिए भूमि का ढाल और प्रारंभिक दिशा दोनों ही अधिक वेग में सहायक होते हैं।

प्रवाह मोड़ के नतोदर भाग का ढाल सीधा होता है, और उसके उन्नतोदर भाग का ढाल मन्द होता है। इस मन्द ढाल का कारण यह है कि इस भाग में बहाव का वेग होने से मलवा जमा होता रहता है जिससे ढाल मन्द हो जाता है। संलग्न चित्र में नतोदर तथा उन्नतोदर भाग दिखाये गये हैं। उनमें भूमि के ढाल के विपरीत बहाव को तीरों द्वारा दिखाया गया है, चित्र में नतोदर भाग को मोटी रेखा से और उन्नतोदर भाग को महीन रेखा से दिखाया गया है।

चित्र १०६—नदी की मोड़

प्रवाह-मोड़ (मियान्डर)

जिस समय नदी अपना जीवन एक नाले के रूप में आरंभ करती है, उसका बहाव सीधा नहीं होता है। धरातल का प्राकृतिक मोड़ों के साथ-साथ उसका बहाव भी टेढ़ा-मेढ़ा होता है। अपनी घाटी बनाते समय धरातल को नीचा करने में नदी को कड़ी अथवा मुलायम चट्टान मिला करती हैं। टेढ़े-मेढ़े बहाव में जहाँ-कहीं मुलायम चट्टान होती है वहाँ नदी उसे
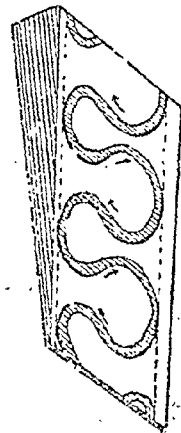
शीघ्र काट लेती है और इसलिये उस स्थान पर नदी का पथ चौड़ा हो जाता है, यद्यपि नदी उस समय अपनी घाटी गहरी करने में ही व्यस्त होती है। जहाँ कहीं कड़ी चट्टान का कुछ भाग नदी में एक ओर से प्रविष्ट रहता है, नदी तट को इन कड़ी चट्टानों के उभरे हुए भागों के कारण नदी का वहाव टेढ़ा-मेढ़ा रहता है और इस प्रकार नदी के जीवन के प्रथम प्रवाह-मोड़ (मियान्डर) वनते हैं। तट के जो भाग नदी में प्रवेश किये रहते हैं उनको 'उभार' (स्पर) कहते हैं। नदी के ये दोनों तटों के ये उभार इस प्रकार स्थित होते हैं कि यदि दोनों तटों को जोड़ दिया जाय तो उनके उभार और दवाव एक दूसरे में गुथ जायँगे। ऐसे गुथने वाले उभारों को 'अन्तर्स्पर्शी उभार' (इन्टरलाकिंग स्पर) कहते हैं। कहीं-कहीं ऐसे उभार नदी के जल को ऊपर से ढाँके रहते हैं।

जब नदी की घाटी के गहरे होने की प्रवृत्ति कम हो जाती है, उस समय नदी की घर्षण शक्ति इन उभारों को अपना लक्ष्य वनाती है। नदी के वहाव में टेढ़ापन होने के कारण वहाव के सामने की ओर स्थित उभारों पर जल का भार अधिक पड़ता है। जल का भार नदी के निचले भाग में स्थित उभारों पर भी अधिक पड़ता है। जो उभार वहाव के सामने नहीं है, उस पर जल का भार कम पड़ता है। धीरे-धीरे ये उभार जल द्वारा नीचे से कटकर टूट जाते हैं।

जिस समय उभारों पर जल अपना कार्य कर रहा था, उस समय अन्य घर्षण शक्तियाँ भी वहाँ सक्रिय थीं। इसलिये उभारों के ढाल भी मन्द और नीचे हो गये थे। वाढ़ के समय नदी का जल उभारों के इन नीचे ढालों पर भर जाता है। इससे उभार के निकले हुए भाग सरलता से शीघ्र कट जाते हैं। इस क्रिया में नदी का मलवा भी उभारों के ऊपर फैल जाता है, और थोड़े दिनों में नदी की घाटी चौड़ी और सपाट हो जाती है। घाटी की चौड़ाई इतनी अधिक हो जाती है कि केवल वाढ़ के समय ही पूरी घाटी में जल भरता है, साधारण दशा में नहीं। घाटी के किनारे-किनारे वाढ़ के जल द्वारा लाई हुई तमाम मिट्टी जम जाती है जो नदी के वहाव के वाहर रहती है और इसलिए कटती नहीं है। इस मिट्टी से नदी की घाटी में वाढ़ के मैदान (फ्लड प्लेन) वन जाते हैं।

घाटी की चौड़ाई वढ़ जाने पर नदी में प्रवाह मोड़ें (मियान्डर)* वनने की प्रवृत्ति फिर होती है। इस अवस्था में नदी के जल में वहुत मिट्टी मिली होती है, क्योंकि घाटी की चौड़ाई के कारण उसमें आने वाली मिट्टी की मात्रा वढ़ जाती है। इस समय तक नदी का विकास भी अधिक हो जाता है जिससे उसमें अनेक सहायक नदियाँ अपनी मिट्टी लाती हैं। और इस समय तक नदी की आयु वढ़ जाने के कारण अर्थात् भूमि की ढाल कम

*मियान्डर शब्द एशिया माइनर की मियान्डर नामक नदी से लिया गया है।

हो जाने के कारण उसका बहाव भी शिथिल पड़ जाता है। बहाव शिथिल होने से जल में मिली हुई मिट्टी नीचे बैठने लगती है। ऐसी दशा में बहाव में थोड़ी सी भी रुकावट होने पर नदी मुड़ जाती है और प्रवाह-मोड़ बन जाती है। परन्तु प्रवाह मोड़ बाढ़ के मैदान के एक विशेष क्षेत्र में ही बनती है। इस क्षेत्र को 'मोड़ कटिबन्ध'* (मियान्डर बेल्ट) कहते हैं, इसी क्षेत्र के भीतर नई-नई मोड़ बनती हैं, और पुरानी मोड़ें नष्ट होती हैं। इस क्षेत्र की चौड़ाई नदी की चौड़ाई पर निर्भर है। छोटी नदियों में यह कटिबन्ध लगभग १ मील होती है। यह चौड़ाई जल धारा से लगभग १५ या २० गुना अधिक चौड़ी होती है। जब प्रवाह मोड़ें अपनी अधिक से अधिक सीमा तक चौड़ी हो जाती हैं, तब उनका आकार गोल हो जाता है। इस आकार को पुच्छाकार (डवटेल) कहते हैं। इस आकार में मोड़ों के सिरे सरलता से जुड़ जाते हैं, और इस प्रकार नदी का बहाव फिर सीधा हो जाता है, और मोड़ों का जल नदी से धीरे-धीरे बहिष्कृत हो जाता है। जब मोड़ कटिबन्ध में बहिष्कृत मोड़ें अधिक हो जाती हैं, तब नदी में प्रवाह-मोड़ें बहाव के निचले क्षेत्र तक पहुँचने लगती हैं; मोड़ कटिबन्ध की चौड़ाई में ही वे सीमित नहीं रहती हैं। नदी की इस अवस्था को स्वतंत्र मोड़ों की अवस्था (फ्री मियान्डरिंग) कहते हैं। इस अवस्था में घाटी की चौड़ाई तथा लम्बाई में प्रवाह-मोड़ों का प्रभुत्व रहता है। एक मोड़ का अन्त होते ही, दूसरी मोड़ का आरंभ हो जाता है। यह अवस्था प्रगतिशील मोड़ों (शिफ्टिंग मियान्डर) की अवस्था कहलाती है। प्रवाह मोड़ों के उदाहरण उत्तर भारत की किसी भी नदी में ग्रीष्म ऋतु में देखे जाते हैं। इस प्रकार ऊपरी घाटी के सीमित मोड़ और निचली घाटी के स्वतंत्र तथा प्रगतिशील मोड़ नदी के बहाव के प्रधान अंग हैं। बगल में दिये हुए चित्र में मोड़ों का विकास दिखाया गया है :

चित्र १०७—मोड़-विकास

डेल्टा

जब नदी समुद्र में मिल जाती है, तब उसके जल में घुला हुआ मलवा समुद्र तल में बैठने लगता है। समुद्र के खारे जल और नदी के मीठे जल के मिलने पर यह मलवा

*मोड़ कटिबन्ध की चौड़ाई जल के बहाव की मध्य रेखा (मीडियन लाइन) से अन्तिम मोड़ के केन्द्र तक नापी जाती है।

भारी हो जाता है और इसलिये उसे नीचे बैठने में देर नहीं लगती है। यह बात स्मरणीय है कि नदी अपने पूर्ण मलवे का लगभग ३० प्रतिशत जल में घोल के रूप में लाती है। इसलिय समुद्रतल में एक बड़ी मात्रा में नदी द्वारा लाया आ मलवा जमा होता है जिससे समुद्र जल के भीतर ही भीतर एक विस्तृत मैदान बनता रहता है।

जब नदी समुद्र से मिलती है, तब उसके धारा के मध्य में जल का वेग अधिक होता है, और इसलिये उस भाग का जल समुद्र में अधिक दूर तक प्रवेश कर जाता है। इसलिये जल का मलवा जीभ की भाँति समुद्र के भीतर तक जम जाता है। लेकिन धारा के किनारे का जल मन्द गति के कारण किनारे ही रह जाता है, और उसका मलवा वहीं जमा हो जाता है।

धीरे-धीरे समुद्र के भीतर बनने वाला मैदान ऊँचा होकर जल के ऊपर हो जाता है और उस पर नदी का जल बहने लगता है और अपनी मिट्टी जमा करने लगता है। इस मैदान पर नदी का बहाव इतना शिथिल होता है कि उसका जल समुद्र में कई धाराओं द्वारा पहुँच पाता है। इन धाराओं के किनारे-किनारे नीचे तट होते हैं जिनसे नदी का जल सीमित रहता है। डेल्टा में नदी की अनेक धाराओं के होने का कारण यह है कि जल में इतना अधिक मलवा होता है कि मन्द वेग वाला बहाव उसको आगे नहीं ले जा सकता है। इसलिये शीघ्र ही नदी का पेटा मिट्टी से भर जाता है। बहाव में रुकावट पड़ने से जल अपना नया पथ ढूँढ़ता है। इस प्रकार, धारायें अपना पथ बराबर बदलती रहती हैं।

डेल्टा की परिभाषा निम्नलिखित है :—

"डेल्टा नदी के अन्तिम भाग का वह समतल मैदान है जिसका निर्माण समुद्र के भीतर नदी द्वारा लाई हुई मिट्टी से हुआ है, और जिस पर नदी का जल अनेक धाराओं द्वारा समुद्र में पहुँचता है।" इस मैदान का ढाल समुद्र के भीतर खड़ा होता है। इसका आकार
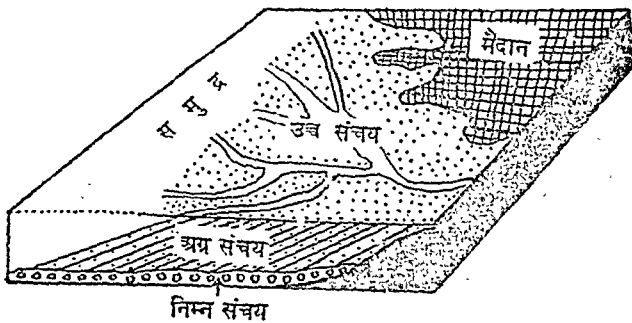
चित्र १०८—डेल्टा

त्रिभुजाकार होने से ग्रीक भाषा के अक्षर△ (डेल्टा) से मिलता-जुलता है और इसलिये इसे डेल्टा कहते हैं।

डेल्टा के तीन भाग होते हैं; (१) ऊपरी भाग (टाप सेट) जो एक चौड़ा, मन्द ढाल वाला समतल मैदान है, और जिसकी ऊँचाई समुद्रतल से थोड़ी ही है।

(२) सामने का खड़ा ढाल (फोर सेट) जो समुद्र के भीतर डूबा रहता है।

(३) नीचा मन्द ढाल (वाटम सेट) जो जल के भीतर समुद्र में दूर तक फैला रहता है।

बाहरी आकार की दृष्टि से डेल्टा कई प्रकार के होते हैं; जैसे—धनुषाकार (आर्कुयेट), क्षीणाकार (लोवेट), भग्नाकार (ट्रनकेटेड) और पंजाकार (डिजिटेड)।

डेल्टा बनने की प्रगति के अनुसार डेल्टा दो प्रकार के होते हैं: (१) अवरोधित (ब्लाक्ड) और (२) गतिशील (विगरस) डेल्टा।

इन प्रकारों का विवरण आगे दिया गया है।

कभी-कभी नदी विभिन्न धाराओं में भी अपने छोटे-छोटे अलग डेल्टा बनाने लगती है। इसका प्रभाव यह होता है कि बड़े डेल्टा की प्रगति कम हो जाती है। ऐसे डेल्टा को क्षीणाकार (लोवेट) डेल्टा कहते हैं। कभी-कभी समुद्र की धाराओं द्वारा नदी की लाई हुई मिट्टी का अधिकतर भाग बह जाता है। इस दशा में डेल्टा कट जाता है। ऐसे डेल्टा को भग्नाकार (ट्रनकेटेड) डेल्टा कहते हैं।

नीचे दिये हुए चित्र में इनका उदाहरण है:—
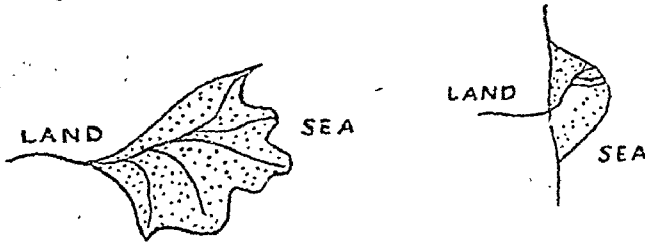
चित्र १०९—क्षीणाकार और भग्नाकार डेल्टा

'डेल्टा' वस्तुतः नील नदी द्वारा बनाये हुए मैदान को कहते हैं जिससे ग्रीक भूगोलवेत्ता अच्छी तरह परिचित थे। उन्हीं लोगों ने इस शब्द का प्रयोग किया।

नील डेल्टा का मैदान नदी की निचली घाटी के निर्माण के सिलसिले में बना हुआ मैदान है। इसकी स्वाभाविक गति फैलने और समुद्र की ओर बढ़ने की है। काहिरा (कैरो) में किये गये अन्वेषण से यह ज्ञात हुआ है कि एक ऐसा समय था जब नील नदी

वहीं पर समुद्र में मिलती थी। आज वहाँ से लगभग १०० मील आगे तक डेल्टा फैल गया है। डेल्टा के विस्तृत होने का कारण यह है कि जल में मिट्टी के बोझ के कारण नदी के बहाव में बाधा पड़ती है जिससे अनेक धाराओं में नदी का जल बहने लगता है। चूँकि नदी का बहाव बीच की अपेक्षा किनारों पर कम होता है, नदी मिट्टी को किनारों पर ही डाल देती है। कालान्तर में इस मिट्टी से प्राकृतिक तटों (नेचुरल लेवीज) का निर्माण होता है। नदी के बहाव में इनसे बाधा पड़ती है, अतएव इसकी शाखायें तट के दोनों तरफ बहने लगती हैं। कालान्तर में इन शाखाओं में भी तट बनने लगते हैं और इनके कारण नदी की और भी अनेक शाखायें हो जाती हैं। ये तटें डेल्टा में अँगुलियों की भाँति फैली होती हैं। अतएव इस प्रकार के डेल्टा को पंजाकार (बर्डफुट) डेल्टा कहते हैं।

डेल्टा उन्हीं नदियों में बनता है जो कि ऐसे समुद्र में गिरती है जिसमें (१) बहुत शक्ति वाले ज्वार-भाटे नहीं आते हैं, और न उनमें नदी के मुख के पास वेगवती धारायें बहती हैं और (२) जहाँ नदियाँ अपने साथ बहुत मिट्टी लाती हैं। प्रवाह अथवा शक्ति वाला ज्वार-भाटा संचित मिट्टी को समुद्र में बहा ले जाते हैं जिससे डेल्टा नहीं बन पाता।

नदी की लाई हुई मिट्टी को कभी-कभी समुद्र की धारायें एक ओर फेंक देती हैं। इससे डेल्टा का स्वरूप बदल जाता है। दो धाराओं के बीच में कभी-कभी एक छिछला सा भाग बन जाता है जिससे एक छिछली-सी झील (लैगून) बन जाती है। इसका प्रमुख उदाहारण नील नदी का डेल्टा है जहाँ पूर्व दिशा में बहने वाली धारा,

चित्र ११०—नील नदी का डेल्टा

'रोजेटा' की धारा ने एक छिछले जल को घेर लिया है। यह जल 'बोरोलोस' झील के नाम से विख्यात है। दामियेटा से एक बालू की दीवार बनने से एक और भी झील 'मेनजाला' बनी है। ऊपर के चित्र में नील का डेल्टा दिखाया गया है।

(बिन्दुओं से अंकित रेखायें डेल्टा की सीमा को दिखाती हैं। डेल्टा से होती हुई जाने वाली रेखायें ऊँचाई दिखाती हैं।)

ऊपर दिये हुए नील नदी के डेल्टा के चित्र से हम गंगा के डेल्टा के चित्र की तुलना कर सकते हैं। समुद्र में ज्वार-भाटा के अभाव के कारण गंगा के डेल्टा का आकार अँगुलियों जैसा 'पंजाकार' बन गया है।

समुद्र की लहरें मिट्टी हटाती हैं और नदी की लहरें उन्हें संचित करती हैं। इन्हीं क्रियाओं में द्वन्द्व होता है। इसी द्वन्द्व के फलस्वरूप डेल्टा बनता है। यदि जितनी मिट्टी समुद्र की लहरें हटाती हैं उससे अधिक मिट्टी आती है तो डेल्टा बन जाता है। यदि किसी भी कारण समुद्र की लहरें मिट्टी अधिक हटाने लगती हैं और नदियाँ कम मिट्टी लाने लगती हैं तो डेल्टा निर्माण की क्रिया शिथिल हो जाती है। नील नदी के डेल्टा की इस समय यही दशा है। नील नदी द्वारा लाई मिट्टी को समुद्र की लहरें पूर्व दिशा में सीरिया के तट की ओर बहा ले जाती हैं। ऐसे डेल्टा को 'अवरोधित डेल्टा, (ब्लाक्ड डेल्टा) कहते हैं। जब नदी बहुत अधिक मिट्टी लाती है तो डेल्टा अधिक तीव्र गति से बनने लगता है। ऐसे डेल्टा को 'गतिशील डेल्टा' (विगरस) कहते हैं। गतिशील डेल्टा में नदी के मुहाने से काफी दूर पर प्रायद्वीप बनते हैं। शनैः-शनैः इन प्रायद्वीपों के बीच में एक छिछली-सी झील आ जाती है जो कि शीघ्र ही भर जाती है। अँगुलियों के आकार का डेल्टा जिसे पंजाकार डेल्टा भी कहते हैं, प्रायः गतिशील डेल्टा ही हुआ करता है। चित्र १११ में गंगा नदी का डेल्टा दिखाया गया है।
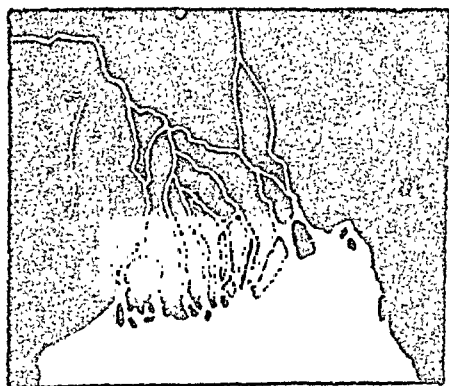
चित्र १११—गंगा का डेल्टा

गतिशील डेल्टा का प्रमुख उदाहरण मिसीसिपी नदी का डेल्टा है। चित्र ११२ में अँगुलियों के आकार वाला मिसीसिपी नदी का पंजाकार डेल्टा दिखाया गया है।

तटवर्ती मैदान

अब तक हमने ऐसे मैदानों का वर्णन किया जो कि भराव के मैदान (डिपोजीशनल) अथवा कटाव के मैदान (इरोजनल) हैं; अर्थात् संचयमूलक अथवा घर्षणमूलक।

दोनों ही दशाओं में इनकी उत्पति का कारण प्रकृति की बाह्य-शक्तियाँ हैं। परन्तु तटवर्ती मैदान पूरे ऊपर उठते हैं। इन मैदानों को महाद्वीप का एक अंग मानना चाहिये जो कि धरातली उभार (डायास्ट्रोफिज्म) से बनते हैं। यह तो ज्ञात ही है कि स्थल भाग तट पर ही नहीं समाप्त हो जाता है। समुद्र में भी यह कुछ दूर तक चला जाता है। समुद्र ले के थल के इस भाग को महाद्वीप स्तर (कान्टीनेन्टलशेल्फ) कहते हैं। समुद्र के भीतर इस महाद्वीपीय स्तर की सीमा का अन्त वहाँ होता है जहाँ समुद्र की गहराई एकाएक बढ़ जाती है। इस महाद्वीपीय स्तर पर नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी फैला

चित्र ११२—मिसीसिपी डेल्टा

करती है। समुद्र की सतह में परिवर्तन के कारण इस महाद्वीपीय स्तर का कुछ भाग ऊपर उठ कर तटवर्ती मैदान बन जाता है। इस तटवर्ती मैदान की थल की ओर सीमा पुराने समुद्र रेखा (शोरलाइन) होती है।

तटवर्ती मैदानों में प्रारंम्भ में प्रौढ़ावस्था के सभी गुण रहते हैं, अर्थात् उनमें स्पष्ट ढाल नहीं रहते हैं। धरातल समतल रहता है, यत्र-तत्र छिछली झीलें भी होती हैं। यह मैदान नीचा और प्रायः आकृति-रहित होता है। केवल बालू और काँप की समानान्तर पट्टियाँ ही इसमें भिन्नता लाती हैं।

तटवर्ती मैदान सदैव के लिए समतल नहीं रहते हैं। घर्षण क्रिया इनमें परिवर्तन पैदा कर देती है। स्थल से बहने वाला पानी इस भाग में भी बहता है और घाटी बना देता है। इस भाग में होने वाली वर्षा भी बड़े-बड़े नाले और गर्त बना देती है। तटवर्ती मैदानों में घर्षण क्रिया अधिक वेग से होती है। कारण यह है कि काँप और बालू की तहें पूर्ण प्रकार से ठोस नहीं हुई होती हैं। तटवर्ती मैदानों में समुद्र की ओर बालू के ढूहे (सैन्ड ड्यून) रहते हैं। स्थल की ओर स्थित पुराने तट की विशेषता यह होती है कि वह अधिक ढालू होती है। तटों के एकाएक ढालू होने के कारण नदी में जल-प्रपात बन जाते हैं। उत्तरी अमेरिका की प्रपात-रेखा (फाल लाइन) इसका प्रमुख उदाहरण है।

तटवर्ती मैदानों के अनेक उदाहरणों में हम भारत के 'कारोमंडल तट' अमेरिका का दक्षिणी-पूर्वी मैदान और अफ्रीका के गिनी तट के पास के मैदान का उल्लेख कर सकते हैं।

पठार

घर्षण-चक्र में पठारों का प्रारंम्भिक स्थान है। पठार का स्थान पहाड़ और समतलप्राय (पेनीप्लेन) के मध्य होता है। पठार ऊँचे होते हैं, अतएव उन पर घर्षण क्रिया का प्रभाव अधिक पड़ता है, और वे शीघ्र ही समतल-प्राय बन जाते हैं। पृथ्वी के अन्दर ऊपर उठाने वाली शक्तियाँ होती हैं। इन्हीं शक्तियों के कारण पठारों का जन्म होता है। जब एक समतल-प्राय मैदान सीधा ऊपर उठता है जिससे उसमें खड़ी ढाल (इस्कार्पमेंट) बन जाता है तब वह पठार हो जाता है। पठार के खड़े ढाल में धीरे-धीरे अनेक जल-मार्ग बन जाते हैं। पठार के उत्थान के कारण उसकी पुरानी नदियाँ पुनर्जीवित (रिजुवनेटेड) हो जाती हैं और अपनी घाटियों को फिर गहरी करने लगती हैं। इस प्रकार पठार में अनेक गहरी संकुचित घाटियाँ बन जाती हैं। अनेक स्थानों पर कुछ छोटी-छोटी पहाड़ियाँ भी होती हैं। इन्हीं से ज्ञात होता है कि यहाँ पहले कभी

घर्षण क्रिया हुई थी। पठार और मैदान में मुख्य अन्तर यह है कि पठार की एक सीमा एकाएक नीची भूमि आ जाती है, मैदान की एक सीमा पर एकाएक ऊँची भूमि आ जाती है। पठार की ऊँचाई उसकी वास्तविक पहचान नहीं है; क्योंकि बहुत से मैदान पठार से ऊँचे हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य के पश्चिमी मैदान २००० फीट से अधिक ऊँचे हैं।

पठार निम्नांकित प्रकार के होते हैं:—

(१) अन्तर्पर्वतीय पठार (इन्टर मान्टेन)।

(२) पर्वत पदीय पठार (पीडमान्ट)

(३) महाद्वीपीय पठार (कान्टीनेन्टल)

(क) संसार के अन्तर्पर्वतीय पठार काफी ऊँचाई पर स्थित हैं। ये १०,००० फीट से अधिक ऊँचाई पर पाये जाते हैं। ये पठार प्रायः कम चौड़े होते हैं और ऊँची पर्वत श्रेणियों के बीच स्थित हैं। पर्वतों की मोड़ों के साथ ही पठारों का जन्म होता है। ऐसे पठारों के सामान्य उदाहरण 'राकीज' और 'एन्डीज' पर्वत श्रेणियों में पाये जाते हैं।

(ख) पर्वत पदीय पठार पर्वतों से संलग्न बाहरी प्रदेश में स्थित होते हैं। इनका निर्माण उन्हीं शक्तियों के कारण होता है जिनके कारण अन्य प्रकार के पठार बनते हैं। ये पठार प्रायः बहुत ही छोटे होते हैं। दक्षिणी अमेरिका का पेटागोनियन पठार इसका प्रमुख उदाहरण है।

(ग) महाद्वीपीय पठारों का जन्म या तो धरातल के ऊपर उठने के कारण होता है, और या तो जैसा भारत के दक्षिणी पठार में हुआ, काफी ऊँचाई तक लावा की पर्तों के जम जाने से होता है। पठार में महाद्वीपीय पठार सबसे अधिक विस्तृत होते हैं। अफ्रीका, अरब, स्पेन, आस्ट्रेलिया तथा भारत के अनेक पठार इसी कोटि में आते हैं।

मनुष्य पर प्रभाव

पृथ्वी के स्थल भाग का अधिकांश मैदान है। अतएव मनुष्य के जीवन पर इनका बहुत ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हम जानते हैं कि संसार की अधिकांश जनसंख्या, संसार के महानतम नगर, कृषि योग्य उत्तम प्रदेश तथा यातायात के साधनों का वृहत जाल सभी मैदानों में ही स्थित हैं। इसका कारण यह है कि मानव जीवन के विकास की सभी सरल प्राप्त सुविधायें मैदानों पर ही मिलती हैं।

संसार के अधिकांश मैदानों की मिट्टी बहुत ही उपजाऊ होती है। अनुकूल जलवायु तथा उपजाऊ मिट्टी दोनों ने ही आदिकाल में कृषि के विकास में सहयोग प्रदान किया। इसी कारण लोग मैदान में बस गये। जनसंख्या को खींचने में खेती का महत्व इससे ज्ञात

होता है कि जहाँ मैदान खेती के अयोग्य हैं वहाँ जनसंख्या बहुत कम है। इसका उदाहरण हमको सिन्ध और बंगाल के मैदानों की तुलना करने से मिलता है। सिन्ध की जनसंख्या बिखरी है, परन्तु बंगाल की जनसंख्या बहुत ही घनी है।

मैदानों पर यातायात की बड़ी ही सुविधा होती है। अतएव वस्तुओं का, विचारों का और लोगों का एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में विनिमय सरलता से हो सकता है। मैदानों की प्राकृतिक दशायें यातायात के विकास में पर्याप्त सहायता पहुँचाती हैं। वहाँ नदियों से यह कार्य और भी सुगम बन जाता है। नदियों के द्वारा ही सबसे पहले मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को आता-जाता है। इस सुविधा के कारण नगर पहले नदियों के किनारे ही बसते थे। जितना ही अधिक नदी से यातायात होगा उतना ही महत्वपूर्ण नगर होगा और जितना ही उपजाऊ मैदान होगा उतना ही अधिक यातायात होगा। समतल मैदान पर सड़कें और रेलें सुगमता से बन सकती हैं। उनके ढाल मन्द होते हैं। अतएव उनके निर्माण में व्यय बहुत ही कम होता है। पहाड़ों की सड़कें ऊँचाई की अड़चन बचाने के कारण चक्करदार होती हैं। मैदानी सड़कों में मोड़ कम होने के कारण भी निर्माण का व्यय बहुत ही कम होता है।

यातायात की सुगमता तथा अधिक उपज मैदान के लिये दोनों ही आक्रमण और युद्ध के कारण रहे हैं। प्राचीन काल में ऐसा शायद ही कोई उपजाऊ मैदान हो जहाँ शान्ति रही हो। प्राचीन काल में यूरोप का उत्तरी मैदान, चीन का मैदान और सिन्धु तथा गंगा के मैदान अधिकांशतः आक्रमण के क्षेत्र रहे हैं। ये उपजाऊ मैदान ऐसे क्षेत्रों के निकट हैं जिनमें जीवन-निर्वाह के बहुत ही थोड़े साधन हैं। मध्य एशिया में रहने वाले लोगों ने प्राचीन काल में अनेक बार भारत, चीन और योरप के मैदानों पर आक्रमण किये हैं। उनका आक्रमण चीन और भारत में दर्रों के कारण संभव हो सका तथा उत्तरी योरप और रूस में समतल मैदानों के कारण। संसार के इतिहास में इन आक्रमणों का बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

इन आक्रमणों के कारण मैदानों में जातियों का और संस्कृतियों का बहुत सम्मिश्रण पाया जाता है। शुद्ध जातियाँ एकान्त पर्वतों में ही मिल सकती हैं; मैदानों में नहीं। क्योंकि मैदानों में मनुष्य और विचार दोनों ही एक कोने से दूसरे कोने तक घूमा करते हैं। अतएव मैदानों की संस्कृति, उनकी सामाजिक व्यवस्था तथा भाषा सदा परिवर्तन के अधीन रहते हैं।

यातायात की सुगमता तथा भूमि की उर्वरता मैदानों में मनुष्य के जीवन के लिए महान् प्रभावशाली शक्तियाँ हैं।

आकार-निर्माण क्रिया

पृथ्वी का धरातल समान नहीं है। यह असमानता अनेक शक्तियों के घात एवं प्रतिघात के फलस्वरूप पाई जाती है। ये शक्तियाँ तभी से क्रियाशील हैं जब से पृथ्वी की ठोस तल का निर्माण हुआ। पृथ्वी की ठोस तल एक रंगमंच है जहाँ अविरल रूप से परिवर्तन उपस्थित करने वाली शक्तियाँ क्रियाशील हैं।

पृथ्वी की ठोस तल पर निम्नांकित शक्तियाँ क्रियाशील हैं:

(क) क्षरण (डिन्यूडेशन)

(ख) कम्पन (डायास्ट्रोफिज्म)

(ग) विस्फोटन (वलकनिज्म)

'विस्फोटन' और 'कम्पन' धरातल को ऊँचा उठाकर अथवा नीचे गिराकर नये आकारों को जन्म देते हैं। परन्तु क्षरण विद्यमान आकारों को नष्ट करके नये आकार बनाता है। क्षरण क्रिया का कारण पृथ्वी की बाह्य शक्तियों में होता है। ये बाह्य शक्तियाँ जलवायु-जनित होती हैं किन्तु 'कम्पन' और 'विस्फोटन' पृथ्वी की भीतरी शक्तियों के फल हैं।

क्षरण क्रिया के दो भाग होते हैं:—

(क) घर्षण या घर्षण क्षरण (वेदरिंग) अर्थात् शिलाओं का टूटना, और (ख) अपहरण (इरोजन) अर्थात् टूटे पदार्थ को हटाना।

घर्षण क्रिया शिलाओं को अपहरण क्रिया के सफल कार्य के लिये तैयार कर देती है। 'अपहरण क्रिया' तथा 'घर्षण क्रिया' दोनों ही का कार्य अंशतः रासायनिक और अंशतः स्थूल (मेकैनिकल) होता है।

कभी-कभी जीव-जन्तुओं से इन क्रियाओं को अपने कार्य में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त इनका कार्य आकर्षण शक्ति (ग्रेविटी) से सदैव रहता है। मनुष्य और जानवर कभी-कभी शिलाओं के ऊपर से वनस्पति का आवरण हटा देते हैं, जिससे घर्षण-क्रिया को सुगम बना देते हैं। कीड़े-मकोड़े भी धरातल में अपने छेद बनाकर घर्षण क्रिया को सहायता देते हैं।

अपहरण क्रिया की तीन अवस्थायें होती हैं; (१) पृथक्करण, (२) स्थानान्तरण और (३) एकत्रीकरण। अमेरिका के भूगोलवेत्ता इसकी केवल दो अवस्थायें मानते हैं; निम्नीकरण (डिग्रेडेशन) और पुञ्जीकरण (एग्रेडेशन)।

अपहरण क्रिया अपना काम अनेक साधनों द्वारा करती है। जैसे आकर्षण शक्ति, जीव-जन्तु, पवन, हिम, नदी, ग्लेशियर, जल, लहरें, ज्वार-भाटा, और समूह धारायें। इन साधनों को निम्नलिखित तीन समूहों में बाँटा जाता है:—

(क) हिम (आइस), (ख) जल (वाटर), (ग) पवन (विन्ड)।

जब ताप एक निश्चित विन्दु पर पहुँच जाता है तब पानी न बरस कर वर्फ गिरने लगती है। ऊँचे पर्वतों पर अथवा ऊँचे अक्षाशों में वर्षा का रूप प्रायः वर्फ ही होता है। ग्रीष्म ऋतु में यह वर्फ पिघलती है जिससे नदियाँ निकलती हैं। घर्षण और अपहरण के लिये नदी सबसे अधिक महत्वशाली साधन है। परन्तु उसका उद्गम पहाड़ों पर पड़ी हुई वर्फ में होता है। इस कारण अपहरण क्रिया का वास्तविक साधन वर्फ है। इसलिये वर्फ का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

हिम नदी (ग्लेशियर) और हिम-घर्षण (ग्लेशियेशन), वर्फ मिलने के स्थान प्रायः (१) उच्च अक्षांशों में एवं (२) उच्च भागों में होते हैं जहाँ तापमान कम रहता है और जहाँ जल वर्षा न होकर वर्फ गिरती है। किसी एक ऊँचाई के ऊपर पिघलने के बाद भी पूरे साल भर वर्फ का आवरण पड़ा रहता है। ऊँचाई को 'हिम रेखा' (स्नो लाइन) कहते हैं। यह रेखा उस औसत ऊँचाई की द्योतक है जिसके ऊपर ग्रीष्म ऋतु में पिघलने से अधिक वर्फ जाड़ों में संचित होती है। यह रेखा किसी नियत ऊँचाई पर सदा नहीं रहती है। वह सदैव बदलती रहती है। इसका परिवर्तन कभी दैनिक अथवा कभी एक निश्चित समय के बाद होता रहता है। इसलिए इसको कभी अचल रेखा नहीं मानना
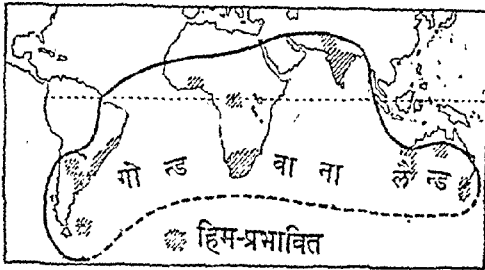
चित्र ११३—गोन्डवानालैंड की सीमा

(प्राचीन काल में सीमित क्षेत्र संयुक्त थे। इसका प्रमाण हिम-प्रवाहित क्षेत्रों से मिलता है।)

चाहिए। हिम रेखा की ऊँचाई अक्षांश वर्फ की मात्रा, शुष्क पवन सम्पर्क (जो कि वर्फ को शीघ्र ही गला देती है), तथा क्षेत्र की रूप-रेखा पर (टूटे-फूटे भाग वर्फ को अधिक समय तक सुरक्षित रखते हैं) निर्भर रहती है। परन्तु प्रधानतः अक्षांश पर ही इसकी ऊँचाई निर्भर है। विषुवत् रेखा के निकट हिम रेखा बहुत ही अधिक ऊँचाई पर मिलती है तथा ध्रुवों पर यही रेखा लगभग समुद्रतल पर होती है। इस रेखा से अधिक ऊँचाई पर वर्फ बहुत ही अधिक मात्रा में एकत्र होती रहती है। परन्तु वर्फ एकत्र होने की एक
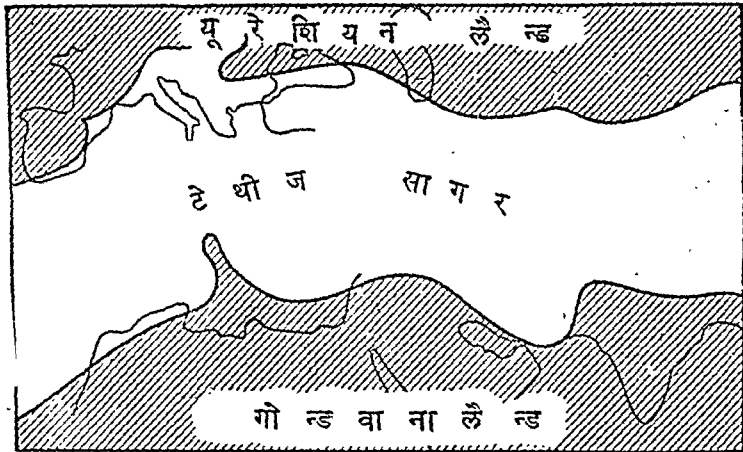
चित्र ११४—टेथीज जिसमें एल्पाइन पर्वतीकरण हुआ

सीमा है जहाँ यह संचय रुक जाता है। यह सीमा (१) वायुमंडल सम्बन्धी परिस्थितियाँ और (२) पर्वत का ढाल निश्चित करते हैं। वायु की दशा पर वर्फ का पड़ना तथा उसका पिघलना निर्भर है। पर्वत की ढाल पर उसका अस्थायी ओर लुढ़क पड़ना निर्भर है। इस प्रकार हिम रेखा शब्द में ही वर्फ के सरकने या हटने का भाव निहित है। हिम रेखा से नीचे अधिक ताप वाले क्षेत्र में आने के कारण ही वर्फ पिघलती है, और पुनः जल बनती है।

हिम रेखा के ऊपर पाई जाने वाली वर्फ को हिम-क्षेत्र (स्नो फील्ड) कहते हैं। सेलिसवरी और चेम्बरलेन का अनुमान है कि इन क्षेत्रों में वर्फ की राशि लगभग १०,००,००० घन मील है। यदि यह पूरी वर्फ पिघल जाय और उसका जल समुद्र में पहुँच जाय, तो समुद्र का तल लगभग ९० फीट ऊँचा हो जाय। कुछ लोगों का अनुमान है कि वर्फ पिघलने से समुद्र तल १६५ फीट ऊपर उठ जायगा।

निम्नांकित तालिका स्थायी हिम-क्षेत्रों को दिखाती हैं :—

दक्षिणी ध्रुव के चारों तरफ	...	...	१३० लाख	कीलामीटर
ग्रीनलैंड	...	...	१९ लाख	"
स्पिट्ज वर्गेन	...	...	५६,०००	"
आइसलैंड	...	...	१३,४७०	"
नार्वे	...	...	५,०००	"
आल्प्स	...	...	३,८००	"
काकेशश	...	...	१,८४०	"
न्यूजीलैंड	...	...	१,०००	"

बर्फ दबाव से खिसकती है। अतएव ऐसे हिम-क्षेत्र जिनका आधार बर्फ है, उनमें बर्फ सदैव खिसकती रहती है। ऐसी खिसकने वाली बर्फ को हिम नदी (ग्लेशियर) कहते हैं। हिम नदी की बर्फ का हिम* स्वरूप दबाव के कारण तथा उसके पिघले जल के पुनः जम जाने के कारण होता है। पर्वतों पर जो बर्फ गिरती है वह बारीक कणों की और सूखी होती है। गर्मियों में ऊपर की थोड़ी बर्फ पिघल जाती है। यह पानी धीमे-धीमे बर्फ की तह में घुस जाता है। भीतर पहुँचने पर जल फिर जम जाता है और इस प्रकार बर्फ के थोड़े भाग को ठोस बना देता है। बर्फ की वह तह जो पूर्ण रूप से ठोस नहीं है 'फर्न स्नो या नेवी' कहलाती है। अधिक दबाव पड़ने पर 'फर्न स्नो', 'फर्न आइस' बन जाती है। अन्त में बर्फ का पूरा भाग ठोस और कड़ा हो जाता है। इनको 'ग्लेशियर आइस' कहते हैं। अर्थात् वायु के कारण पोली होने पर बर्फ 'स्नो' कहलाती है। थोड़ी वायु निकल जाने के बाद वह अपूर्ण ठोस होने पर 'फर्न स्नो' और पूर्ण ठोस होने पर 'फर्न आइस' कहलाती है। दबाव एवं बार-बार जमना दोनों ही बर्फ को ठोस करने में सहायक होते हैं। ठोस हो जाने पर बर्फ आकर्षण शक्ति के कारण गतिशील हो जाती है और इस प्रकार ग्लेशियर बन जाते हैं।

ग्लेशियर चलते रहते हैं। इसकी खोज सन् १८३४ में लुई एगासिज नामक स्विटजरलैण्ड के एक विद्वान ने की थी। उसके पहले लोगों का विश्वास था कि ग्लेशियर स्थिर रहते हैं। ग्लेशियर चलते हैं यह सिद्ध करने के लिए एगासिज ने बर्फ में आर-पार एक सीधी रेखा में खूँटे गाड़ दिये। थोड़े समय के बाद देखा गया कि खूँटों की रेखा टेढ़ी हो गई। रेखा का झुकाव घाटी की ओर था। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ग्लेशियर की बर्फ चलती है। यह भी ज्ञात हुआ कि बीच की बर्फ किनारे की बर्फ की अपेक्षा अधिक वेग से चलती है। ग्लेशियर के बारे में यह भी देखा गया है कि किस तह की बर्फ नीचे तक की बर्फ की अपेक्षा अधिक वेग से चलती है; क्योंकि बर्फ के अन्दर अधिक गहराई में गड़े हुए खूँटे कुछ समय के बाद टेढ़े हुए थे। ग्लेशियर को, इस प्रकार हम बर्फ की नदी कह सकते हैं। ग्लेशियर की बर्फ दानेदार और खिंच जाने वाली होती है। इसलिये दबाव या खिंचाव पड़ने पर उसकी तह फैल जाती है अथवा फट जाती है। इसलिए ग्लेशियर की ऊपरी तह में बहुत सी दरारें होती हैं। इन दरारों को 'क्रेवास' कहते हैं। इनका क्षेत्र ग्लेशियर की चौड़ाई में फैला होता है। ग्लेशियर पर जाने वालों के लिए इनसे बहुत

---

* जब आकाश से बर्फ गिरती है, तब उसमें वायु रहती है। इसलिए उसके कण बालू की भाँति अलग-अलग रहते हैं, दबाव पड़ने पर वायु बाहर निकल जाती है और बर्फ के कण ठोस हो जाते हैं। इस ठोस बर्फ को हिम वर्षा से अलग समझना चाहिये।

भय रहता है। ये दरारें प्रायः सकरी और कम गहरी होती हैं। इनका क्षेत्र प्रायः ऐसे स्थान पर होता है जहाँ बर्फ के नीचे चट्टान में उभार होता है, और इसलिए वहाँ का ढाल उन्नतोदर (कानवेक्स) होता है। ग्लेशियर के किनारे-किनारे लम्बाई में भी कहीं-कहीं दरारें होती हैं। किनारे पर बर्फ की गति बीच की अपेक्षा कम होने से बीच के भाग की बर्फ किनारे के भाग से खिच जाती है और इसलिए ये दरारें पड़ जाती हैं।

ग्लेशियर में एक दूसरी प्रकार की दरार होती है जिसको 'बर्गश्रुन्ड' कहते हैं। यह दरार ग्लेशियर के ऊपरी भाग में होती है जहाँ पर संलग्न पहाड़ी ढाल से बर्फ खिच कर अलग हो जाती है।

उक्त दरारों के अतिरिक्त, ग्लेशियर की बर्फ में भिन्न-भिन्न तहें होती हैं। इन तहों को 'शेयरिंग प्लेन' कहते हैं। ग्लेशियर इन्हीं तहों के सहारे आगे खिसकता है।

हिम रेखा के नीचे ज्यों-ज्यों ग्लेशियर आगे खिसकता जाता है त्यों-त्यों उसकी बर्फ पिघलती जाती है और बर्फ की तह पतली होती जाती है। खिसकते-खिसकते ग्लेशियर हिमरेखा के बहुत नीचे आ जाता है और तब उसकी पूरी बर्फ पिघलती है। आल्प्स पहाड़ में तो समुद्र तल से २००० फीट ऊँचाई तक ग्लेशियर आ जाते हैं। जहाँ पर ग्लेशियर का अन्त होता है वहाँ प्रायः एक खोह बन जाती है। इसी खोह के भीतर से पिघला हुआ जल बहता है। अल्मोड़ा में स्थित पिंडारी ग्लेशियर से पिन्डार नदी इसी भाँति निकलती है। ग्लेशियर के अन्त स्थान को 'स्नाउट' कहते हैं।

ग्लेशियर चार प्रकार के होते हैं:—

(क) घाटी वाले ग्लेशियर,

(ख) पर्वत पदीय ग्लेशियर (पीडमोन्ट ग्लेशियर),

(ग) हिम-टोपी (आइस कैप),

(घ) महाद्वीपीय ग्लेशियर।

इनमें से केवल प्रथम प्रकार का ही अध्ययन हो सका है।

घाटी वाले ग्लेशियर—जो ग्लेशियर किसी घाटी में रहता है उसे घाटी वाला ग्लेशियर कहते हैं। घाटी वाले ग्लेशियर को अलपाइन ग्लेशियर भी कहते हैं। पर्वतों के हिम-क्षेत्र से घाटीवाले ग्लेशियर बाहर की ओर बढ़ते हैं। वहाँ से वे अधिक ऊष्ण भाग की ओर बर्फ को ठेलते हैं जहाँ वह पिघल जाती है।

घाटी वाले ग्लेशियर नदियों के प्राचीन घाटियों में ही होते हैं।

इन तीन प्रकारों से बर्फ आती है:

(क) हिमपात से, (ख) घाटी के ढाल पर की हिमफटान (एवलॉंश), (ग) अन्य हिम क्षेत्रों से वायु द्वारा उड़कर आयी हुई बर्फ ।

घाटीवाले ग्लेशियर में एक चौड़ा-सा बर्फ कुंड होता है जिसमें से बर्फ निकल कर कुछ दूर तक घाटी में वहा करती है। ग्लेशियर के अन्त में बर्फ का खड़ा ढाल होता है। यह ढाल बर्फ पिघलने से बनता है। इसका घाटी के तल से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता है। घाटी वाले ग्लेशियर की ढाल एक सी नहीं होती है। कुछ ग्लेशियर मन्द ढाल वाले होते हैं, और कुछ इतने अधिक ढाल होते हैं कि यह सोचकर आश्चर्य होता है कि वे कैसे स्थित हैं। इस अन्तिम प्रकार का ग्लेशियर कभी-कभी घाटी के पूर्णतया बाहर खिसक जाता है।

घाटी वाले ग्लेशियर दो प्रकार के होते हैं; (अ) आड़ा (लांजीच्यूडिनल), और (ब) वेड़ा (ट्रान्सवर्स)। आड़ा ग्लेशियर उसे कहते हैं जो पहाड़ों के बीच की घाटी में होता है। वेड़ा ग्लेशियर वह है जो किसी एक ही पहाड़ के ऊपर से समकोण बनाता हुआ नीचे उतरता है। एवरेस्ट के निकट स्थित रोंग बुक ग्लेशियर बेड़ा ग्लेशियर है। यह ग्लेशियर लगभग १२ मील लम्बा है। इसका 'स्नाउट' समुद्रतल से लगभग १६५०० फीट की ऊँचाई पर है। हिमालय की श्रेणी में मकालू पर्वत के उत्तर की ओर स्थित कांगशिंग ग्लेशियर एक आड़ा ग्लेशियर है। यह भी लगभग १२ मील लम्बा है और इसका स्नाउट समुद्रतल से लगभग १४६०० फीट की ऊँचाई पर है।

घाटी वाले ग्लेशियरों की गति में भी बड़ा अन्तर होता है। कुछ छोटे ग्लेशियर लगभग गति-हीन से होते हैं; परन्तु बड़े ग्लेशियर प्रति दिन कई फीट चलते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, किनारे की अपेक्षा मध्य भाग में ग्लेशियर की चाल अधिक होती है। उदाहरणार्थ, स्विटजरलैण्ड के मेयर दग्लास ग्लेशियर की दैनिक गति किनारे पर १३" से १९½" और मध्य भाग में २० से २६" है। ओडेल और सोमरवेल के अनुसार उपरोक्त रोंगबुक ग्लेशियर में किनारे पर ३" से ५" तक और मध्य भाग में ८" से १२" तक दैनिक गति है। सबसे अधिक गतिशील ग्लेशियर ग्रीनलैंड में, जहाँ प्रति दिन ६० फीट की गति देखी गई है। यह गति हिमपूर्ति के साथ-साथ बदलती रहती है। ढाल का भी इस गति पर प्रभाव पड़ता है; अधिक ढाल होने पर अधिक गति होती है। ग्लेशियर की गति ताप के कारण भी बदलती रहती है और अधिकतम गति हिम विन्दु (फ्रीजिंग प्वाइन्ट) पहुँचने के पहले होती है। अतएव शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में गति अधिक होती है। घाटी सकरी होने पर भी अधिक गति होती है। बर्फ में मिली हुई मिट्टी के टुकड़े इस गति में बाधा डालते हैं। नीचे की चट्टानों की रगड़ से भी गति कम

हो जाती है। वास्तव में दबाव और ताप की दशायें ही गति पर अधिक प्रभाव डालती हैं।

जैसे-जैसे वर्फ की राशि में परिवर्तन होता है, वैसे ही वैसे ग्लेशियर का स्नाउट आगे-पीछे होता रहता है। वर्फ की राशि में हर ऋतु में और हर वर्ष जलवायु की दशा के अनुसार परिवर्तन होता है। इस युग में सामान्यतः वर्फ का ह्रास हो रहा है। इसलिये 'स्नाउट' पीछे की ओर हट रहे हैं; यद्यपि १८५८ के पूर्व वे आगे की ओर वढ़ रहे थे।

यह भी देखा गया है कि जब साधारण प्रकार से स्नाउट में पीछे हटने की प्रवृत्ति होती है, उस समय भी कोई विशेष स्नाउट आगे बढ़ रहा हो। ग्लेशियर के अग्रभाग के पीछे हटने का तात्पर्य यह नहीं है कि वर्फ पीछे जा रही है। वरन् इसका अर्थ यही है कि उद्गम स्थल पर कम वर्फ गिरने के कारण ग्लेशियर अपनी पुरानी सीमा तक नहीं पहुँच सका है। ऐसा देखा गया है कि सभी ग्लेशियर एक साथ पीछे हटते हैं, और सभी ग्लेशियर एक साथ आगे बढ़ते हैं। इसका यह तात्पर्य है कि परिवर्तन करने वाली शक्ति पृथ्वी के वाहर से आती है। १९३३ में यह देखा गया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के ग्लेशियर स्नाउट लगभग १८५० से पीछे हट रहे हैं। केवल कैलिफोर्निया के सियरा नेवादा पहाड़ के ग्लेशियर ही १९३२ से आगे बढ़ रहे हैं। निस्काली ग्लेशियर १८५७ से १९३३ तक ७५ वर्ष में लगभग ३१३६ फीट पीछे हट गया। ग्लेशियर की वर्फ की राशि में और लम्बाई में काफी कमी देखी गई है। वर्फ और शिला तत्व जो कि वर्फ में गिर पड़ते हैं, उनके मिश्रण से ग्लेशियर बनते हैं। घाटी वाले ग्लेशियर में यह शिला तत्व घाटी की दीवारों से उस समय घुल कर आता है जब कि वर्फ एकत्र होती रहती है। घाटी वाले ग्लेशियर में अतएव शिलातत्व ऊपर से नीचे तक बिखरा रहता है। जब ग्लेशियर चलता है तब यह पदार्थ भी चलता है और तली की चट्टान को काटता है। बालू और चट्टान के टुकड़ों से मिश्रित ग्लेशियर का वही प्रभाव पड़ता है जो कि रँगाई वाली लकड़ी पर चिकना करने वाले कागज का होता है। जहाँ ग्लेशियर कोमल अथवा अर्द्धठोस शिलाओं पर चलते हैं वहाँ उनमें बहुत सा मिश्रण होता है।

जब ग्लेशियर पिघल जाता है और शिला तत्वों को डाल देता है तो ऐसा देखा गया है कि ४०-५० फीट व्यास के एक टुकड़े वाले टुकड़ों से लेकर बारीक बालू उसमें मिश्रित थी। ग्लेशियर का मलवा 'ड्रिफ्ट' कहलाता है। इस मलवे का अधिकतर भाग 'बोल्डर क्ले' कहलाता है; क्योंकि उसमें कांक में पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े मिले रहते हैं। इस मलवा में अनेक प्रकार के कणों का मिश्रण (हेट्रोजीनस) होता है।

ग्लेशियर के मलवे की अन्य विशेषतायें ये हैं :—

(१) मलवे में पर्तों (स्ट्रैटीफिकेशन) का अभाव होता है।

(२) उसमें आकार के अनुसार कणों का पृथक्करण नहीं होता। और
(३) उसमें चिपटे और खुरदरे पत्थर के टुकड़े वर्तमान रहते हैं।

ग्लेशियर में शिलातत्व अनेक प्रकार से आते हैं। कुछ शिला तत्वों को तो हवा बहा ले आती है; कुछ घाटियों की दीवारों से घर्षण के कारण गिरते हैं; और अधिकतर भाग वर्फ के फटान (एवलांश) के साथ गिरते हैं। इसके अतिरिक्त ग्लेशियर को अपनी तली से भी शिला तत्व उपलब्ध होते हैं। चट्टानों के कुछ टुकड़े तो तली से बर्फ यों ही चलते-चलते उखाड़ लेती है, और कुछ को रगड़ कर पीस लेती है।

आकृति निर्माण के अन्य साधनों के विपरीत वर्फ अपने साथ में बिना कणों के परिमाण का ध्यान दिये ही शिला तत्व को लाती है। वर्फ में मलवा किस प्रकार आता है, इस बात को ध्यान में रखने से ज्ञात होगा कि घाटी वाले ग्लेशियर में मलवा तीन खंडों में चलता है :—

(क) तली के निकट, (ख) ऊपरी तह के निकट और (ग) 'क' और 'ख' के मध्य वर्फ की भीतरी तहों में जमा हुआ। सब से ऊपरी तह में मलवा की मात्रा सबसे अधिक होती है; क्योंकि वहाँ पवनों से तथा घाटी की दीवारों से बहुत मिट्टी आती है। तली में भी मलवा अधिक रहता है; क्योंकि वहाँ पर चट्टानें अधिक टूटती हैं। ग्लेशियर के घर्षण संबंधी कार्य का अभी पूर्णतया अध्ययन नहीं हुआ है। इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथमतः यह कार्य दुर्गम पहाड़ों में ही अध्ययन किया जा सकता है और दूसरे यह कि जिस सतह पर घर्षण क्रिया का प्रभाव पड़ता है वह कई हजार फीट मोटी बर्फ के नीचे छिपी रहती है। ग्लेशियर-जन्म घर्षण के विषय में हमारे जो भी निष्कर्ष हैं, वे उन्हीं ग्लेशियरों तक सीमित हैं। जो पीछे हट चुके हैं। ग्लेशियरों के संबंध में सबसे उपयोगी अध्ययन प्राचीन काल में ग्लेशियरों द्वारा ढके हुए योरप और अमेरिका के निचले मैदानों से ही हो सका है।

ग्लेशियर जन्य घर्षण के विषय में ठीक ढंग से विचार करने के लिए दो बातों पर ध्यान रखना चाहिये। पहला यह कि ग्लेशियर-जन्य घर्षण पृथ्वी के थोड़े ही भाग पर प्रभाव डालता है, और यह घर्षण निरन्तर न होकर केवल एक निश्चित काल तक ही रहता है।

ग्लेशियर घर्षण का सिद्धान्त

ग्लेशियर-जन्य घर्षण के विषय में बहुत मतभेद है। कुछ लोग इसको नगण्य महत्व देते हैं (उदाहरणार्थ हेम, १८८५)। तथा अन्य लेखक (जैसे हेस, १९०४) इसे अत्यधिक महत्व देते हैं। एक वर्ग के विद्वान ग्लेशियर की घर्षण की सबसे बड़ी शक्ति मानते हैं। अन्य लोग वर्फ के आवरण को शिलाओं का रक्षक मानते हैं।

ग्लेशियर क्षेत्र में घर्षण के उदाहरण असमान रीति से मिलते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि ग्लेशियर एक भाग में घिसता है, किन्तु दूसरे भाग में पर्त को घिसने से बचाता है

साधारणतया जहाँ ग्लेशियर ढालू होता है वहाँ घर्षण के चिन्ह सुरलतापूर्वक नहीं पाये जाते। यहाँ मुख्य काम ग्लेशियर के नीचे वहने वाली जल धारा करती है। यह धारा टेढ़ी और सकरी नालियाँ बना देती है। जहाँ कई ढाल का अन्त होता है वहाँ ये नालियाँ बहुतायत से मिलती हैं। यहाँ पर वास्तव में घर्षण होता है, पर लंबाई में।

किनारों को काट कर ही ग्लेशियर अपनी घाटी को विस्तृत करता है। इससे ग्लेशियर के क्षेत्र का आकार चढ़ाव-उतार वाला (हमकी) हो जाता है।

अन्य द्रवों के समान वर्फ भी घर्षण की शक्ति रखती है; किन्तु वर्फ और पानी की घर्षण दशायें भिन्न हैं। पानी की अपेक्षा ग्लेशियर की गति नगण्य होती है।* इसकी गहराई बहुत होती है; और यह पूर्णतया चट्टान को नहीं छूती है।

ग्लेशियर की गति, मोटाई और तल को छूते रहना ढाल के साथ बदलते रहते हैं किन्तु गति को छोड़कर यह संबंध सीधा नहीं रहता है। अधिक समतल भागों में वर्फ की मोटाई अधिक होती है। ढाल के निकट वर्फ की मोटाई और तल से संबंध दोनों ही न्यूनतम होते हैं। ढाल पर वर्फ में दरारें भी पड़ जाती हैं जिससे चट्टान पर उसका दबाव कम हो जाता है। इस भाग में अधिक गति होने से भी वर्फ का दबाव कम होता है।

हिम घर्षण (ग्लेशियर इरोजन) के सिद्धान्त की परिभाषा दिमार्तोन ने निम्नलिखित दी है :—

"यदि ग्लेशियर के तल का ढाल समान नहीं है, जो कि तथ्य है, तो दरार क्षेत्र (क्रेवास) के दोनों ओर, ऊपर और नीचे सबसे अधिक घर्षण होता है।"

स्वभावतः ज्यों-ज्यों हम स्नाउट की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों हिम द्वारा घर्षण कम होता जाता है, और स्नाउट पर वह समाप्त हो जाता है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये
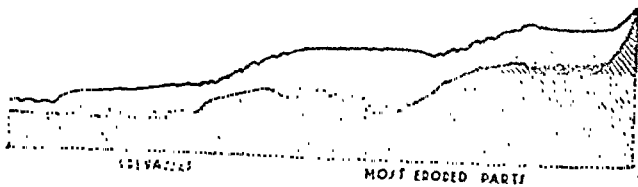
चित्र ११५—हिम घर्षण

*आल्प्स में सबसे अधिक गति रोन नदी के ग्लेशियर, मेयर दग्लास, की ९७ मीटर प्रति वर्ष है। दालेट्स ग्लेशियर की गहराई ५०० मीटर है। वालो ने यह सिद्ध कर दिया है कि मेयर दग्लास में वर्फ और चट्टान के बीच रिक्त स्थान है।

कि ग्लेशियर में केवल हिम द्वारा ही घर्षण नहीं होता है, वरन् पिघले हुए जल से भी। ब्रुन्स ने उसे पूर्ण रीति से सिद्ध किया है। नीचे दिये हुए चित्र में दिमार्तोन का हिम-घर्षण सिद्धान्त समझाया गया है। चित्र में जो भाग अधिक काले हैं उनमें घर्षण अधिक होता है। यहाँ बर्फ की मोटाई अधिक है और ढाल कम। ऊपरी रेखा में दरारी क्षेत्र मोड़ों से चिन्हित है—

ग्लेशियर द्वारा लाया हुआ शिला तत्व उसी समय से सञ्जित होने लगता है जबसे बर्फ पिघलने लगती है और ग्लेशियर हिम रेखा के नीचे पहुँचता है। इस संचित मलबे को 'मोरेन' कहते हैं। जो तत्व घाटीवाले ग्लेशियर के अन्त में एकत्र होता है वह पहाड़ी के आकार का होता है और उसे 'टर्मिनल मोरेन' कहते है। इसकी ऊँचाई १०० फीट से ३०० फीट तक हो सकती है। प्रत्येक बार जब ग्लेशियर पीछे की ओर हटता है तो वह अपने साथ लाया हुआ मलवा पहले वाले स्थान के थोड़ा पीछे डाल देता है। जब ग्लेशियर एक ही दिशा में पीछे नहीं लौटता वरन् असम्बद्ध रीति से लौटता है, तब ये पहाड़ियाँ अन्तर संबद्ध होती हैं। इन पहाड़ियों के बीच के गर्तों में कभी कोई झील बन जाती है। यदि ग्लेशियर इन पहाड़ियों पर से फिर कभी होकर चलता है, तो वह इनके पदार्थ को उठा कर जमीन पर फैला देता है।

जो पदार्थ ग्लेशियर के पार्श्व-प्रदेश में सञ्जित होता है उसे 'लेटरेल मोरेन' कहते हैं।

चित्र ११६—ग्लेशियर

(बाईं ओर मोरेन की पतली पट्टी है)

लेटरेल मोरेन की एक ही पहाड़ी होती ह। इसकी भी ऊँचाई कई सौ फीट होती है।

जब दो ग्लेशियर आपस में मिल जाते हैं तो उनके लेटरेल मोरेन ढूहे भी आपस में मिल जाते हैं। ऐसी संयोजक पहाड़ियों को मीडियल मोरेन कहते हैं।

जो शिलातत्व टर्मिनल मोरेन से आगे किन्तु ग्लेशियर के तल प्रदेश में सज्जित होता है उसे 'ग्राउन्ड मोरेन' कहते हैं। चूँकि वर्फ में समान रूप से शिलातत्व का वितरण नहीं होता है, अतएव ग्राउन्ड मोरेन की मोटाई कहीं अधिक और कहीं कम होती है। स्थल का जैसा आकार होता है वैसा ही आकार इस ग्राउन्ड मोरेन का हो जाता है। यदि ग्राउन्ड मोरेन समतल मैदान में होता है और उसकी मोटाई अधिक होती है, तो उससे छोटे-छोटे टीले बन जाते हैं। इन टीलों को 'ड्रमलिन' या 'अण्डे की टोकरी' कहते हैं। ये ५० से ६० फीट तक ऊँचे होते हैं। यदि संक्षिप्त शिलातत्व की तह पतली हुई तो उससे गर्त बनते हैं।

ग्लेशियर से निकलने वाली नदी वर्फ से इतनी अधिक मिट्टी ले आती है कि वह उसको आगे नहीं ले जा सकती। परिणामतः वर्फ की खोह के निकट से ही संचय प्रारंभ हो जाता है और वहाँ काफी मिट्टी पड़ जाती है। जैसे डेल्टा में मिट्टी के बोझ के कारण नदी की अनेक शाखायें हो जाती हैं वैसे ही यहाँ भी नदी की अनेक शाखायें मिट्टी फैला देती हैं। मिट्टी के इस फैलाव को 'एल्यूवियल फैन' कहते हैं। इसमें सबसे मोटे कण वाली मिट्टी वर्फ के निकट होती है। 'एल्यूवियल फैन' को 'आउट वाशप्लेन' भी कहते हैं। ऊपर की ओर बढ़ते-बढ़ते कहीं-कहीं इस मिट्टी के नीचे वर्फ का भी कुछ भाग दब जाता है। जब वह वर्फ पिघल जाती है, तो मिट्टी बैठ जाती है और गड्ढा बन जाता है। इन गढ़ों में झीलें भर जाती हैं।

जिन घाटियों में पहले ग्लेशियर थे उनको अनेक विशेषतायें होती हैं। ग्लेशियर द्वारा छोड़ी हुई बहुत सी कंकड़ियाँ एक दूसरे के संघात के कारण अथवा घाटी के तल के संघात से चिकनी तथा सीधी बन जाती हैं। उनमें अनेक लकीरें भी पड़ जाती हैं। घाटी की दीवारें तथा उसका तल भी चिकना हो जाता है।

ऊपर वर्णित आकार हिम संचित आकार हैं। नीचे जिन आकारों का वर्णन है, वे हिम-अपहरित आकार हैं। प्रमुख अपहरण जनित आकार—

(क) अर्द्ध वृत्तीय गर्त, (सर्क), (ख) U आकार की घाटियाँ, (ग) टँगी घाटी (हैंगिंग वेली), (ट) भेड़-शिला (शीप राक)।

कभी-कभी ऊँचे पर्वतों के किनारे बड़े-बड़े गर्त बर्फ के नीचे की ओर काटने से बन

जाते हैं। ये गर्त अर्द्ध वृत्ताकार और एक ओर खुले होते हैं। इस खुले भाग से पर्वत की और पीछे ढाल होता है, अर्थात् भीतर की ओर गहराई अधिक होती है। इस खुले भाग को छोड़कर अन्य ओर ऊँची-ऊँची सीधी पहाड़ की दीवारें होती हैं। जब ग्लेशियर विद्यमान होता है, तब इस गर्त में बर्फ भरी होती है। ऐसा विश्वास है कि इस गर्त की रचना ग्लेशियर द्वारा ही होती है।
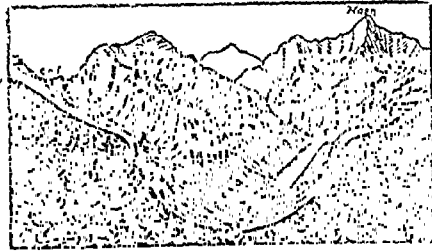
चित्र ११७—हिमजन्य आकार

शीत काल में बर्फ के जो टुकड़े पहाड़ों की ढाल पर यत्र-तत्र पड़े रहते हैं वे ग्रीष्म ऋतु में पिघलते हैं। पिघली हुई बर्फ का जल चट्टान के छिद्रों में भर जाता है। रात्रि के समय इन छिद्रों में जल जम जाता है और छिद्र को चौड़ा कर देता है। यह जल पिघल क्रिया बहुत समय तक चलती रहती है और अन्त में शिला को तोड़ देती है। कुछ काल में इस प्रकार चट्टान में एक गढ़ा बन जाता है, जिसमें बर्फ सदैव रहती है और उस गढ़े को निरन्तर विस्तृत बनाती है। इसी प्रकार अर्द्ध वृत्ताकार गर्त (सर्क) बनता है।

चोटी की ओर घर्षण की प्रगति में बर्फ का पिघला जल (मेल्ट वाटर) सहायक होता है।

ग्लेशियर को घेरने वाली खुली पहाड़ी पर कभी-कभी ताप ऊँचे-नीचे होते रहते हैं। इससे पहाड़ों से शिला टूटती रहती है और गर्त विस्तृत हो जाता है। पहाड़ों के ढाल के सहारे-सहारे यह जल बर्फ के नीचे पहुँच जाता है और वहाँ भी चट्टानों को तोड़ देता है। इन दोनों प्रकारों से बर्फ के पिघले जल के कारण गर्त को घेरने वाली पहाड़ियाँ खड़े ढाल वाली हो जाती हैं।

जब समान ऊँचाई पर तथा पहाड़ के विपरीत ढाल में स्थित दो गर्त एक दूसरे की ओर बढ़ते रहते हैं, तब उनके बीच की दीवार टूट जाती है, इस दीवार के टूटने से दोनों गर्तों में मार्ग खुल जाता है। इस मार्ग को 'कोल' कहते हैं। जब कई गर्त एक ही पहाड़ की चारों ओर से अपना विस्तार करते हैं, तब एक 'हार्न' बन जाता है जो अनेक ढालों वाला 'स्तंभ' या 'पिरामिड' कहलाता है। आल्प्स में 'मेटर हार्न' नामक पहाड़ इसका उदाहरण है।

(ख)—आकार घाटी नदी की तरह ग्लेशियर नई घाटी नहीं बना सकता है। यह केवल सकरे पेटे वाली **V** के आकार की घाटी को चौड़ा करके बड़े पेटे वाली **U** के आकार

की कर सकता है? ऐसी घाटियाँ ग्लेशियर-जन्य घर्षण की उदाहरण हैं। घाटी वाले ग्लेशियर जब पर्वत की घाटियों से होकर चलते हैं तो उनके कोने और मोड़ें दूर कर देते हैं। संकुचित तल वाली घाटियों को विस्तृत कर U के आकार वाली घाटी बना देते हैं।

चौड़े पेंदे वाली U आकार की घाटी की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(अ) चौड़ी तली, जिसमें कहीं-कहीं अधिक नीचे भागों में झीलें होती हैं;

(ब) सीधी दीवारें; और

(स) छोटी-मोटी मोड़ों का अभाव।

(ग) टँगी घाटी—घाटियों वाले ग्लेशियर अपनी घाटियों को उनकी पहली दशा से अधिक गहरा बना देती हैं। इसी प्रकार सहायक नदियों की घाटी वाले ग्लेशियर अपनी अपनी घाटी को गहरा करते हैं परन्तु उतना गहरा नहीं बना पाते हैं जितना कि प्रमुख ग्लेशियर, क्योंकि उनमें बर्फ की राशि कम होती है; और इसके अतिरिक्त मुख्य ग्लेशियर की बर्फ छोटे ग्लेशियर की बर्फ को बहने में रुकावट डालती है। परिणामतः पिघलने के कारण जब ग्लेशियर लुप्त हो जाता है तो सहायक नदियों की घाटियाँ प्रमुख घाटी से काफी ऊँचाई पर स्थित होती हैं। इन सहायक घाटियों को टँगी घाटी कहते हैं। इनकी मुख्य पहचान यह होती है कि जहाँ वे मुख्य घाटी से मिलती हैं वहाँ सीधा ढाल होता है। वहाँ पर जल-प्रपात भी होता है।

ग्लेशियर बाधाओं को बचाता नहीं। वह उनके ऊपर चलता है और उन्हें रगड़ डालता है। जिस दिशा से ग्लेशियर चट्टान पर चढ़ता है उस ओर मन्द ढाल बन जाता है। किन्तु जिस दिशा में वह चट्टान से नीचे उतरता है उस ओर वह चट्टान को अधिक तोड़ देता है जिससे उतरनेवाला ढाल काफी गहरा होता है। आल्प्स पर्वत में जहाँ ग्लेशियर डोलोमाइट चट्टान वाली घाटियों पर से होकर गुजरते हैं, वहाँ उन्होंने छोटे-छोटे पिंडों को रगड़ करके अंडाकार टीलों का रूप दे दिया है। दूर से देखने पर ये टीले भेड़ के आकार की लगती हैं। अतएव इन्हें भेड़ शिलाएँ कहते हैं।

विपरीत ढाल की चोटी पर बर्फ में खिचाव उत्पन्न हो जाता है जिससे उसका द्रव बिन्दु (मेल्टिंग प्वाइन्ट) ऊँचा हो जाता है। ग्लेशियर के भीतर का द्रव बिन्दु दबाव ताप बिन्दु है, इसलिये बर्फ के दबाव में तनिक भी कमी होने से कड़ी होती है और चट्टान को अच्छी प्रकार पकड़ लेती है। जहाँ पर स्वच्छ बर्फ चट्टानें को पकड़ती है वहाँ बर्फ की खिचाव शक्ति (टेन्शनल फोर्स) कम से कम लगभग सात टन प्रति वर्ग फुट होती है। इतनी बड़ी शक्ति के सामने चट्टान टूटकर स्वभावतः खड़ा ढाल हो जाता है।[1]

---

[1] ड्रमलिन में भी एक खड़ा ढाल और दूसरा मन्द ढाल होता है, परन्तु उसमें खड़ा ढाल उस ओर होता है जिधर से बर्फ आती है।

(इन्टरग्लेशियल स्टेज) कहते हैं। हम लोग ऐसे समय में रह रहे हैं जब हिम-पर्त्त पीछे हट चुकी है। ज्ञात नहीं कि कुछ समय बाद बर्फ बढ़ेगी या नहीं। यदि ऐसा होता है तो वर्त्तमान युग को 'अन्तर्हिमावस्था' कहा जायगा। प्राचीन काल में ऐसी अवस्था हजारों वर्ष तक रही है। उदाहरणार्थ, रिस और उर्म हिम युगों के बीच का समय ७५,००० वर्ष से कम का नहीं माना जाता है।

आल्प्स में प्लाइस्टोसीन काल चारों हिम युगों के नाम क्रम के अनुसार निम्नांकित हैं।

(१) गुन्ज (प्राचीन तम)

(२) मिन्डल

(३) रिस

(४) उर्म

हम लोगों को अब भी हिम युग के कारणों के विषय में कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। ऐसा माना जाता है कि ये अनेक कारणों से हुए हैं जिनमें सौर्यिक शक्ति, पर्वतों का निर्माण तथा ज्वालामुखी के विस्फोट सम्मिलित हैं।

हिम युगों में पाई जाने वाली हिम पर्तों में असीम जलराशि बँधी रही होगी। यह जल समुद्रों से ही गया होगा। इसलिये प्रत्येक हिम युग में समुद्र तल बहुत नीचा हो गया होगा। जब बर्फ पिघली, तब जल समुद्र को फिर लौट गया और समुद्र तल ऊँचा उठ गया। इसलिये यह कहा जा सकता है कि हिम युगों के कारण पृथ्वी पर महान् परिवर्तन हुए हैं।

नदियाँ और नदियों की घाटियाँ

धरातल पर जल बहने के लिए नदी एक प्रकृति द्वारा बनी हुई नाली है। अतिरिक्त जल को बहा ले जाने का यह एक साधन है। इसमें जल का बहाव आकर्षण शक्ति के कारण होता है जो जल को पृथ्वी के केन्द्र की ओर खींचती है। पानी सबसे सुगम दिशा की ओर बहता है। अतएव यह नीचे की ओर बहता है, जिधर ढाल होता है। सारांश यह है कि ढाल और जल से नदी की उत्पत्ति होती है। जब पानी नीचे की ओर बहता है तो वह अपने साथ बहुत से शिला-तत्वों को बहा ले जाता है। इनमें कुछ तत्व घुली हुई अवस्था में जाते हैं, कुछ पानी में टँगे हुए जाते हैं, और कुछ नदी की तली में खिंचे जाते हैं। पानी के बहाव के कारण, और विशेषकर उसमें बहते हुए शिलातत्व के द्वारा कटाव के कारण स्थल पर घाटियाँ बन जाती हैं। स्थल में ऊँचाई-निचाई को बनाने में तथा कहीं मिट्टी को हटाने के लिए नदियाँ सबसे अधिक शक्तिवान साधन हैं। आकृति निर्माण में नदी की दो बातें स्मरणीय हैं। सर्वप्रथम नदी में जल होता है, द्वितीय, यह जल बहता है। ये दोनों बातें साधारण रीति से विचार करने पर चाहे महत्वपूर्ण न ज्ञात

हों, पर नदी घाटी की नींव इन्हीं पर पड़ी है। पानी द्रव पदार्थ है जिसमें कार्बन डाई आक्साइड जैसी काटने वाली गैसें रहती हैं।

द्रव पदार्थ होने के कारण चट्टान के छिद्रों में और दरारों में जहाँ अन्य साधन नहीं पहुँच सकते हैं वहाँ जल अपनी काटने वाली गैसों के सहित पहुँच जाता है। गैसों की सहायता से चट्टान के कण घुल जाते हैं। कुछ कणों के घुल जाने के कारण अन्य कण ढीले पड़ जाते हैं और इसलिये 'अपहरण' के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार चट्टानों का अधिकांश क्षरण नदी के जल की द्रवता और उसके रासायनिक गुण के कारण होता है।

नदी का वहाव जल शिला तत्वों को घोल और मलवा के रूप में बहा ले जाता है। मलवा* के महीन कण जल में लटके हुए बह जाते हैं, और बड़े कण तथा पत्थर लुढ़कते जाते हैं। चट्टानों की क्षय में यह लुढ़कना काफी महत्व रखता है। लुढ़कते समय चट्टान के टुकड़े आपस में तथा तल की अब तक ठोस चट्टानों से टकराते जाते हैं जिससे चट्टानों में बहुत टूट-फूट होती है। लुढ़कने की शक्ति घाटी के निर्माण में बड़ा कार्य करती है। इस शक्ति का महत्व इस बात से ज्ञात होता है कि यदि नदी के जल में अथवा उसकी गति में तनिक भी वृद्धि हो जाय तो लुढ़कने की शक्ति में अपार और तुरन्त वृद्धि होती है। ऐसा देखा गया है कि यदि बहते जल को मिश्रित मलवा बहा ले जाता है जिसमें छोटे-बड़े सभी प्रकार के कण हैं तो उसकी ढकेलने की शक्ति एक नियत मात्रा की तीन अथवा चार गुणन होती है, यद्यपि कुछ टुकड़ों के लिए वह शक्ति छै गुणन तक होती है।[1] उदाहरण के लिए, यदि कोई बहता हुआ जल एक नियत गति पर १ पौंड बोझ के टुकड़े बहा ले जा सकता है, तो उसकी दूनी हो जाने पर वह २ पौंड का नहीं वरन् ६४ पौंड के ($२^६ = २ \times २ \times २ \times २ \times २ \times २ = ६४$) बोझ का पत्थर बहा ले जायगा और यदि गति दस गुनी हो जाय तो वह १० लाख पौंड का पत्थर बहा ले जायगा। परन्तु जहाँ पर मिश्रित मलवा होता है वहाँ ढकेलने की शक्ति अधिक नहीं बढ़ती है। परन्तु बहते जल की प्रवृत्ति मलवा को छाँटने की रहती है। इसलिये बहते जल में प्रायः एक भाग में एक ही प्रकार के कण और टुकड़े होते हैं। इसलिये बढ़ी हुई ढकेलने की शक्ति का लाभ नदी को बहुधा मिलता है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि नदी की गति कम हो जाने पर इसके विपरीत फल होता है। उसके ढकेलने की शक्ति गति के अनुपात से कहीं अधिक कम हो जाती है। यही कारण है कि वर्षा ऋतु में जब नदियों में जल अधिक होता है, तब बड़े-बड़े पत्थर शीघ्र

*ऐसा अनुमान है कि स्थल से लगभग ८०० करोड़ टन चट्टानों का मलवा प्रतिवर्ष समुद्र में जाता है, जिसमें से लगभग ३० प्रतिशत घोल के रूप में जाता है।

[1] गुणन का अर्थ है $४^५$ $४^६$ इत्यादि।

बह जाते हैं, परन्तु सूखी ऋतु में नदी में जल कम हो जाने पर शक्ति इतनी कम हो जाती है कि छोटे-छोटे टुकड़े भी अपने स्थान पर पड़े रहते हैं। गति की कमी से ढकेलने की शक्ति में बहुत अधिक ह्रास हो जाने के कारण ही जहाँ-कहीं बहाव में तनिक भी रुकावट आती है, वहाँ मलवा जमने लगता है, यद्यपि जल की मात्रा पूर्ववत ही रहती है।

नदी का कार्य दो प्रकार का होता है; (अ) ढकेलना (कोरेजन); और (ब) घोलना (करोजन)। ढकेलने में स्थूल कार्य प्रधान रहता है; और घोलने में रासायनिक क्रिया प्रधान रहती है। ढकेलने का कार्य नदी में उपस्थित मलवे की सहायता पर विशेषतः निर्भर है। इसके अतिरिक्त नदी की जलराशि और उसकी गति चट्टान की प्रकृति का भी प्रभाव इस कार्य पर अधिक होता है। घुलने का कार्य रासायनिक कार्य है और बहुत धीरे-धीरे होता है। इस कार्य में नदी की जलराशि और उसमें मिश्रित रसायन का प्रभाव अधिक होता है। चट्टान की प्रकृति का प्रभाव भी इस कार्य में महत्व रखता है।

नदी का कार्य सब जगह और सब काल में एक समान नहीं होता है। इस अन्तर के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं:—

(अ) भिन्न-भिन्न समय में वर्षा का होना।

(ब) बहते जल में भँवरों का होना जिनसे चट्टान पर जल का पूरा प्रभाव नहीं पड़ता और

(स) भिन्न-भिन्न प्रकार की चट्टानों का होना जिससे उन पर जल का समान प्रभाव नहीं पड़ता है।

चट्टानों को स्थूल अथवा रासायनिक साधनों से तोड़ना-फोड़ना, टूटे पदार्थ को हटाना और छोड़ना आदि कार्य नदी के 'अपहरण' (इरोजन) कार्य कहलाते हैं। अपहरण कार्य की सहायता से ही नदी अपनी घाटी बनाती है और उसे बराबर चौड़ी करती रहती है। जैसा ऊपर देखा गया है, यह अपहरण कार्य स्थान, काल, और चट्टान की दशा के अनुसार बदलता रहता है।

जल का संतुलित और अपरिवर्तित बहाव ही धरातल पर नदी का ध्येय है। उसके क्षेत्र का जल समुचित रूप से बिना रुकावट के बह जाय यही नदी का कार्य है। कहाँ कटाव होना चाहिए और कहाँ भराव यह कार्य नदी अपने जल के समुचित बहाव के लिए ही करती है। नदी के जल का बहाव उसके निम्नतल (बेजलेविल) तक ही होता है; उसके आगे नहीं। इसलिए घाटी का कटाव अथवा चौड़ा होना इस निम्नतल द्वारा ही निर्धारित होता है। निम्नतल को 'ग्रेड' ग्रेडियन्ड तथा ढाल भी कहते हैं। नदी का ढाल ऐसा होता है कि बहाव के मार्ग में कहीं भी निम्नतल की ऊँचाई से नीचे जल नहीं काटता। यह निम्नतल नदी का मुख (मुहाना) होता है। समुद्रतल ही सार्वभौमिक निम्नतल है।

है। उसी में बड़ी नदियों का जल बहता है। परन्तु सहायक नदियों का निम्नतल उनकी प्रमुख नदी में वहाँ होता है जहाँ वे उससे मिलती हैं। कहीं पर झीलों में नदी बहती है। ऐसी नदी का निम्नतल वह झील है। इस प्रकार के निम्नतल को स्थानीय निम्नतल, (लोकल) अथवा क्षणिक (टम्पोरेरी) निम्नतल कहते हैं। निम्नतल से नीचे घाटी का कटाव असाध्य है क्योंकि पानी को बहने और मलवे को बहाने के लिए ढाल चाहिये, गढ़ा नहीं। नदी के उद्गम और समुद्र के मध्य ढाल के कारण ही नदी का जल बहता है, ज्योंही जल अपने निम्नतल (समुद्र झील अथवा प्रमुख नदी) पर पहुँच जाता है, उसका बहना रुक जाता है। कम से कम ढाल को जिस पर नदी का जल और उसका मलवा बह सके 'ग्रेड' कहते हैं। यह 'ग्रेड' एक धनुपाकार आकार है जिसका लगभग समतल खण्ड नदी के मुख पर होता है जहाँ जलराशि सबसे अधिक होती है, और उसका सबसे खड़ा भाग उद्गम के निकट होता है जहाँ जल राशि सब से कम होती है। अपहरण क्रिया द्वारा नदी की प्रवृत्ति 'पूर्ण ढाल' (परफेक्ट ग्रेड) पाने की ओर रहती है। परन्तु कोई भी 'पूर्ण ढाल' चिरस्थिर नहीं होता है। दशाओं के परिवर्तन के अनुसार वह भी बदलता है। १८७३ में अमेरिका के पावेल ने कोलोरेडो की सकरी घाट पर रिपोर्ट देते समय निम्नतल के सिद्धान्त की परिभाषा की थी।

यद्यपि समुद्र तल सार्वभौमिक निम्नतल माना जाता है, तथापि स्थल के लगभग २७ प्रतिशत क्षेत्रफल अर्थात् २॥ करोड़ वर्गमील का जल वहाँ नहीं पहुँचता है। ऐसे क्षेत्रों में बर्फ से ढँके हुए ध्रुव के क्षेत्र, भीतरी बहाव (इनलैंड ड्रेनेज) के क्षेत्र, तथा मरुभूमि जहाँ जल बहता ही नहीं है, सम्मिलित है। भीतरी बहाव के क्षेत्रों में कुछ निम्नलिखित हैं —

(अ) कास्पियन सागर जो समुद्र तल से लगभग ८५ फीट नीचे है।

(ब) अरल सागर जो समुद्र तल से लगभग २४० फीट की ऊँचाई पर है।

(स) तारिम बेसिन।

(द) उत्तरी अमेरिका का पश्चिमी भाग।

परन्तु समुद्र तल स्वयं ही स्थिर नहीं है। धरातल के उठने अथवा नीचे होने से तथा हिम युगों के कारण समुद्र का तल ऊपर या नीचे होता है।

चित्र ११८—घाटी का निर्माण आधार दिमार्तोन

(१–२ में नीचे की कटाई प्रमुख है, ३–४–५ में किनारों की कटाई प्रमुख है। ५ में निम्नतल है।)

जब नदी को पूर्ण ढाल मिल जाता है, तो कटाव की मात्रा बहुत कम हो जाती है। इस अवस्था में अरण के द्वारा ही नदी की घाटी चौड़ी होती है। इस समय घाटी की दीवारें नीचे होती जाती हैं, और ढाल मन्द हो जाते हैं। नीचे दिये हुए चित्र में यह दिखाया है कि नदी को 'पूर्ण ढाल' कैसे प्राप्त होता है।

अपनी घाटी बनाने में नदी को दूसरे साधनों से भी सहायता मिलती है। यह सहायता घाटी की दीवारों पर स्पष्ट रूप से दिखती है। इन दीवारों में वर्षा का जल सोख जाता है। इससे चट्टान के कण ढीले और फिसलने वाले हो जाते हैं। आकर्षण शक्ति के प्रभाव से ये कण नीचे लुढ़क पड़ते हैं और नदी जल के द्वारा बह जाते हैं। कणों के इस फिसलने को 'सोलीफ्लक्शन' कहते हैं। किनारे की दीवारों में इसीलिये बहुधा फटान (लैन्डस्लाइड) हुआ करती है। सोलीफ्लक्शन से ऐसी चट्टानें टूटती हैं जिन तक नदी का जल नहीं पहुँच सकता है। इस प्रकार नदी की घाटी चौड़ी हो जाती है।

ज्यों-ज्यों नदी की घाटी चौड़ी होती जाती है, त्यों-त्यों विस्तृत क्षेत्र का जल बहाने के लिए नई नदियाँ बनती हैं। ये नदियाँ प्रमुख नदी की सहायक होती हैं, परन्तु उनका कार्य पूर्णतः प्रमुख नदी का सा होता है। वे भी कटाव और भराव द्वारा अपने जल के लिए एक पूर्ण ढाल बनाने में लग जाती हैं। इस प्रकार एक विस्तृत 'नदी प्रवाह क्षेत्र' (रिवर बेसिन) बन जाता है।

नदियों का कटाव अपने उद्‌गम की ओर होता है। सहायक नदियाँ भी इसी प्रकार काटती हैं। ऐसा करने में कहीं-कहीं वे अपने से दूसरी ओर बहने वाली नदी के क्षेत्र में पहुँच जाती हैं और उसका जल अपनी ओर खींच लेती हैं। दूसरे क्षेत्र का जल अपने में खींच लाने में इनको अपनी बढ़ाई हुई अपहरण शक्ति से सहायता मिलती है। इस क्रिया को 'नदी हरण' (रिवर कैप्चर) कहते हैं।

इस प्रकार नदी की घाटी के निर्माण में निम्नलिखित अवस्थायें सम्मिलित हैं—

(अ) घाटी का गहरा होना,

(ब) घाटी का लंबा होना (नदी हरण द्वारा)

(स) प्रवाहक्षेत्र का विस्तृत होना (जल विभाजकों के दूर होते जाने के द्वारा)

कटाव के समय कहीं-कहीं नदी को कठोर चट्टानों का सामना करना पड़ता है। जहाँ कहीं कोमल चट्टानें होती हैं वहाँ नदी अपना पथ उनको काट कर शीघ्र बना लेती है। परन्तु कठोर चट्टानें नदी के बहाव में रुकावट डालती हैं, यद्यपि यह रुकावट चिरस्थायी नहीं होती है। कठोर चट्टान की रुकावट के कारण नदी अपना पथ बदल देती है। इससे उसके पथ में मोड़ पड़ जाती है। यही कारण है कि नदी का पथ सदा टेढ़ा-मेढ़ा होता है। यदि नदी किसी भी प्रकार कठोर चट्टान की रुकावट से अपने को बचा नहीं सकती है, तो वह उसका सामना करती है। वह उस चट्टान के ऊपर बहने की चेष्टा

करती है। ऐसा करने में नदी का प्रवाह जल प्रपात द्वारा खंडित हो जाता है। जब तक कठोर चट्टान कट नहीं जाती है, तब तक यह खंडित प्रवाह चलता है।

संचय-कार्य (डिपोजीशन)

नदी अपने मलवे को आवश्यकतानुसार छोड़ती भी चलती है जिससे कहीं-कहीं निम्नलिखित मलवे से भर जाते हैं, और कहीं-कहीं मलवे के ढेर बन जाते हैं। संचय-कार्य का मुख्य कारण नदी के वेग में कमी हो जाना है। वेग में कमी निम्नलिखित कारणों से होती है:—

(क) निम्नतल की निकटता, अर्थात् नदी के ढाल में कमी पड़ना,

(ख) मलवे के भार के अनुपात से जलराशि में कमी, यह अवस्था जल की कमी से अथवा मलवा की वृद्धि से होती है।

(ग) प्रवाह मार्ग में रुकावट।

वेग में कमी होने पर मोटे कण और पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े सबसे पहले छूटते हैं। महीन कण और घुले हुए पदार्थ आगे तक चले जाते हैं। परन्तु जब नदी में बाढ़ के कारण जलराशि अधिक हो जाती है, तब यह छुटा हुआ मलवा फिर बहता है और आगे चला जाता है। इस प्रकार बाढ़ के समय नदी को अपने अधूरे कार्य को पूरा करने का समय फिर मिलता है।

नदी के पार्श्व भागों का जल उतनी गति से नहीं बहता है जितनी गति से मध्य भाग में धारा का जल बहता है। इसके दो मुख्य कारण हैं; पहला कारण तो यह है कि पार्श्व भागों में घाटी के किनारों से रुकावट पड़ती है। वहाँ का थल भाग जल को हटाता है। इसलिये इन भागों में जल का वेग कम होता है। दूसरा कारण यह है कि मध्यभाग की अपेक्षा वहाँ पर जलराशि कम होती है और इसलिए मलवे को वह पूर्ण प्रकार नहीं बहा पाती। पार्श्व भागों में वेग की कमी होने से वहाँ मलवा जमने लगता है। कहीं-कहीं पत्थर के बड़े टुकड़ों के ऊपर इस मलवा का बारीक भाग जम जाता है। इस बारीक मलवे से नदी के प्रवाह मैदान (फ्लड फ्लेन) बन जाते हैं। ज्यों-ज्यों ये मैदान ऊँचे होते जाते हैं, त्यों-त्यों इन मैदानों से नदी का जल साधारण दशा में दूर रहने लगता है। केवल बाढ़ के समय ही इन मैदानों में जल पहुँच पाता है। उस समय और अधिक मलवा जम जाने से ये मैदान अधिक ऊँचे हो जाते हैं। नदी के प्रवाह मैदान घाटी के मध्य भाग से ही आरम्भ होते हैं, क्योंकि इस भाग में ढाल अपेक्षाकृत मन्द होता है और इसलिये मलवा जमने की प्रवृत्ति अधिक होती है। प्रवाह मैदान घाटी के निचले भाग में अधिक चौड़ा हो जाता है; क्योंकि वहाँ ढाल बहुत कम होती है और नदी में मलवे की मात्रा अधिक होती है। प्रवाह मैदान में

नदी के परिवर्तनों के अनुसार बहुधा परिवर्तन हुआ करते हैं। नदी का बहाव इन मैदानों में इधर-उधर हुआ करता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश की कुछ नदियों में, जैसे सरयू नदी, नदी का बहाव कुछ घंटों में ही इधर से उधर मीलों दूर हो जाता है। इस बहाव-परिवर्तन का मुख्य कारण जल में मलवे का अधिक भार और नदी के संचय का ठोस न होना है। इसलिये ज्योंही नदी को तनिक भी रुकावट होती है, उसका मलवा उसके पथ में जम जाता है और इसलिये नदी का जल दूसरी ओर मुड़ जाता है जहाँ पर मुलायम बालू कटने लगती है और नई धारा बन जाती है। गर्मियों में जब नदी में जलराशि कम होती है, मलवा जमने के कारण नदी का बहाव बहुत टेढ़ा-मेढ़ा और अनेक द्वीप युक्त हो जाता है। ऐसे बहाव को 'ब्रेडेड' धारा कहते हैं। गंगा तथा घाघरा आदि नदियों के बहाव ऐसे ही जाते हैं।

प्रवाह मैदान में कहीं-कहीं बहाव के किनारे ऊँचे तट अर्थात् प्राकृतिक बाँध (लेवी) बन जाते हैं। कभी-कभी इनकी ऊँचाई १०-२० फीट होती है। इन बाँधों की उत्पत्ति भी नदी के मलवे के जमने से होती है। परन्तु ये बाँध प्रायः थोड़े दिनों में टूट जाते हैं। इन बाँधों के कारण नदी की धारा सीमित हो जाती है और इसलिए उसकी गति धीमी पड़ जाती है। गति धीमी होने से उसके मध्य भाग में भी मलवा जमने लगता है, और धीरे-धीरे उसका पेटा इतना ऊँचा हो जाता है कि बाढ़ आने पर नदी का जल बाँधों को तोड़कर उनके बाहर बहने लगता है।

नदी के बहाव को सीमित करने से संचय के कारण उसका पेटा सदा ऊँचा हो जाता है। इसीलिए जहा कहीं बाढ़ का विस्तार रोकने के लिए नदी के किनारे बाँध बनाये जाते हैं वहाँ बाढ़ का प्रकोप बढ़ जाता है। मिसीसिपी नदी के किनारे इस उद्देश्य से जितने भी बाँध बनाये गये वे सब निष्फल हुए। सौ वर्ष पूर्व इन बाँधों की ऊँचाई ४ फीट पर्याप्त थी। परन्तु इस समय २०-३० फीट की ऊँचाई वाले बाँध भी असफल ही रहे हैं। वास्तव में बाढ़ के प्रकोप को रोकने के लिए सफल उपाय नदी की ऊपरी घाटी में ही किये जा सकते हैं। जहाँ मलवा कम होता है और इसलिए जहाँ नदी के पेटा भरने की संभावना नहीं है। नदी की जलराशि पर नियंत्रण रखने से ही बाढ़ें रोकी जा सकती हैं। यह नियंत्रण निम्न उपायों द्वारा संभव है—

(क) घाटी के ऊपरी भाग में वन-रोपण,

(ख) नदी के पेटे की सफाई (ड्रेजिंग)

(ग) नदी के किनारे जहाँ-तहाँ झीलें बनाना जिनमें बाढ़ का जल रह सके।

प्रवाह मैदान के आगे का डेल्टा बन जाता है जहाँ मलवे का सबसे बारीक भाग जमता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है नदी का मीठा जल जब समुद्र के खारे जल से मिलता है, तब नदी का मलवा एकाएक छूटकर जम जाता है। मलवे में घुला हुआ और महीन

भाग इतना अधिक होता है कि डेल्टा समुद्र के भीतर से उसको पीछे ठेल देता है। बाहर निकले हुए डेल्टा के मैदान में धीरे-धीरे नदी का प्रवाह बढ़ जाता है। इस मैदान में नदी की अनेक शाखायें उसका जल समुद्र में ले जाती हैं। डेल्टा बनने की क्रिया रेल के लिए बाँध बनाने की क्रिया से मिलती-जुलती है। बाँध बनाने में गर्तों में मिट्टी फेंक कर उनको ऊँचा किया जाता है। डेल्टा बनने में नदी की शाखायें अपना मलवा समुद्र में डालती हैं और धीरे-धीरे उसको भर देती हैं।

नदी प्रणाली (रिवर सिस्टेम)

जब किसी ऊँचे स्थान पर वर्षा का जल गिरता है तब वह स्वतल, अर्थात् समुद्र में पहुँचने का प्रबन्ध करता है। आरंभ में वर्षा का जल समुद्र में ही भरा था। समुद्र तक पहुँचने के लिए जल को ढाल पर बहना पड़ता है। इस ढाल के सहारे उसे अपना स्थायी मार्ग बनाना पड़ता है। यह मार्ग नदी की घाटी है। इसी घाटी के द्वारा ही नदी समुद्र से मिलती है।

नदी का पथ ऊँचे-नीचे धरातल पर होकर बनता है, और धरातल की विशेषतायें उस पर अपना प्रभाव डालती हैं। आरंभमें जब स्थल-भाग समुद्र के ऊपर उठता है, तब नदियों का बहाव उसकी ऊँचाई और नीचाई के अनुसार होता है; अर्थात उनका आरंभिक पथ आरंभिक स्थल की दशायें निर्धारित करती हैं। इस प्रकार की नदियाँ अनुगामी (कान्सीक्वेन्ट) नदियाँ कहलाती हैं। अनुगामी नदियों को आड़ी (लांजीच्युडिनल) नदियाँ भी कहते हैं। इनका बहाव मोड़ों के बीच की घाटियों में रचना (स्ट्रक्चर) के समान होता है। इसलिए इनका बहाव जल विभाजकों के समानान्तर होता है। बाद में, नदियों की घाटियाँ बनने और विस्तृत होने पर नई सहायक नदियाँ उत्पन्न होती हैं। आदिकाल की नदियों में भी कभी-कभी मार्ग परिवर्तन हो जाता है। इन सब नदियों को उत्तरगामी (सबसीक्वेन्ट) नदियाँ कहते हैं। उत्तरगामी नदियों को वेड़ी (ट्रान्सवर्स) नदी भी कहते हैं। इनका बहाव रचना के विरुद्ध होता है। ये जल-विभाजकों से हटी रहती हैं। निम्नलिखित कारण से आदि काल की नदियों में परिवर्तन होते हैं:

(१) मार्ग के मोड़ समाप्त होकर सीधा बहाव स्थापित होना। यदि आरंभ से ही मार्ग सीधा है, तो सीधे मार्ग में कटाव के कारण मोड़ें उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) शिलाओं के अनुरूप मार्ग का होना। नदी का आरंभिक बहाव धरातल की ऊँचाई-नीचाई के अनुसार होता है, शिलाओं की प्रकृति के अनुसार नहीं। कहीं-कहीं ऐसा देखा जाता है कि नदी का बहाव कठोर चट्टानों पर है, और उसके पास इसी मुलायम चट्टानें उपस्थित हैं। इस दशा में मुलायम चट्टानों के कटने पर नदी उनमें बहने लगेगी और अपने प्राचीन मार्ग को छोड़ देगी।

(३) जल विभाजकों का पीछे हटना—पड़ोसी नदियों का उद्‌गम की ओर कटाव असमान होता है। इसका कारण यह है कि (अ) कुछ नदियों में जलराशि में वृद्धि हो जाती है, (ब) निम्नतल कुछ नीचे होता है, तथा मुलायम चट्टान अधिक कट जाती है। इस प्रकार, नदी के उद्‌गम की ओर कटाव होने पर जल विभाजक न केवल नीचा होता है, वरन् वह पीछे की ओर हट जाता है। चित्र ११६ में बिन्दु रेखाएँ यह स्पष्ट करती हैं।

समान ढाल नियम—जब नदी का बहाव निम्नतल को पहुँच जाता है, तब नदी की शक्ति अपनी घाटी को, विशेषतः ऊपरी घाटी को चौड़ा करने में लग जाती है। जल-विभाजकों के पीछे हटने से ही घाटी चौड़ी होती है। ऐसा देखा गया है कि जहाँ दोनों ओर पर शिलायें साधारण और चपटी हैं, और जहाँ जल वर्षा नदी के दोनों ओर समान है, वहाँ जल विभाजकों के ढाल मन्द होते हैं। मन्द ढाल बनने की इस प्रवृत्ति को कैम्पबेल का 'समान ढाल' (ईक्वल डिक्लेवटी) नियम कहते हैं। इस नियम में यह कहा गया है कि, "जब जल विभाजक के दोनों ढाल असमान हैं, तब खड़े ढाल का कटाव अधिक होकर जल विभाजक मन्द ढाल की ओर हटता जायगा जब तक कि दोनों ढाल बराबर न हो जायँ।"

एकांगी हटाव—जिन भागों में शिलाओं की बनावट मिश्रित है और उनके पर्त्तों में अधिक ढाल है, वहाँ जल विभाजक पर्त्तों की अधिक ढाल की ओर हटेगा जिससे दोनों-ढालों में असमानता (एसिमिट्रिकल) बनी रहेगी। इस प्रवृत्ति को **'एकांगी हटाव'** (मोनो-क्लाइनल शिफ़्टिंग) का नियम कहते हैं।

छोटी नदियाँ (इनसीक्वेन्ट और ओवसीक्वेन्ट)—ऐसी नदियों की सहायक-नदियाँ नहीं होती हैं; क्योंकि जिन क्षेत्रों में वे बहती हैं उनकी शिलायें ऐसी होती हैं कि नदियों में शिला के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता है। सपाट तलछटी (सेडीमेंन्ट) क्षेत्रों में, तथा विशाल ग्रेनिट शिला के क्षेत्रों में इस प्रकार की नदियाँ मिलती हैं। जहाँ ये नदियाँ बहुत होती हैं वहाँ की नदी प्रणाली को 'वृक्षाकार' (डेनाड्राटक) प्रणाली कहते हैं। जो सहायक नदी प्रमुख नदी की दिशा के विपरीत बहती है, उसको 'विपरीत गामी' (ओबसीक्वेन्ट) नदी कहते हैं। इस प्रकार की नदियाँ सहायक नदी की सहायक होती हैं, और प्रायः ऐसे क्षेत्र में मिलती हैं जहाँ विभिन्न जाति की शिलायें एक दूसरे के बाद सपाट कटिबन्ध में मिलती हैं। ऐसी दशा तटीय मैदानों में अधिकतर देखने में आती है।

पूर्वगामी (एन्टीसीडेन्ट) नदियाँ—भौतिक शक्तियों के कारण नदियों के कार्य में विघ्न पड़ जाता है। भौतिक शक्तियाँ कहीं पर धरातल को ऊपर उठा देती हैं। इस 'उत्थान' से नदी के बहाव में रुकावट पड़ जाती है जिससे नदी को हटाना पड़ता है, इस रुका-वट को नदी धीरे-धीरे और अपनी शक्ति को बढ़ा कर दूर करती है। प्रथम, उत्थान के

कारण खड़ा ढाल हो जाने से नदी के कुछ भाग में जल अधिक वेग से बहने लगता है और इसलिये पीछे की ओर अधिक कटाव होने लगता है। कभी-कभी तो कटाव और उत्थान समान गति से ही चलते हैं। दूसरे, उत्थान के कारण नदी के कुछ भाग में बहाव रुक जाता है जिससे वहाँ एक झील बन जाती है। इस झील की ओर से भी उत्थान पर नदी का धावा होता है। झील बन जाती है। झील का जल अपनी रासायनिक शक्ति से तथा अपने भार से उत्थान को आगे की ओर काटने लगता है। उत्थान के दोनों ओर कटाव के कारण शीघ्र ही उसके आर-पार एक सकरी घाटी (गार्ज) बन जाती है जिसमें होकर नदी पूर्ववत बहने लगती है, और झील का अन्त हो जाता है। ऐसी नदी को जो उत्थान के पहले से ही बहती थी, 'पूर्वगामी' नदी कहते हैं। पूर्वगामी नदी को पहचानने के चिन्ह नदी के मध्य भाग में (क) सकरी घाटी, और (ख) झील के मैदान हैं।

नेपाल में बहने वाली अरुण नदी इसका उदाहरण है। यह नदी २६००० फीट ऊँचे गोसाईंथान पर्वत के उत्तरी ढाल से निकलती है। खारकुंग के निकट यह नदी १८००० फीट ऊँचे यो-री पहाड़ के आर-पार एक सकरी घाटी द्वारा बहती है। इस सकरी घाटी के १२ मील ऊपरी भाग में नदी की घाटी चौड़ी है और वहाँ पर हिम द्वारा लाई हुई मिट्टी फैली है। सकरी घाटी के नीचे फिर नदी का मैदान चौड़ा है; परन्तु वहाँ, खारकुंग के निकट, मैदान का पुराना भाग धारा से लगभग ७०० और १००० फीट ऊपर है। सकरी घाटी के आगे भी मैदान में हिम द्वारा लाई हुई मिट्टी है।

यो-री की सकरी घाटी कठोर नाइस चट्टान में कटी है। इस सकरी के निकट ही पूर्व की ओर एक दर्रा है जिसका नाम कूयोकला है और जिसकी ऊँचाई केवल १८०० फीट है। कूयोकला में कोमल शिष्ट चट्टान है। कटोर नाइस चट्टान से कोमल शिष्ट चट्टान में यकायक परिवर्तन होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में यो-री पहाड़ और कूयोकला दर्रा बनने के पहले अरुण नदी की घाटी पूर्ण रूप से स्थापित थी। यह पहाड़ और यह दर्रा वहाँ पर पहले नहीं थे। यदि वे होते, तो नदी का बहाव दर्रे की कोमल शिष्ट चट्टान में होता न कि कटोर (नाइस) चट्टान में।

हिमालय से आने वाली अन्य कई नदियाँ 'पूर्वगामी' (एन्टीसीडेंट) नदियाँ हैं; जैसे सिन्धु, सतलज, और ब्रह्मपुत्र नदियाँ।

ऊर्ध्वगामी (सुपरइम्पोजड्) नदियाँ—पृथ्वी पर अनेक क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ महान् संचयों के नीचे प्राचीन नदियाँ दबी पड़ी हैं। इन संचयों के ऊपर नई नदियों में जल बहने लगा है। इन नई नदियों को 'ऊर्द्धगामी' नदियाँ कहते हैं। प्राचीन नदियों को ढकने वाले संचय तीन प्रकार के होते हैं—लावा हिमजन्य मलवा तथा डूबे हुए धरातल पर समुद्र का मलवा। इस प्रकार की नदियों के उदाहरण अमेरिका में बहुत देखे जाते हैं। बड़ी झीलों के निकट प्राचीन हिमाच्छादित क्षेत्रों में खोदने से यह पता लगता है कि पहले उस क्षेत्र की नदियाँ उत्तर की ओर सेन्ट लारेन्स नदी में बहती थीं। उन नदियों को आज-कल हिम द्वारा लाया हुआ मलवा ढके है। इस मलवे के ऊपर आजकल कल कई नदियाँ दक्षिण की ओर बहती हैं। ऐसी नदियों का उत्तरी अमेरिका में एक दूसरा उदाहरण गनीजन नदी है। गनीजन नदी कोलोरेडो के पठार में बहती है। यह नदी ज्वालामुखी की राख की बड़ी मोटी तह पर पहले बहती थी। राख कट जाने पर उसके नीचे कठोर ग्रेनिट चट्टान निकली। चूँकि नदी की घाटी स्थापित हो चुकी थी, इसलिये यह नदी अपनी घाटी से बाहर न जा सकी। इस कठोर चट्टान को काटने के लिए वह बाध्य

हुई है और इस समय यह २००० फीट गहरी सकरी घाटी (कौनयन) में वह रही है। जैसे गनीजन नदी को राख के नीचे गड़ा पहाड़ मिला, वैसे इसकी सहायक नदी, अनकम्पाग्री नदी को उसी राख के नीचे गड़ी किसी नदी की पुरानी घाटी मिली। वह उस घाटी में वहती रही पर उसे काट न सकी, क्योंकि सहायक होने से उसका निम्नतल (वेजलेविल) गनीजन नदी है। उत्तरी अमेरिका के एपेलेशियन पर्वत में ऊर्द्धगामी नदियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे हडसन नदी।

नदी का पुनर्जीवन (रिजुवेनेशन)

जव धरातल का उत्थान होता है, तव नदियों के ढाल (ग्रेडियंट) कड़े हो जाते हैं, इसलिये वहाव की गति में वृद्धि हो जाती है, और नदी अपनी घाटी को पुनः गहरी करने लगती है। गहरे कटाव की प्रवृत्ति धारा के मध्य भाग में अधिक होती है। वहीं पर उसका नया गहरा पथ वन जाता है। गहरा पथ वन जाने से नदी का जल अपने प्राचीन प्रवाह मैदान तक नहीं पहुँच पाता है। इसलिये प्राचीन मैदान और प्राकृतिक वांध नदी की धारा वहुत ऊँचे हो जाते हैं।

गहरी मोड़ें—नदी के पुनर्जीवित होने का एक प्रभाव प्रवाह-मोड़ का गहरा होना है। ये गहरी मोड़ें धनुपाकार सकरे कटाव वन जाती हैं। इनको 'गहरी मोड़ें' (इनसाइज्ड मियान्डर) कहते हैं। गहरी मोड़ें दो प्रकार की होती हैं, सुडौल खांई (इन-ट्रेंच्ड मियान्डर), और एकांगी खांई (इनग्रोन मियान्डर)। जव धरातल का उत्थान शीघ्रता से होता है, तव सुडौल खांई वनती है। इसके दोनों ढाल खड़े होते हैं। एकांगी खांई उस दशा में वनती है जव कि उत्थान धीरे-धीरे होता है, और इसलिये नदी की धारा इधर-उधर होती रहती है। ऐसी खांई एक ढाल मन्द और दूसरा ढाल खड़ा होता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कोलोरेडो नदी की खांई धरातल के उत्थान से पुनर्जीवित नदी में वनी है। इस खांई को 'कैनीयन' कहते हैं। यह लगभग १ मील गहरी है और लगभग ३०० मील की दूरी तक चली जाती है। समतलप्राय (पेनीप्लेन) के लगभग ६००० से ८००० फीट तक उठने के कारण ही यह खांई वनी।
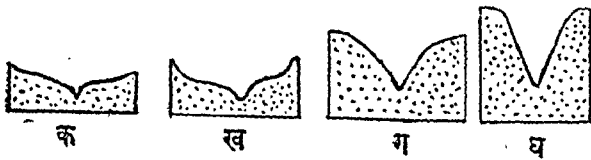
चित्र—११९

(इस चित्र में नदी की आयु का पुनर्जीवन पर प्रभाव दिखाया गया है। क में वृद्धावस्था में वहुत अधिक, ख में प्रौढ़ावस्था में कुछ कम, ग और घ में युवावस्था में वहुत कम प्रभाव होता है। इसी के अनुसार नदी के समतल किनारे का विस्तार भी अधिक और कम होता है, जैसा चित्र में दिखाया गया है।)

नदियों की रूपरेखा (रिवर पैटर्न)

नदियाँ तीन प्रकार के साँचे में ढली होती हैं; (अ) वृक्षाकार (डेनड्रिटिक),

(व) लताकार (ट्रेलिक) और (स) चक्राकार (एनुलर अथवा रेडियल)। जहाँ पर चट्टानों से अधिक विघ्न नहीं पड़ता हैं, वहाँ अधिकतर वृक्षाकार नदी-प्रणालियाँ ही होती हैं, इसमें मुख्य नदी वृक्ष के तने की भाँति होती है, और उसकी सहायक नदियाँ डाली की भाँति। परन्तु जहाँ पर नदियों के कार्य में चट्टानों द्वारा अधिक विघ्न पड़ता है, वहाँ लताकार नदी-प्रणाली मिलती हैं। इस आकार में अधिकतर नदियाँ समानान्तर बहती हैं। इनका मार्ग अधिकतर सीधा होता है। इन नदियों के क्षेत्र में कड़ी चट्टानें पहाड़ियों के रूप में धरातल से ऊपर उठी होती है, और उनके मध्य में मुलायम चट्टानों में नदियों की घाटियाँ होती हैं।

जहाँ कड़ी चट्टानों और मुलायम चट्टानों की पेटियाँ किसी ऊँचाई (डोम) के चारों ओर गोलाई में स्थित होती हैं, वहाँ पर नदी-प्रणाली का आकार चक्राकार होता है।

नीचे दिये हुए चित्रों में ये साँचे दिखाये गये हैं:—
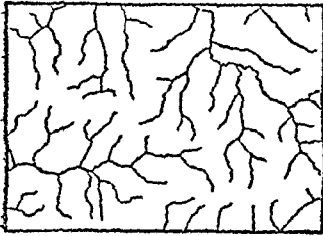
चित्र १२०—वृक्षाकार
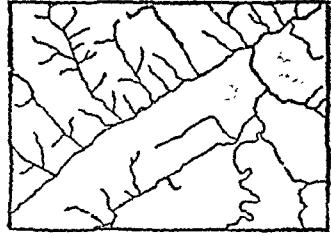
चित्र १२१—लताकार

नदी-हरण (रिवर कैप्चर)

१८८६ में एक जर्मन विद्वान् फिलिपसन ने नदी-हरण की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। जल-प्रवाह में यह एक बहुत ही सामान्य नियम है कि अधिक बलवान नदी अपनी पड़ोसी बलहीन नदी का जल छीन लेती है। जिस नदी में अधिक ढाल अथवा अधिक जलराशि के कारण अधिक कटाव होता है वह नदी बलवान कही जाती है। मन्द ढाल वाली और कम जलराशि वाली नदी बलहीन नदी कही जाती है।

जो कोई भी कारण ऊपर की ओर के कटाव (हेडवर्ड इरोजन) को जल विभाजक की एक ओर से अधिक बढ़ाता है, वह एक नदी को दूसरे नदी के जल छीनने की ओर प्रवृत्त करता है। जलविभाजक का एकांगी हटाव, नदी के बहाव में कड़ी चट्टान की तह, उत्थान की भौतिक क्रियाओं, हिम के कार्य, ज्वालामुखी के संचय और फटानों (एवलांश) के संचय भी नदी-हरण के लिए कारण हो सकते हैं।

नदी-हरण अपने निम्नलिखित चिन्ह छोड़ता है:—

(१) शिरश्छिन्न नदी (बिहेडेड रिवर) जो घाटी की चौड़ाई देखते हुए बहुत छोटी होती है। इस नदी को 'अनुपयुक्त' नदी (मिसफिट) कहते हैं।

(२) पवन-दरार (विन्ड-गैप) जो घाटी के सूखे हुए भाग का नाम है।

(३) हरण-मोड़ (एल्बो आव कैपचर) बन जाती है जहाँ बलवान नदी दूसरी नदी का जल खींच ले जाती है। साधारण दशा में हरण करने वाली नदी पार्श्व दिशा से आती है, और इसलिए यह मोड़ बन जाती है।

कासर्वे* के अनुसार वास्तविक हरण के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक मत कहता है कि ऊपर से नीचे वाली नदी में जल अकस्मात् बहने लगता है, दूसरे मत का कहना है कि भूमि के नीचे ही नीचे अपहरित नदी का जल दूसरी नदी में बहने लगता है। चूने की चट्टान में, छिद्रयुक्त बालू के पत्थर में, बालू में तथा कंकरीली मिट्टी में अपहरण सदा भूमि के भीतर ही होता है। अभेद्य अथवा न घुलने वाली चट्टानों में, आग्नेय तथा परिवर्तित चट्टानों में, और शेल और काँप में अपहरण सदा भूमि के ऊपर होता है।

कासर्वे के अनुसार तीन प्रकार के हरण होते हैं; ऊपरी प्रगति वाला हरण (हेडवर्ड इरोजन), पार्श्व हरण (प्लेनेशन कैपचर), और अन्तर्भौतिक हरण (सबटेरेनियन कैपचर)

आगे दिये हुए चित्र में हरण की क्रिया दिखाई गई है। इस चित्र में नदी A अपना पथ B नदी की ओर वेग से काट रही है और अन्त में उसका हरण कर लेगी। इस चित्र में G स्थान पर हरण-मोड़ यह दिखाती है कि नदी D का हरण हुआ है। E नदी की घाटी को देख कर यह कहा जा सकता है कि यह नदी 'शिरश्छिन्न' नदी है:—
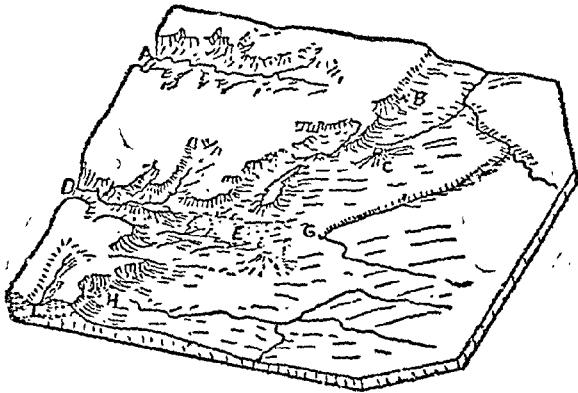
चित्र १२२—नदी-हरण

नदी-हरण का एक प्रमाणित उदाहरण फ्रान्स की मोज़ेल नदी द्वारा म्यूज नदी की एक सहायक का हरण है। ये दोनों नदियाँ तूल नगर के निकट एक दूसरे के पास आई। वहाँ पर मोज़ेल नदी की एक शाखा ने दोनों नदियों के बीच की मिट्टी काट दी और म्यूज नदी की सहायक का हरण कर लिया। इसकी हरण मोड़ अब तक स्पष्ट है। इस हरण का एक प्रमाण यह है कि म्यूज नदी की घाटी में वोज पर्वत से आया हुआ मलवा मिलता है, यद्यपि आजकल वोज पर्वत से कोई नदी म्यूज में नहीं जाती है। परन्तु जो सहायक मोज़ेल नदी में अब चली गई है और जो पहले म्यूज नदी में गिरती थी वह अवश्य ही वोज पर्वत की पश्चिमी ढाल से आती है।

*जर्नल आव जियोलोजी, १९३७।

नदी का निर्माण-चक्र (रिवर वेली साइकिल)

विलियम डेविस नामक एक अमेरिकन विद्वान ने संसार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि धरातल के आकार एक विकास-चक्र से होकर निकलते हैं। नदियों की घाटियों को समझने के लिए यह विचार बड़े महत्व का है। "जितने काल में धरातल का एक उठा हुआ भाग आकार-निर्माण-साधनों द्वारा किए हुए परिवर्तनों में होकर सपाट मैदान बन जाता है" उसको 'भौगोलिक चक्र' (ज्योग्रैफिकल साइकिल) कहते हैं। पहले-पहल निर्माण चक्र का मूल केवल नदी के कार्य में ही प्रयोग होता था; परन्तु अब उसको सभी निर्माण-साधनों, जैसे, पवन, जल और हिम में प्रयोग किया जाता है। इस मूल का महत्व यह है कि इसके द्वारा पूर्ण धरातली दृश्य (लैन्डस्केप) का कारण-परिणाम इतिहास भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। इसकी सहायता से हमको यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी आकार का पहले क्या रूप था और आगे क्या होगा। यह आवश्यक नहीं है कि कोई चक्र अपना पूर्ण विकास प्राप्त ही कर ले। बहुधा ऐसा होता है कि बीच में ही उसमें कोई विघ्न आ जाता है जिससे उसका कार्य रुक जाता है। इस मूल का अभिप्राय केवल यह है कि जितने भी आकार हैं उनका प्रारम्भिक रूप (इनीशियल फार्म) अनुक्रमिक रूप (सीक्वेन्शल फार्म) से हो कर अन्तिम रूप (अल्टीमेट फार्म) में पहुँच जाता है। अन्तिम रूप समतल प्राय (पेनी प्लेन) माना गया है जिसमें आकारों का प्रायः लोप हो जाता है। 'चक्र' के विचार का मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट कर देता है कि अन्त में सभी आकार विलीन हो जाते हैं।

धरातल का नया उत्थान प्रारंभिक रूप उपस्थित करता है जिससे हरण की शक्तियाँ कार्यशील हो जाती हैं। इनके कार्य का परिणाम अन्तिम रूप को लाकर 'चक्र' को पूर्ण करता है। 'चक्र' की पूर्ति होने में इतने विघ्न हुए हैं कि पृथ्वी पर समतल-प्राय का पूर्ण उदाहरण कहीं नहीं मिलता है। डेविस के मतानुसार, निर्माण-चक्र में जो धरातल-दृश्य उत्पन्न होते हैं वे "शिला, क्रिया और अवस्था" (स्ट्रक्चर, प्रोसेस, ऐन्ड स्टेज) के परिणाम हैं। शिलाओं की प्रकृति तथा उनकी पर्तों का ढंग जैसे टेढ़ा, सीधा आदि; निर्माण के साधन, और उन साधनों का कार्य कहाँ तक हो चुका है आदि बातों के ज्ञान से किसी क्षेत्र के धरातल-दृश्य को भली भाँति समझा जा सकता है।

निर्माण चक्र के आलोचकों ने निम्नलिखित आशंकायें उपस्थित की हैं :

(१) 'चक्र' शब्द उपयुक्त शब्द नहीं है, क्योंकि उससे आरंभिक दशा में लौटने का अभिप्राय है।

(२) नदी की घाटी की उपमा मनुष्य के जीवन से नहीं दी जा सकती है; क्योंकि मनुष्य के जीवन में नदी की भाँति 'पुनर्जीवन' नहीं संभव है, आलोचकों में प्रमुख लोग चेम्बरलेन, सैलिसबरी और पसारगे थे।

घाटी के निर्माण में 'कटाव' और 'भराव' दो मुख्य कार्य हैं परन्तु ये कार्य सब घाटियों में समान रूप से नहीं मिलते हैं; और न एक घाटी के भिन्न-भिन्न भागों में वे एक समान मिलते हैं। इन कार्यों में किसी एक की प्रधानता कहीं और दूसरे की प्रधानता कहीं और होती है। नदी की किसी विशेष अवस्था में 'कटाव' प्रधान हो सकता है, और किसी दूसरी अवस्था में 'भराव' प्रधान हो सकता है।

अवस्था के अनुसार डेविस ने नदियों की घाटियों को तीन भागों में बाँटा है:

(१) युवावस्था (यूथफुल स्टेज), जिसमें 'कटाव' की प्रधानता होती है।

(२) प्रौढ़ावस्था (मेच्योर स्टेज), जिसमें कटाव और 'भराव' में सामंजस्य होता है। और

(३) वृद्धावस्था (ओल्ड स्टेज) जिसमें 'भराव' प्रधान होता है।

इस विभाजन में नदी की आयु का संबंध वर्षों से नहीं है, वरन् अवस्था (स्टेज) से है। जिसका अभिप्राय नदी द्वारा किये हुए कार्य से है। निर्माण-चक्र को पूर्ण करने में कितना कार्य हो चुका है, और कितना कार्य बाकी है इसी से नदियों की अवस्था जानी जाती है।

युवावस्था—धरातल पर वर्षा का जल ढाल के सहारे-सहारे निचले भाग की ओर बहने लगता है। जहाँ ढाल काफी होता है, वहाँ शीघ्र ही बहते जल को कुछ ऐसे भाग मिल जाते हैं जो आस-पास के स्थानों से नीचे होते हैं। ऐसे नीचे भागों में जल एकत्रित होने लगता है। कटाव के कारण ये भाग और अधिक गहरे हो जाते हैं। अधिक गहरे होने से वहाँ अधिक जल एकत्र होता है। ज्यों-ज्यों जल का बहाव आगे की ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों उसकी नालियाँ गहरी होती जाती हैं; क्योंकि उन नालियों में बहुत जल बहता है, और वहाँ पर 'कटाव' सरल है।

नालियों की गहराई बढ़ते-बढ़ते अन्त में बहता हुआ जल समुद्र अथवा अन्य निम्नतल तक पहुँच जाता है। निम्नतल पर पहुँच जाने पर बहाव की नाली का चौड़ा होना आरंभ होता है। यह चौड़ापन निम्नतल से आरंभ होकर उद्गम की ओर पीछे की ओर बढ़ता है। नाली के चौड़े होने में जल द्वारा लाया हुआ मलवा सहायता देता है। जल बहाव की नालियों के गहरा होने, और फिर चौड़ा होने से नदी की घाटियाँ बन जाती हैं।

जो नदी युवावस्था में होती है वह अपने सामने आने वाली रुकावटों को तोड़ती हुई अथवा बचाती हुई अपने निम्नतल तक शीघ्र पहुँचने की चेष्टा करती है। जहाँ उसकी नाली गहरी होती है, वहाँ वह उसको और गहरी करती है। इसलिए उसकी नाली V आकार की बन जाती है जिसके किनारे ऊपर की ओर अधिक खुले और नीचे की ओर अधिक पास-पास होते हैं। जहाँ पर गहरा करने की ओर नदी की प्रवृत्ति होती है, वहाँ घाटी का आकार सकरा (गार्ज) होता है। सकरी घाटी की गहराई निम्नतल के ऊपर धरातल की ऊँचाई पर निर्भर है। इस नदी में ऐसी घाटी की गहराई लगभग १८००० फीट है। कितने शीघ्र नदी अपनी सकरी घाटी बना सकेगी इसका निर्णय नदी की जलराशि और उसके बहने की गति तथा चट्टानों की प्रकृति करती है।

ज्यों-ज्यों नदी की नाली निम्नतल की ओर बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उस तल से ऊपर धरातल की ऊँचाई कम होती जाती है। इसलिए नदी के मध्य भाग में ढाल कम होता है। कम ढाल होने से जल का बहाव मन्द पड़ जाता है; यद्यपि यह बहाव नदी के किनारों को काटने के लिए अब भी काफी बलवान है। बहाव की गति में कमी हो जाने से नाली में मलवा जमा होने लगता है। जहाँ कहीं नाली में मोड़ें होती हैं वहाँ भी मलवा जम जाता है; क्योंकि मोड़ पर बहाव की गति कम हो जाती है। वास्तव में मोड़ों के घुमाव के कारण नदी का पथ लम्बा हो जाता है जिससे नदी का ढाल कम हो जाता है। मलवा जमने से नाली के मध्य क्षेत्र में उसका आकार नहीं रहता है। वह आकार चौड़ा हो जाता है, क्योंकि उसका पेटा भर जाता है। जब नदी निम्नतल पर स्थापित

हो जाती है तब उसके ऊपरी भाग में धीरे-धीरे सकरी घाटी की दीवारें क्षीण होने लगती हैं, और वहाँ भी घाटी में चौड़ापन आ जाता है। परन्तु इस अवस्था में भी सकरा आकार सहायक नदियों में पाया जाता है।

बहाव आरंभ होने पर अनेक स्थान ऐसे होते हैं जहाँ दलदल होते हैं, क्योंकि वहाँ पर जल का बहाव समुचित नहीं है। धीरे-धीरे इन स्थानों में भी बहाव की नालियाँ बन जाती हैं, क्योंकि सहायक नदियों के कटाव के कारण उन स्थानों में ढाल उत्पन्न हो जाता है। ऐसे कटाव को 'उद्गम कटाव' (हेडवाटर इरोजन) कहते हैं।

ऐसी अवस्था आ जाने पर नदी की युवावस्था अन्त होने लगती है। यह अवस्था ऐसे पेड़ की सी है जिसका तना मोटा हो गया है, पर जिसमें अब भी ऊपर की पतली पतली डालें हैं जो अपने को मोटा करने में लगी हैं।

नदी की युवावस्था की विशेषतायें निम्नलिखित हैं:—

१. सकरी घाटी (V—आकार), २. जल प्रपात, ३. झीलें और दलदल, और ४. चौड़ी चोटी वाले जल विभाजक जिनमें ढाल अधिक है।

प्रौढ़ावस्था—नदी की प्रौढ़ावस्था में वेग के साथ गहराई नहीं बढ़ती है। इस अवस्था में नदी के किनारों के अधिक कटने से नदी की घाटी चौड़ी होने लगती है। जल विभाजकों के ढाल अधिक मन्द हो जाते हैं और उनकी चोटी संकीर्ण हो जाती है, उनकी ऊँचाई भी सामान्य रूप से कम हो जाती है। इस कारण नदियों का हरण अधिक होने लगता है। इसका फल यह होता है कि कई विलग क्षेत्रों का जल-प्रवाह एक में मिल जाता है। नदियों के हरण के कारण ऊपरी क्षेत्रों में कटाव अधिक होने लगता है जिससे निचले क्षेत्रों को भरने के लिए अधिक मलवा प्राप्त होता है।

किनारों के कटाव से नदियों की घाटी में प्रवाह मोड़ों की पट्टी स्पष्ट हो जाती है। नदी के बहाव में विविधता आ जाने से अनेक प्रवाह-मोड़ बनती और बिगड़ती हैं। प्रवाह मोड़ों की पट्टी चौड़ी हो जाती है और घाटी के निचले भाग में भी पहुँच जाती है। इन प्रवाह मोड़ों से न केवल किनारों के कटाव में सहायता मिलती है, वरन् नदी के प्रवाह-मैदान के बनने में भी सहायता मिलती है। प्रवाह-मैदान का आरंभ प्रवाह-मोड़ के भीतरी ओर (कानकेव) मलवा जमने से होता है। उस भाग से धीरे-धीरे यह मैदान बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे इस मैदान में मलवे की गहराई अधिक हो जाती है, और वह नदी के किनारों की दीवारों को भी कुछ अंश तक ढक लेता है। इस अवस्था में वह 'घाटी का मैदान' (वेलीप्लेन) कहलाने लगता है।

प्रौढ़ावस्था की विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रवाह मैदान और प्रवाह-मोड़ों की उपस्थिति।

(२) नदी के किनारों का मध्यम ढाल।

(३) अलग बहाव क्षेत्र जिसमें बहुत सी सहायक नदियां हों, और नियत जल विभाजक हों।

(४) पूर्ण प्रकार से प्राप्त 'निम्नतल' और

(५) जलप्रपात और झीलों का अभाव।

वृद्धावस्था—ज्यों-ज्यों वृद्धावस्था निकट आती है, त्यों-त्यों घाटी के आकार-निर्माण में चट्टानों का प्रभाव कम होने लगता है। परन्तु कठोर चट्टानों के ऊँचे टीले इस अवस्था में भी ऊँचे बने रहते हैं। नदी की वृद्धावस्था उस समय आती है जब कि उसकी सभी सहायक नदियां अपना निम्नतल प्राप्त कर लेती हैं। उनका बहाव इतना शिथिल हो जाता है कि प्रवाह मोड़ों की उनमें प्रधानता होती है। उनकी घाटी का मैदान इस समय तक चपटा, प्राय: आकार-रहित हो जाता है।

वृद्धावस्था की विशेषतायें निम्नलिखित हैं:—

१. नदी के किनारे फैले और बहुत नीचे होते हैं।

२. बहाव की गति बहुत मन्द होती है।

३. कटाव का प्राय: अभाव होता है।

४. आकार बनना प्राय: बन्द हो जाता है।

५. सहायक नदियां भी निम्नतल प्राप्त कर लेती हैं।

नीचे दिये हुए चित्र में विभिन्न प्रकार की चट्टानों में नदी की तीनों अवस्थायें दिखाई गई हैं।
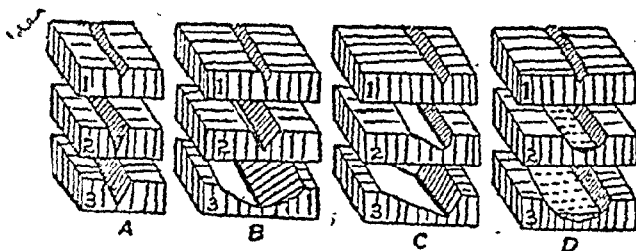
चित्र १२३—चट्टान का प्रभाव

(A, B आदि विभिन्न चट्टानें हैं, और १,२ आदि अवस्थायें हैं)

जल-प्रपात (वाटर फाल)

नदी की घाटी में असमान कठोरता की चट्टानों के पास-पास आने से जल-प्रपात अथवा 'उथला वेग' (रैपिड) बनते हैं। यदि घाटी में एक ही प्रकार की चट्टान है, तो

चित्र १२४—बहाव पर चट्टान का प्रभाव

घाटी भी एक ही प्रकार की होती है। ऐसी दशा में जल प्रपात या 'उथले वेग' नहीं बनते हैं।

बगल में दिये हुए चित्र में जल-प्रपात तथा 'उथले वेग' की उत्पत्ति के कारण स्पष्ट किये गये हैं:—

इस चित्र में A में एक ही प्रकार की चट्टान नदी की पूरी घाटी में है। इसलिए बहाव में किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ता है; क्योंकि समान ढाल है। B में घाटी के एक भाग में कठोर चट्टान और मुलायम चट्टान साथ-साथ हैं, इसलिए नदी का जल कठोर चट्टान को इतना शीघ्र नहीं काट सका है जितना कि उससे लगी हुई मुलायम चट्टान को परन्तु यहाँ पर कठोर चट्टान का ढाल नदी के साथ (डिप) है जिससे 'उथला वेग' (रैपिड) ही बनता है, जल-प्रपात नहीं। C में भी कठोर चट्टान ऊपर आ गई है। पर इस दिशा में उसका ढाल नदी के विरुद्ध है जिससे नीचे की ओर उसका ढाल है। इस खड़े ढाल से पानी नीचे लुढ़कता है और उससे जल-प्रपात बन जाता है।

गिरते जल के बोझ के कारण निचले भाग की मुलायम चट्टान में एक गड्ढा बन जाता है जिसको 'प्रपात-गर्त' (प्लंज-पूल) कहते हैं। इस गर्त में गिरते हुए जल से जल उछल-उछल कर अथवा गिरते समय पवन द्वारा उड़ कर मुलायम चट्टान को भिगो देता है। यह भीगी हुई मुलायम चट्टान थोड़े ही समय में गिर पड़ती है और जल के साथ बह जाती है। इस चट्टान के बह जाने से कठोर चट्टान के नीचे से सहारा निकल जाता है। जिससे अपने ही बोझ से वह कठोर चट्टान टूट-टूट कर गिर जाती है। उसके गिरने से जल-प्रपात पीछे की ओर हट जाता है। इस प्रकार एक संकीर्ण खड्ड (गार्ज) बन जाता है जिसमें होकर नदी का जल बहता है। निचले भाग में इस खड्ड का आरंभ स्थान जल प्रपात का आरंभ स्थान दिखाता है। जब कठोर चट्टान का ऊपर निकला हुआ पूर्ण भाग नष्ट हो जाता है, तब जल-प्रपात का अन्त हो जाता है। चित्र के D में कठोर चट्टान सीधी खड़ी है और इसलिए वह टूटती नहीं है। ऐसी दशा में जो जल-प्रपात बनता है, वह पीछे नहीं हटता है और प्रायः चिरस्थायी होता है।

जल-प्रपात बहाव की उस असमानता को कहते हैं जिसमें जल ऊपर से गिरता है।
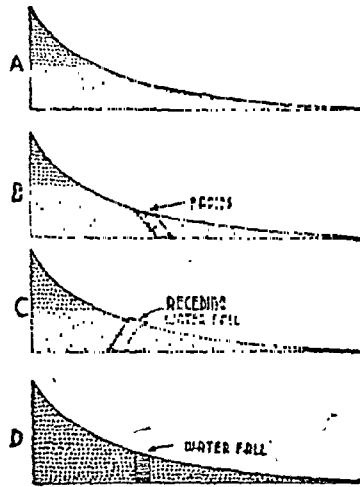
जहाँ सीढ़ीदार दीवार के किनारे कई प्रपातों में जल गिरता है उसको 'कैसकेड' कहते हैं। जहाँ जल ऊपर से गिरता नहीं है, परन्तु कठोर चट्टान पर वहने में उसका वेग बहुत होता है उसको 'उथला-वेग' (रैपिड) कहते हैं। जब कठोर चट्टान के ऊपर बहुत बड़ी जल-राशि बहती है जिससे चट्टान ऊपर दिखाई नहीं देती है तब इस उथले वेग को 'कैटरेक्ट' कहते हैं।

हटने वाले जल प्रपात का प्रसिद्ध उदाहरण नियागारा जल-प्रपात है। इसको १६७८ में लासाल नामक एक फ्रांसीसी ने खोजा था। यह जल प्रपात ईरी झील से निकलनेवाली नियागारा नामक एक छोटी नदी पर है। इस जल-प्रपात के मध्य गोट आइलैन्ड नामक एक छोटा-सा द्वीप है जिससे इसके दो भाग हो जाते हैं। इसका एक भाग कनाडा की सीमा में है, और दूसरा भाग संयुक्त राज्य अमेरिका की सीमा में। कनाडा की सीमा में प्रपात की चौड़ाई का अधिकतर भाग २८०० फीट, और अमेरिका की सीमा मे १०६० फीट है। कनाडा में इस प्रपात को 'हार्स-शू फाल' कहते हैं। कनाडा की ओर जल-प्रपात की ऊँचाई १७० फीट है, और अमेरिकन ओर १६० फीट। नियागारा जल-प्रपात में प्रति सेकिन्ड प्रायः २,१२००० घनफीट जल गिरता है।

नियागार जल-प्रपात का रेखाचित्र नीचे दिया गया है:—
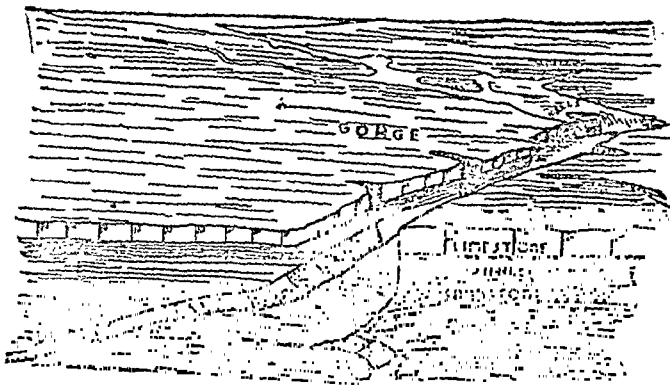
चित्र १२५—नियागारा

इस चित्र में नियागारा क्षेत्र की चट्टानें दिखाई गई हैं। इनसे पता चलता है कि चूने की कड़ी चट्टान के नीचे मुलायम शेल चट्टान है। असमान कठोरता वाली इन चट्टानों का साथ ही नियागारा जल-प्रपात का कारण है।

नियागारा जल-प्रपात का आरंभ लेविस्टन नगर के निकट लगभग २०-२५ हजार वर्ष पूर्व हुआ था। वहाँ से यह प्रपात अब तक लगभग ६½ मील पीछे हटा है। पीछे हटने

की इसकी सामान्य गति लगभग ३ फीट प्रति वर्ष है; यद्यपि अमेरिकन ओर यह गति केवल ८ इंच प्रति वर्ष है; क्योंकि वहाँ पर कम जल वहता है। नीचे दिये हुए चित्र में १८४२. १८७५ और १९०५ में इस प्रपात की स्थिति दिखाई गई है:—

चित्र १२६—नियागारा का हटाव

कभी-कभी आरंभ में नदी के वहाव में जल-प्रपात नहीं होते हैं, परन्तु कटाव के कारण धीरे-धीरे धरातल के भीतर की चट्टानें खुल जाती हैं। इस दशा म यदि नदी की घाटी में शिलाओं को भिन्नता उपस्थित हो गई तो जल-प्रपात वन जाता ह। इसका उदाहरण कनाडा में मान्ट मोरेंसी नदी का क्वेवेक के निकट जल-प्रपात है। वहाँ की कठोर परिवर्तित चट्टानें पहले मुलायम चट्टान के नीचे दवी पड़ी थीं। परन्तु नदी की घाटी के निर्माण में वे खुल गई और इस प्रकार मान्ट मोरेन्सी जल प्रपात वन गया।
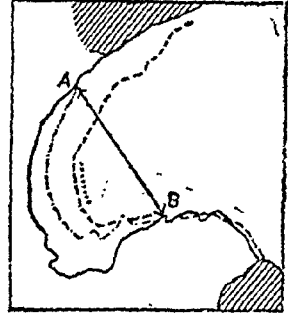
नीचे दिये हुए चित्र में चट्टानों की चार प्रकार की अवस्थाएँ दी हुई हैं। इन अवस्थाओं का प्रभाव जल द्वारा कटाव पर वहुत पड़ता है। ऊपर की तहों के कट जाने पर भीतरी तहें निकलती हैं।

१ व २ अनुरूप (कानफार्मेवुल) तथा ३ व ४ प्रतिरूप चट्टानें हैं।
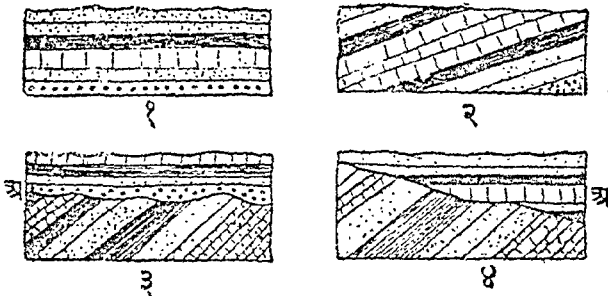
चित्र १२७—अनुरूप व प्रतिरूप चट्टानें

यदि नदी के पथ में कहीं फटी घाटी आर-पार आ जाती है, तो वहाँ पर भी जल-प्रपात वन जाता है, यद्यपि वहाँ पर एक ही प्रकार की चट्टान हो। अफ्रीका में जेमवजी नदी में विक्टोरिया जल-प्रपात इसका उदाहरण है। इस क्षेत्र में वसाल्ट-लावा कड़ी चट्टान है। यह प्रपात जेमवजी नदी के यकायक पूर्वी अफ्रीका की प्रसिद्ध फटी घाटी में

गिरने से बना है। प्रपात के ऊपर इस नदी की चौड़ाई लगभग २ मील है, प्रपात के नीचे इसका जल केवल ५०-६० गज सकरी घाटी में बहता है। इस सकरी घाटी की दीवारें लगभग ४०० फीट ऊँची हैं और उनका ढाल सीधा है। यह सकरी घाटी लगभग ४० मील लम्बी है। इस लंबाई में सभी स्थानों में ढाल समानतः कड़ा नहीं है। घाटी के बगल से आने वाली अनेक नदियों ने इन ढालों को काट दिया है। इन नदियों में भी छोटे-छोटे प्रपात बने हैं जिनकी ऊँचाई लगभग १०० फीट है।

लहरों का कार्य

उपरोक्त वर्णन में बहते हुए जल का आकार-निर्माण में महत्व दिखाया गया है। यहाँ पर आकार-निर्माण में लहरों द्वारा समुद्र जल का प्रवाह दिखाया जा रहा है। समुद्र जल का प्रभाव समुद्र तट तक ही सीमित है। परन्तु समुद्र की लहरों की शक्ति महान है। इस शक्ति का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि तट पर स्थित ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को लहरों के निरंतर कार्य ने चकनाचूर कर दिया है। लहरें पहले चट्टानों को नीचे से खोद देती हैं जिससे बोझ के कारण खुदे हुए भाग टूट जाते हैं। इन टूटे हुए भागों को लहरें अपने साथ उठाकर पर्वत पर फेंक देती हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे बड़े बड़े पत्थर भी बालू बन जाते हैं। टूटी हुई चट्टान से बची हुई चट्टान को तोड़ने में लहर को एक 'औजार' मिल जाता है जिसका प्रभाव बहुत बड़ा होता है।

चट्टान के छेदों में भरी हुई वायु और जल के फैलने और सिकुड़ने के कारण चट्टान के कण ढीले हो जाते हैं। इन ढीले कणों को लहरें सरलतापूर्वक तोड़ डालती हैं। जब लहरें चट्टान पर पड़ती हैं, तब छिद्रों में भरी हुई वायु सिकुड़ जाती है। जब लहर पीछे हट जाती है, तब यह वायु फिर फैल जाती है। इसके कण शीघ्र टूट जाते हैं।

जो पर्वत डूबते हुए तट पर स्थित होते हैं, उन पर लहरों का प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। जहाँ पर खुले समुद्र की लहर आती है, वहाँ चट्टानों के तोड़ने में उसका अधिक प्रभाव होता है। बन्द स्थान में लहर इतनी प्रबल नहीं होती, और इसलिये उसका कार्य कम महत्वपूर्ण होता है।

लहरों के कटाव से समुद्रतट पर खड़ी कगारें (क्लिफ) बन जाती हैं। यदि वहाँ पर चट्टानें ठोस न हुईं, तो ये कगारें शीघ्र टूट जाती हैं। जहाँ तट पर कठोर चट्टानें होती हैं, वहाँ गुफाएँ और चोटियाँ बन जाती हैं।

लहरें और समुद्र धारायें बन्द खाड़ियों में मलबा जमा करती हैं। इससे समुद्र के किनारे बालू के मैदान (बीच) बन जाते हैं। उथले पानी में जमे हुए मलवा से बालू की ऊँचाइयाँ (रिज) बन जाती हैं। इन ऊँचाइयों को 'स्पिट' या 'हुक' कहते हैं। जहाँ पर

तट ऊपर उठ रहा है, वहाँ लहरें समुद्र के भीतर से महीन मलवा जमा करके रुकावटें (बार) बना देती हैं।

पवन का कार्य

जिस प्रकार आर्द्र क्षेत्रों में बहता हुआ जल धरातल में आकार बना देता है, उसी प्रकार सूखे क्षेत्र में बहती हुई वायु (पवन) आकार बनाती है। मरुभूमि में जहाँ टूटी हुई चट्टान को जल और वनस्पति की रक्षा प्राप्त नहीं है, पवन ही आकार बनाने का मुख्य साधन है। मरुस्थल में पाला के कारण चट्टानों का घर्षण होता है। दिन में यहाँ का ताप-मान बहुत ऊँचा और रात्रि में बहुत नीचा होता है। इसका परिणाम चट्टानों का फैलना और सिकुड़ना होता है। वायु के शुष्क होने से यह परिणाम बहुत शीघ्र तीव्र होता है। चट्टानों के टूटे हुए मलवे को पवन अपने साथ उठा ले जाती है और सुविधा होने पर छोड़ देती है। परन्तु इस मलवे को चट्टानों के तोड़ने का अपना साधन बनाती है। मिस्र में स्थित स्फिक्स की पत्थर की मूर्ति को देखने से ही यह ज्ञात होता है कि पवन के इस साधन में पत्थर काटने की कितनी प्रबल शक्ति है।

मोटे मलवे को पवन धरातल पर ही खींच कर आगे ले जाती है, जिससे चट्टानों के निचले भाग में उनसे कटाव-कार्य होता है। जहाँ यह भारी मलवा चट्टान से टकराता है वहाँ पर बहुत कटाव होता है। परन्तु चट्टान के ऊपरी भाग में जहाँ पर हलका और महीन मलवा टकराता है वहाँ बहुत कम कटाव होता है। जहाँ पर पवन कई दिशाओं से आती है, वहाँ पर चट्टान के चारों ओर कटाव होता है।

पवन द्वारा कटाव स्थूल (मेकेनिकल) होता है, रासायनिक नहीं। इस स्थूल कटाव की तीन प्रकारें होती हैं: (अ) उठाव (डिफ्लेशन), (आ) घिसाव (अब्रेजन) और (स) साधन-नाश (एट्रीशन)।

टूटी हुई चट्टान के टुकड़ों और बालू का पवन में उड़ जाना 'उठान' कहलाता है। इन उड़ते हुए टुकड़ों का कटाव पर प्रभाव ऊपर बताया गया है। कहीं-कहीं इतनी अधिक बालू पवन द्वारा उड़ जाती है कि बड़े-बड़े गढ़े बन जाते हैं। मिस्र का कतारा गर्त इसी प्रकार का है। उसकी गहराई समुद्रतल से ४२० फीट नीचे है। कभी-कभी इन गर्तों में नीचे से पानी आकर भर जाता है और ये नखलिस्तान बन जाते हैं। उड़ते हुए टुकड़ों और बालू से जो कटाव होता है उसको 'घिसाव' कहते हैं। अन्त में उपरोक्त कार्य करने वाले टुकड़े और बालू अपना कार्य करते हुए स्वयं घिस कर महीन हो जाते हैं। इसको 'साधन-नाश' कहते हैं।

बहते जल की अपेक्षा पवन में अधिक वेग होता है। जल की अपेक्षा उसका कार्य-क्षेत्र भी बहुत बड़ा होता है। इसलिए पवन का मलवा, अर्थात् बालू, बड़े विशाल क्षेत्र में उठता-गिरता, अपना कार्य करता है।

चित्र १२८—त्रिकोण कंकड़

मरुस्थली पवन जब चलती है तब उसमें झंझावात तथा वायु-तरंगों का बहुत प्रभाव होता है। कभी-कभी इनकी गति नीचे की ओर हो जाती है। ऐसी दशा में भूमि पर पड़ी हुई बालू तितर-बितर होकर पवन के साथ उड़ने लगती है।
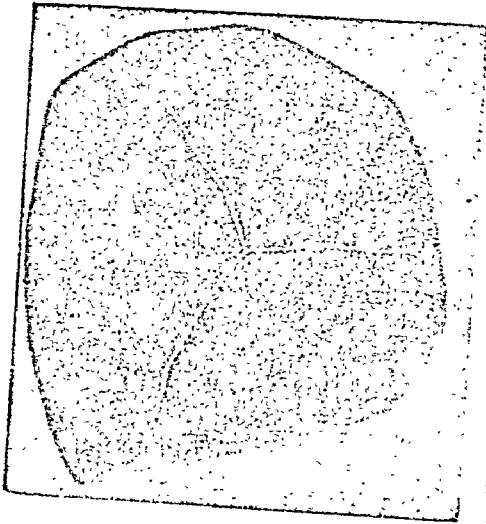
पवन अपने बोझ को सदा नहीं वहन कर सकती है। कभी न कभी उसको यह बोझ छोड़ना ही पड़ता है। ज्योंही पवन का वेग कम होता है, त्योंही यह बोझ उससे छूट जाता है। पवन के मार्ग में रुकावट आने से यह बोझ गिर पड़ता है। मरुस्थल में स्थित बालू के ढेर पवन के लिए मुख्य रुकावट हैं।

पवन के कटाव की शक्ति के कारण मरुस्थल के कंकड़ों में प्राकृतिक नक्काशी (कार्विंग) हो जाती है। ऐसे कटे हुए और चिन्हित कंकड़ों को 'गिलप्टोलिथ' कहते हैं। कंकड़ों में चिन्ह प्रायः उस भाग में पड़ते हैं जो पवन की दिशा में होता है; कभी-कभी कंकड़ियों में तीन ओर से चिन्ह पड़ जाते हैं। इस प्रकार के कंकड़ को 'ट्राईकान्टर' (त्रिकोण कंकड़) कहते हैं। इसका चित्र ऊपर दिया है।

बालू-टीला (सैन्ड ड्यून)

बालू-टीला बनने के लिए निम्नलिखित दशाएँ आवश्यक हैं:—

(१) बालू का भंडार, (२) बालू उड़ाने योग्य पुनःगामिनी प्रबल पवन और (३) बालू संचय होने के लिए स्थान।

जिस क्षेत्र में तृण उगने योग्य जलवर्षा होती है, वहाँ पवन को बालू उठाने के लिए खुला स्थान होना आवश्यक है। ऐसे खुले स्थान नदियों की घाटी में, कगारों की ढाल पर, अथवा खड़े ढाल के नीचे बहुधा मिलते हैं। जिस दिशा में बालू भरी हुई पवन है वहाँ बालू के कारण वनस्पति का उगना रुक जाता है। इस प्रकार बालू के क्षेत्र में वृद्धि हो जाती है। वनस्पतिरहित क्षेत्र की वृद्धि बालू-टीलों की उत्पत्ति और उनके आकार बनाने में बड़ी सहायक होती है। अन्य सहायक कारणों में पवन की गति और निरंतरता, बालू की राशि तथा वनस्पति रोकने वाली जलवायु भी उल्लेखनीय हैं। धरातल के

आकारों का प्रभाव भी बालू-टीलों के बनने में बहुत महत्व रखता है। इन आकारों पर बालू का उड़ना अथवा न उड़ना निर्भर रहता है। धरातली आकार और पवन के अतिरिक्त निम्नलिखित कारणों का भी प्रभाव होता है:—

(अ) ताप, आर्द्रता तथा वनस्पति का आवरण,
(ब) उड़ने वाली बालू की राशि।

वनस्पति और बालू की आपस की लड़ाई के फल पर ही बालू टीलों की उत्पत्ति और आकार निर्भर हैं। वनस्पति बालू को उड़ने में कहाँ तक रोक सकती है, और उड़ने वाली बालू वनस्पति को कहाँ तक नाश कर सकती है, इन्हीं दोनों बातों पर बालू टीलों का अस्तित्व है। टीला बनने की क्रिया में पवन द्वारा उड़ कर बालू पवन की दिशा वाले ढालों पर गिर पड़ती है। उसका अधिकतर भाग टीला की चोटी पर गिरता है, जहाँ से वह दूसरी ढाल पर खिसक जाता है। इस प्रकार टीला एकांगी आकार का बन जाता है; एक मन्द ढाल और दूसरा कड़ा ढाल।

बालू-टीलों के निम्नलिखित आकार होते हैं—

(अ) बेड़ा (ट्रान्सवर्स)
(ब) अनुवृत्तीय (पैरावोला)
(स) आड़ा (लांजीच्यूडिनल)

उपरोक्त तीनों प्रकार के बालू टीले एक ही क्षेत्र में साथ-साथ पाये जाते हैं।

बड़े (ट्रांसवर्स) टीले—इस प्रकार के बालू टीले उन क्षेत्रों में मिलते हैं जहाँ उड़ती हुई बालू इतनी अधिक है कि उससे प्रायः पूरी वनस्पति नष्ट हो जाती है। इसलिए ये प्रायः वनस्पति-रहित क्षेत्रों में होते हैं। इनका आकार अर्द्ध-चन्द्राकार होता है जिसके सिरे पवन की दिशा के विरुद्ध (लीवर्ड) होते हैं। ये बड़ी-बड़ी समुद्र की लहरों की भाँति दिखते हैं। इनका खड़ा ढाल पवन की दिशा के विरुद्ध और मन्द ढाल पवन की दिशा में होता है। बहुधा दो बालू-टीलों के मध्य एक छोटी पट्टी होती है जिसमें थोड़ी वनस्पति मिलती है। बेड़े बालू-टीले मरुस्थली और आर्द्र, दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों में मिलते हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति बालू की महान् राशि और वनस्पति के अभाव सेही होती है। जहाँ कहीं उड़ती हुई बालू से आर्द्र क्षेत्रों की वनस्पति नष्ट हो जाती है, वहाँ ये बालू टीले आर्द्र क्षेत्रों में भी बन जाते हैं।

जहाँ पर टीला अकेला होता है वहाँ पर निरन्तर एक ही दिशा में बहने वाली पवन उस टीले को दोनों पार्श्वों से इस प्रकार चलती है कि उससे टीले के दो नुकीले और लंबे सिरे बन जाते हैं। ऐसे टीलों को 'बर्छन' कहते हैं। यह 'बर्छन' अर्द्ध चन्द्राकार होता है।

अनुवृत्तीय बालू टीले—ये टीले लंबे और गहरे किए हुए अनुवृत्त होते हैं। इनके सिरे पवन की दिशा में होते हैं। पवन की दिशा में इनका ढाल मन्द होता है। और पवन

दिशा के विरुद्ध इनका ढाल कड़ा होता है। पवन की दिशा में स्थित गर्तों से बालू उड़ कर इन टीलों का निर्माण करती है। इनके निकट वनस्पति का आवरण सदैव रहता है। इस वनस्पति की जड़ों की सहायता से ये बालू टीले प्रायः स्थायी हो जाते हैं।

आड़े बालू टीले—ये टीले प्रायः बालू की लंबी और संकीर्ण ऊँचाइयाँ (रिज) होती हैं जो पवन-दिशा के समानान्तर बनी होती हैं। इन ऊँचाइयों के बीच और इनकी ढालों पर वनस्पति उगी रहती है; केवल चोटियाँ वनस्पति-रहित होती हैं। कभी-कभी इन ऊँचाइयों में इतनी वनस्पति हो जाती है कि ये चिरस्थायी हो जाती हैं। इन क्षेत्रों में बालूराशि अपेक्षाकृत कम होती है।

कुछ क्षेत्रों में बालू-टीले अपना स्थान बदला करते हैं। ऐसा वहीं संभव है जहाँ पवन अधिक प्रबल होती है, और जहाँ बालू को जमाने के लिए वनस्पति अथवा आर्द्रता नहीं है। फ्रांस के पश्चिमी तट के निकट स्थान बदलने वाले बालू-टीले पहले बहुत थे। परन्तु अब उन पर पेड़ रोप दिये गये हैं जिससे उनका हटना बन्द हो गया है।

जब तक उड़ने के लिए बालू स्वतंत्र है, और पवन में उसको उड़ा ले जाने की शक्ति है, तब तक कोई बालू टीला स्थायी नहीं रहता। निरंतर एक ही दिशा में चलती हुई पवन टीले की मन्द-ढाल से बालू उठाकर उसको टीले की खड़ी ढाल पर डाल देती है। इस प्रकार, एक ढाल से बालू लेकर दूसरे ढाल पर पवन द्वारा डालने से बालू-टीले धीरे-धीरे आगे की ओर खिसकते हैं।

मरुस्थल

जहाँ पर वर्षा से प्राप्त होने की अपेक्षा भाप बन कर अधिक जल उड़ जाता है, और इसलिए जहाँ धरातल पर प्रायः किसी प्रकार का वनस्पति-आवरण नहीं होता है उस क्षेत्र को 'मरुस्थल' कहते हैं। जल का अभाव होने से मरुस्थल में धरातल के आकार पवन द्वारा ही बनते हैं। पवन के कार्य के अनुसार उष्ण-मरुस्थल को निम्नलिखित प्रकारों में बाँटा गया है:—

(१) हम्मदा, (२) रेग और (३) एर्ग।

हम्मदा पथरीला मरुस्थल है जिसमें पहाड़ियाँ और अनेक गर्त होते हैं। गर्तों में कहीं-कहीं नमकीन जल की झीलें होती हैं जिनको 'प्याला' कहते हैं।

रेग भी पथरीला मरुस्थल है, परन्तु यहाँ पर कंकड़ियों के ऊपर बालू भी थोड़ी बहुत फैली होती है।

जहाँ मरुस्थल में बालू बहुत होती है, उस क्षेत्र को 'एर्ग' कहते हैं।

लोयस

पवन द्वारा जमा किये हुए महीन पदार्थ को 'लोयस' कहते हैं। यह महीन पदार्थ पवन के साथ अपने उत्पत्ति स्थान से बहुत दूर उड़ जाता है।

लोयस के जमाव की तीन विशेषताएँ हैं :—(१) उनमें पर्तें नहीं होती हैं; (२) उसके कण बहुत ही महीन होते हैं; और (३) उनका बहुत बड़ा ढेर बन जाता है। इन विशेषताओं से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि लोयस का जमाव बहुत दिन तक चलता रहा होगा। लोयस के महीन कण इतने बड़े ढेर में वहीं जम सकते हैं, जहाँ जलवर्षा बहुत कम होती है, परन्तु जहाँ तृण बहुत उगता है। इस तृण के कारण लोयस के कण बँध जाते हैं।

लोयस की एक विशेषता यह भी है कि काटने पर उसकी दीवार सीधी खड़ी रहती है, गिर नहीं पड़ती। यद्यपि लोयस स्वयं इतनी मुलायम है कि हाथ से मलने पर वह आसानी से चूर्ण हो जाती है। इस विशेषता के कारण लोयस में बहुत गहराई तक छिद्र बने हुए हैं जिनमें मिट्टी नहीं भरी है। ये छिद्र लोयस के ऊपर उगने वाली घास की जड़ों द्वारा बने होंगे। आजकल घास की जड़ों के सड़ जाने से ये छिद्र खाली पड़े हैं। लोयस इतनी पोली है कि इसमें वर्षा का जल तुरन्त सोख जाता है, जिससे इसकी तह सदा सूखी रहती है

नीचे दिया हुआ चित्र चीन की लोयस का है :—

चित्र १२९—लोयस, स्मिथ द्वारा

लोयस का भौगोलिक वितरण संसार के मरुस्थल और प्राचीन हिम से ढके हुए

क्षेत्रों से संबंधित हैं; क्योंकि ये क्षेत्र पवन के लिए बालू के बड़े भंडार हैं। चित्र १३० में यह संबंध दिखाया गया है।

संसार में लोयस के सबसे गहरे जमाव चीन के शान्सी और क्कान्सू प्रान्तों में हैं। यहाँ पर लोयस की गहराई लगभग २०० फीट है। यूरोप तथा अमेरिका में इसकी गहराई केवल २० फीट के लगभग है।

विस्फोट (वलकनिज़म)
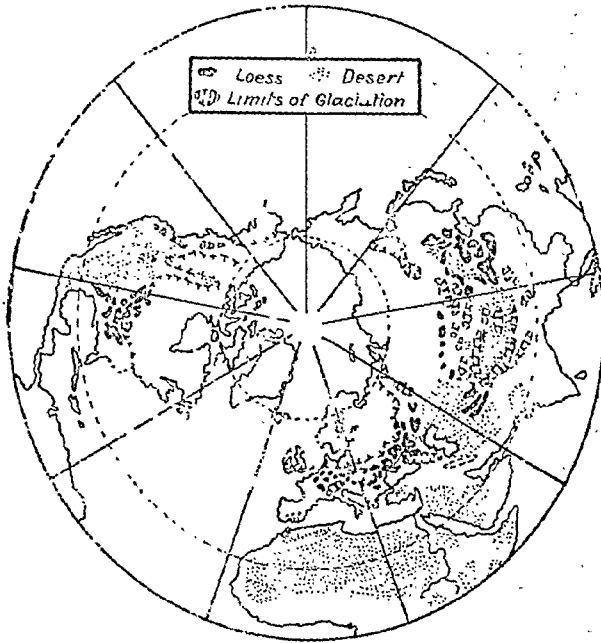
चित्र १३०—लोयस का वितरण

पृथ्वी के भीतर से पिघली हुई चट्टान के बाहर निकलने को 'विस्फोट' कहते हैं। ऐसी चट्टान पृथ्वी के छेदों में से होकर निकलती है। इन छेदों को ज्वालामुखी' (वालकैनो) कहते हैं। प्रकृति के सभी दृश्यों में ज्वालामुखी सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला होता है। परन्तु इसके विषय में हमारा ज्ञान सीमित है।

यदि यह मान लिया जाय कि पृथ्वी की उत्पत्ति प्रज्वलित गैसों के ठंडी होने से हुई

है, तो यह मानना होगा कि प्राचीन काल में इस काल की अपेक्षा बहुत अधिक विस्फोट होते थे; क्योंकि उस समय पृथ्वी की बाहरी तह बहुत पतली थी और इसलिए उसको फाड़ कर पिघली चट्टान आसानी से बाहर आ जाती थी। उपरोक्त अनुमान से विस्फोट की निम्नलिखित अवस्थाएँ होती हैं:—

(१) बाह्य-विस्फोट (सुपरफिशल इरप्शन), जब कि पिघली चट्टानें बहुत बड़े क्षेत्र में निकलती थीं।

(२) दरार-विस्फोट (फिशर इरप्शन), जब कि पिघली चट्टानें केवल थोड़े पतले पर्त वाले क्षेत्रों में ही निकलती थीं।

(३) केन्द्रीय-विस्फोट (सेन्ट्रल इरप्शन), जब कि पिछली चट्टानें बहुत तोड़ फोड़ के बाद बाहर निकलती हैं।

पृथ्वी के भीतर पिघले हुए पदार्थ के साथ गैसों का मिश्रण होने से ही 'विस्फोट' होता है; क्योंकि जहाँ-कहीं भी जीवित ज्वालामुखी हैं वहाँ उनसे बराबर गैसें निकला करती हैं। वास्तव में ज्वालामुखी के विस्फोट का अन्तिम उद्‌गार गैसों का ही होता है। इसलिये यह विश्वास करना पड़ता है कि पृथ्वी के भीतर के पिघले हुए पदार्थ में गैसें हैं। गैसें जहाँ भी होती हैं वहाँ वह सक्रिय होती हैं, और अनुकूल समय आने पर उनके द्वारा विस्फोट होता है। इसलिए यह कहावत सच है कि, 'गैस नहीं, विस्फोट नहीं।'

ज्वालामुखी का कार्य और उनका आकार पिघले हुए पदार्थ (मैगमा) की प्रकृति और उसमें मिश्रित गैसों पर निर्भर हैं। ज्वालामुखी से निकलने वाले पिघले पदार्थ, और कम गहराई से आने वाले पदार्थ। बहुत गहराई से आने वाला पदार्थ 'ग्रैनिटिक मैगमा' कहलाता है। इसमें बालू का अंश (सिलिका) होता है; और गैसों की मात्रा अधिक होती है। इसको 'एसिडमैगमा' भी कहते हैं। कम गहराई से आने वाला पिघला पदार्थ 'बसाल्ट' कहलाता है। उसको 'बेसिक मैगमा' भी कहते हैं। इसमें गैसे कम होती हैं। इस प्रकार के पदार्थ बहुत ही ढीले होते हैं और ज्वालामुखी से निकलने पर वे इतने वेग से बहते हैं कि एक घुड़सवार उनकी बराबरी नहीं कर सकता है। इस प्रकार के पदार्थ से बने हुए ज्वालामुखी के मुख (कोन) नीचे और प्रायः चपटे होते हैं।

गैस-मिश्रित पदार्थों के निकलने पर बड़ा कोलाहल होता है। गले हुए पदार्थों के टुकड़े-टुकड़े हो कर ज्वालामुखी से बाहर निकलते हैं। उनमें से बहुत राख भी बाहर निकलती है। इस राख को 'टफ' कहते हैं। विस्फोट में गैसों का बहुत दबाव होने से ज्वालामुखी से बाहर निकले हुए पदार्थ बहुत दूर तक चारों ओर फैल जाते हैं, जिससे ज्वालामुखी के मुख के निकट न गिरने से उनका 'कोन' बहुत छोटा होता है।

दो प्रकार के पिघले पदार्थों के कारण विस्फोट दो प्रकार का होता है; (अ) शान्त विस्फोट (हफ्यूसिव), और अशान्त विस्फोट (इक्सप्लोसिव)।

ज्वालामुखी का कोण (कोन)

ज्वालामुखी से बाहर आने वाला पदार्थ तीन प्रकार का होता है; (अ) गैसें, (ब) राख और टुकड़े, और (स) लावा। गैसें निकलने पर वायु में मिल जाती हैं, परन्तु अन्य वस्तुएँ मुख के चारों ओर जमा हो जाती हैं, और इनसे ज्वालामुखी का कोण बनता है। ये कोण पहाड़ियाँ होती हैं जिनके ऊपर छेद होता है। इस छेद को 'क्रेटर' कहते हैं। क्रेटर प्रायः गोल होता है; परन्तु जहाँ पर एक विशेष दिशा से पवन निरंतर चलती है, वहाँ उसका आकार बदलता जाता है। कनारी द्वीप में टेनेरिफ ज्वालामुखी कोरू व्यापारिक पवनों के कारण एकांगी हो गया है। जहाँ ज्वालामुखी सुप्तावस्था में है, वहाँ क्रेटर में जल भर कर झील बन जाती है।

राख और लावा से विशेष प्रकार के 'कोण' बनते हैं। राख से बने हुए कोण सुडौल, गोल होते हैं। ज्वालामुखी से निकली राख क्रम से मुख के चारों ओर जमती रहती है। चोटी पर भीतर की ओर धँसा हुआ गर्त होता है।

लावा के कोण प्रायः लावा से बनते हैं जो शीघ्र ठंडा हो जाता है। इस प्रकार के कोण गुम्बजाकार होते हैं जिनके ढाल खड़े होते हैं। 'एसिड लावा' कभी-कभी भीतर जम जाता है और ज्वालामुखी के छिद्र को बन्द कर देता है। इसलिए लावा को बाहर आने में छिद्र के मुख और किनारों पर दबाव डालना पड़ता है। कभी-कभी इस दबाव से ज्वालामुखी के पार्श्व भाग में दरार हो जाती है जिससे लावा निकलने लगता है। इस प्रकार एक दूसरा कोण बन जाता है। कभी-कभी दबाव के कारण ज्वालामुखी का कुछ भाग फटकर गिर जाता है, जिससे उसका मुख बहुत चौड़ा हो जाता है। इस प्रकार के चौड़े मुख को 'काल्डेरा' कहते हैं। कभी-कभी जैसे विसूवियस ज्वालामुखी में, इस 'काल्डेरा' के भीतर एक और 'कोण' बन जाता है, जिसको 'एडवेन्टिव' कोण कहते हैं।

बेसिक लावा से बना हुआ 'कोण' चपटा और मन्द ढाल वाला होता है; क्योंकि लावा बहुत बड़े क्षेत्र में फैल जाता है। माउना लोवा नामक पूरा द्वीप इस ज्वालामुखी के लावा से बना है। यद्यपि इस ज्वालामुखी की ऊँचाई लगभग १४,००० फीट है, तथापि उसका ढाल ४° से ६° तक ही है।

भिन्न प्रकार के 'कोण' आगे दिये हुए चित्रों में दिखाये हैं।

विस्फोट अन्त होने के उपरान्त बहुत समय तक भाप और गैसें ज्वालामुखी से निकलती रहती हैं। यदि इन गैसों में गंधक मिला होताहै, तो ज्वालामुखी को 'सोल्फाटोरा' कहते हैं। नेपुल्स के निकट इस नाम का एक एक सुसुप्त ज्वालामुखी है। इससे बहुत समय से गन्धक निकाला गया है। 'सोल्फाटोरा' ज्वालामुखी की अन्तिम अवस्था का चिन्ह है।

गर्म सोते (हाट स्प्रिंग), गेजर, और मिट्टी के विस्फोट भी विस्फाट कार्य के ही

अन्तर्गत हैं। पृथ्वी पर निम्नलिखित क्षेत्रों में गर्म सोते और गेजर अधिक मिलते हैं:—आइसलैन्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका में येलोस्टोनपार्क और निउजीलैंन्ड में उत्तरी द्वीप। मिट्टी के विस्फोट वास्तव में गर्म सोते ही हैं जिनका जल शीघ्र भाप बनकर उड़ जाता है और मिट्टी बाहर जम जाती ह। भारत में अराकानयोमा पहाड़ियों के क्षेत्र में मिट्टी के
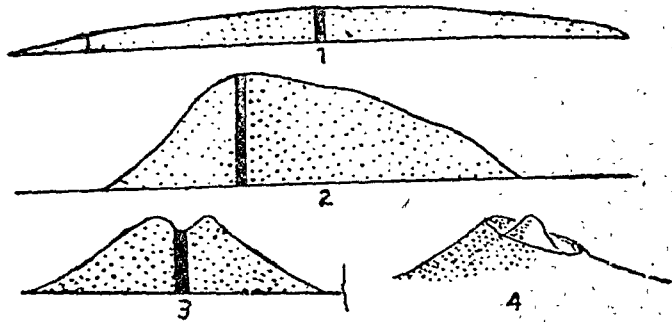
चित्र १३१—(१–वेसिकलावा कोण, २–एसिडलावा कोण, ३–राख का कोण, ४–काल्डेरा और एडवेन्टिव कोण)

विस्फोट मिलते हैं। वर्मा की ओर इस पहाड़ी में ये विस्फोट मिनवू, प्रोम और हेनजादा जिलों में हैं। भारत की ओर ये विस्फोट रामड़ी द्वीप, चेड्वा और नेग्रेस में हैं।

विस्फोटीय आकारों को दो विशेषताएँ हैं; इस आकार का उस क्षेत्र की चट्टानों से कोई संबंध नहीं है, और इन आकारों का जन्म अकस्मात होता है। इटली में मोन्टे नोवो नामक पहाड़ी विस्फोट द्वारा एक रात्रि में बन खड़ी हुई थी। इसी प्रकार, जावा और सुमात्रा के मध्य सुन्डास्ट्रेट में स्थित क्राकाटोवा ज्वालामुखी ने क्राकाटोवा द्वीप का दो तिहाई भाग कुछ मिनटों में ही नष्ट हो गया था। क्राकाटोवा ज्वालामुखी मई, १८३३ में फूटा। २७ अगस्त, १८८३ को इसमें चार बार बड़े-बड़े धड़ाके हुए। धड़ाके सैकड़ों मील दूर आस्ट्रेलिया में भी सुनाई दिये थे। जब गर्द साफ हुई, तब देखने से ज्ञात हुआ है कि द्वीप का बहुत सा भाग लापता है।

विस्फोट से बने आकारों पर बाद में घर्षणादि क्रियाओं के प्रभाव से परिवर्तन होता है।

वेलजियम कांगो में स्थित न्यामला गीरा ज्वालामुखी का वर्णन नीचे दिया जाता है:—

"क्रेटर का व्यास लगभग २ मील है और उसकी गहराई ३०० फीट के लगभग है। इसके उत्तरी भाग में दोवार टूटी है जिससे हम लोग क्रेटर के भीतर घुसे। वास्तव में यहाँ दो क्रेटर हैं; सक्रिय क्रेटर पुराने क्रेटर के भीतर स्थित हैं। यह नया क्रेटर लगभग

२॥ मील चौड़ा है और कुछ वर्ष पहले बहुत गहरा था। परन्तु लावा के जमाव के कारण अब यह सतह से १०० फीट नीचे है। पुराने क्रेटर की सतह में अनेक दरारें बन गई हैं। उसमें कई स्थानों पर भीतर से भाप निकलती है। जहाँ हम लोगों ने इसमें अपना पड़ाव डाला था वहाँ गंधक के कई उद्‌गार सफेद धुआँ के रूप में हैं। यहाँ पर सतह बहुत भयानक है और हम लोग छड़ी के सहारे चले। छिपी हुई दरारों को छड़ी से देखते जाते थे।

सक्रिय क्रेटर के भीतर देखने में भाप, ज्वालाएँ और धुआँ का उपद्रव दिखता है। वहाँ पर कम से कम ६०० एकड़ विस्तार में लावा फैला था। इसमें अनेक दरारें और मीड़ें थीं। इन दरारों के भीतर से पिघला हुआ लावा बाहर निकलता है और सतह पर मोटी, लाल धाराओं में बहता है। लावा की सतह पर, दक्षिण भाग में, पाँच ऊँची चिमनियाँ खड़ी थीं जिनमें से नीले और सफेद धुँयें के बड़े-बड़े स्तंभ और कभी-कभी ज्वालाएँ निकलती थीं। ये चिमनियाँ लगभग २० फीट ऊँची हैं। ऊपर से हम लोगों को भीतर लावा उबलता हुआ दिखाई देता था। समय-समय पर एक धड़ाके के साथ भीतर से ज्वालाएँ निकलती थीं जिनसे आकाश में बहुत ऊँचाई तक लावा के टुकड़े फेंके जाते थे। कोण के चारों ओर दीवारों पर गंधक जमा हुआ था।

सक्रिय क्रेटर में उतर कर हम लोग थोड़ी दूर तक लावा पर जहाँ वह बहुत गर्म नहीं था, चले। यहाँ पर दरारों के भीतर लाल-लाल जलता हुआ लावा दिखाई देता परन्तु यहाँ पर गर्मी बहुत थी। हरी डालों की छड़ियाँ इन दरारों में डालने पर तुरन्त जलने लगती थीं।

रात्रि में क्रेटर का दृश्य दिनकी अपेक्षा बहुत ही हृदयंगम था। चिमनियों में से ऊँची ऊँची ज्वालाएँ निकलकर आकाश में छाये धुआँ को चमका देती थीं। एक महान काली चट्टान में स्थित एक संकीर्ण दरार में से लगभग २० गज ऊँची सफेद ज्वाला समय-समय पर तोप की भाँति ध्वनि करती हुई निकलती थी। रात्रि भर इस विस्फोट की ध्वनि हम लोग क्रेटर को अन्य ध्वनियों के ऊपर सुनते रहे। दूसरी रात्रि को यह ज्वाला बन्द हो गई।"*

ज्वालामुखी का वितरण—भौगोलिक वितरण को देखने से यह पता चलता है कि पृथ्वी की 'टूटी पर्तों' (जोन आव वीकनेस) से ज्वालामुखी का घनिष्ठ संबंध है। इन पर्तों का संबंध मुड़ी हुई चट्टानों से है। ज्वालामुखी की वितरण रेखा एलास्का से पैटागोनिया तक, न्यूजीलैण्ड से जापान तक, अफ्रीका में फटी घाटियों के किनारे और एशिया-योरप के मोड़दार पर्वत के किनारे-किनारे स्थित है। यह वितरण चित्र १३२ में दिखाया गया है।

*मिल फांर्ड—बार वर्टन, ज्योग-जर्नल, १९३७।

चित्र १३२—दिमार्तोन से ज्वालामुखी

भूकम्प

पृथ्वी के भीतरी भाग में कम्पन होने से ऊपर सतह पर होने वाले प्रबल उपद्रव को 'भूकम्प' कहते हैं। पृथ्वी के भीतर जहाँ पर यह कम्पन आरंभ होता है उस स्थान को 'हाइपो सेन्टर' कहते हैं। कभी-कभी 'हाइपो सेन्टर' की स्थिति मीलों की गहराई पर होती है। परन्तु अधिकतर कम्पन ऊपरी पर्तों के बहुत निकट से ही आरंभ होते हैं। ओल्डम ने इटली के ५००० भूकम्पों का अध्ययन करके यह पता लगाया कि उनमें से ९० प्रतिशत ५ मील से कम गहराई से आये थे, केवल ८ प्रतिशत ही ऐसे थे जो ५ से १९ मील की गहराई से आये थे। कैलीफोर्निया में कई सौ भूकम्पों का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि उनमें से अधिकतर ११ मील की गहराई से आये थे। पृथ्वी के तल पर जहाँ कम्पन का प्रभाव पहले पड़ता है और जहाँ से उपद्रव फैलता है उस स्थान को 'वाह्यकेन्द्र', (एपीसेन्टर) कहते हैं। इस स्थान पर सबसे अधिक कम्पन होता है और इसलिए यहीं पर सबसे अधिक क्षति होती है।

बहुत समय से यह ज्ञात है कि भूकम्प में तीन प्रकार की लहरें चलती हैं, (अ) दवाव वाली लहरें (पुश वेव), (ब) हिलाने वाली लहरें (शेक वेव) और तल स्थित लहरें (सरफेस वेव)। पहली दो प्रकार की लहरें पृथ्वी के भीतर चलती हैं और तीसरी लहर पृथ्वी के वाहरी तल पर चलती है। भीतर चलने वाली लहरें पृथ्वी की भिन्न-भिन्न गहराइयों में भिन्न-भिन्न गतियों से चलती हैं। यह विभिन्नता भागों की प्रकृति पर निर्भर है।

ये गतियाँ नीचे दी जाती हैं :—

	दवाव की लहर (पशु वेव)	हिलाव की लहर (शेक वेव)
तल के निकट	५·४	३.३ कलोमिटर सेकिंड
मध्यवर्ती भाग	७·८	४.४ ,,
निम्न भाग	७·२	३½ से ४ ,,

कम्पन की लहरें बड़ी गूढ़ होती हैं। क्वेटा के १९३५ के भूकम्प में लोगों के अनुभवों को सुनने से इस गूढ़ता का पता चलता है। लोगों को पहले उत्तर-दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम वाला वेड़ा। (हारीजन्टल) कम्पन अनुभव हुआ। उसके वाद ऊपर-नीचे वाला कम्पन मालूम हुआ। क्वेटा के कवरिस्तान में लगे हुए पत्थर इधर-उधर घूम गये थे। एक साक्षी ने यह वताया कि कम्पन पहले दक्षिण की ओर से आया। उसके आने के पहले गड़गड़ाहट का शब्द हुआ जैसे कि सुरंग के भीतर रेल चल रही हो। धरातल ऊपर नीचे होने लगा, जैसे कि जल में नाव ऊपर नीचे होने लगती है। कुछ लोगों ने यह भी देखा कि सड़क के किनारे के पेड़ भूमि तक झुक गये और फिर खड़े हो गये।

भूकम्प दो प्रकार के होते हैं; विस्फोटिक भूकम्प (वालकैनिक) और भूगर्भीय (टेक-टानिक)। विस्फोटिक भूकम्प वे होते हैं जिनका संबंध विस्फोट से होता है। ऐसे भूकम्प थोड़े विस्तार में होते हैं, और उनसे कम हानि होती है। भूगर्भीय भूकम्प पृथ्वी के भीतर स्थित दवाव तथा खिंचाव शक्तियों के कारण उसकी पर्तों के तोड़-फोड़ से संबंधित हैं।
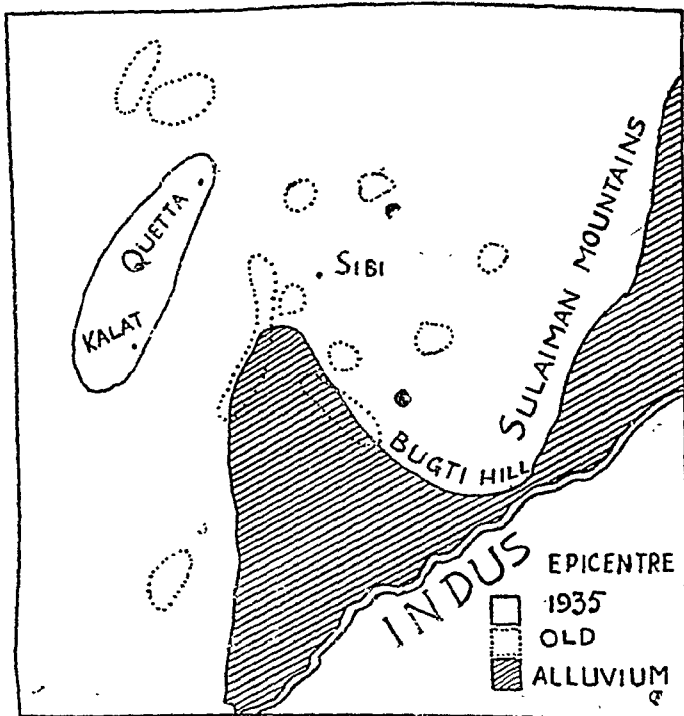
चित्र १३३—विलोचिस्तान का भूकम्प-क्षेत्र

अधिकतर भूकम्प धरातल की पर्तों में नई दरारें वनने से अथवा पुरानी दरारों के किनारों के हटने से ही आते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसी दरारें धरातल के ऊपर दिखाई दें। उनकी उपस्थिति का ज्ञान 'वाह्य केन्द्र' से होता है। उदाहरण के लिए १८६८,१८७२ और १९०६ में कैलीफोर्निया में आये हुए सभी भूकम्प सान एन्ड्रियाज दरार से संबंधित थे। १९३५ का क्वेटा भूकम्प चिल्तन कलात दरार से संबंधित था। यह संबंध ऊपर दिये हुए चित्र से ज्ञात होता है।

यह वात अव मान ली गई है कि टर्शियरी युग के मोड़दार पर्वत, जिनमें विलोचिस्तान के पर्वत सम्मिलित हैं, मध्य एशिया के कठोर चिरस्थायी भाग के भारत के कठोर भाग

की ओर खिसकने से बने थे। इससे दोनों कठोर भागों के मध्य में स्थित मुलायम चट्टानें मुड़ कर पहाड़ बन गईं। चित्र १३३ में वाह्य केन्द्र दिखाये गये हैं। ये केन्द्र बिलोचिस्तान के पहाड़ों में स्थित एक घाटी के किनारे-किनारे हैं। बोलान दर्रा का मुख तथा सीबी जो समुद्र तल से केवल ४५० फीट ऊँचे हैं, इस घाटी के ऊपरी भाग में हैं। घाटी के पश्चिम में कलात में पहाड़ों की ऊँचाई लगभग १०,००० फीट है। पूर्वी ओर भी बहुत ऊँचे पहाड़ हैं। संभव है कि इस घाटी के नीचे भारत का कठोर भाग घुसा हुआ है। ऐसी दशा में भूकम्प की उत्पत्ति स्वाभाविक है। मुड़े हुए क्षेत्रों में बेड़ी अथवा तिरछी दरारों के किनारे-किनारे वाह्य-केन्द्र होते हैं। जहाँ पर कई प्रकार की दरारें मिलती हैं वहाँ भूकम्प बहुत आते हैं। जापान में ओसाका और किओटो तट के निकट एक तिरछी दरार पर स्थित हैं।

भूकम्प के कारण धरातल में दरारें बनना, तल में परिवर्तन होना और धरातल की कुछ पर्तों का ऊपर-नीचे होना आदि देखा जाता है। फटानें (लैन्ड स्लाइड) भी भूकम्प के कारण बहुधा होती हैं; क्योंकि इनका संबंध ऊँचे ढालों से होता है। कभी-कभी फटानों से घाटियों के मुख बन्द हो जाते हैं जिससे झीलें बन जाती हैं।

जापान में

संसार में सबसे अधिक भूकम्प जापान में आते हैं। १८८५ से १८९२ तक ८००० भूकम्प जापान में आये थे। जापान का पहली सितम्बर १९२३ का भूकम्प बहुत समय तक स्मरण रहेगा, यद्यपि वह जापान के सबसे बड़े भूकम्पों में से नहीं था। अन्य बड़े भूकम्पों की अपेक्षा इसमें मृत्यु भी कम हुई थी। इसमें ९९००० लोग मरे थे, परन्तु मेसीना में १९०८ में १ लाख लोग मरे थे और १९२० में चीन के भूकम्प में १,८०,००० लोग मरे थे। उपरोक्त जापानी भूकम्प में आग फैलने के कारण धन की हानि अधिक हुई थी।

टोकियो के निकट कई अलग-अलग भूकम्प-क्षेत्र हैं। १९१४ से लेकर १९२१ तक जापान में लगभग २०० भूकम्प हुए थे। इनमें से प्रायः सभी भूकम्प निम्नलिखित किसी क्षेत्र में उत्पन्न हुए थेः—

(१) मुख्यद्वीप के पूर्वी तट पर,
(२) बोसो प्रायद्वीप और उससे लगे समुद्र में,
(३) टोकियो के पूर्व और उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में,
(४) सागामी आखात के उत्तरी भाग में।

उपरोक्त सितम्बर का भूकम्प ओशीमा के उत्तर से आरंभ हुआ था। ऐसा अनुमान है कि टोकियो में २ घंटा २० मिनट तक कम्पन होता रहा। पहले भूकम्प के ठीक २४
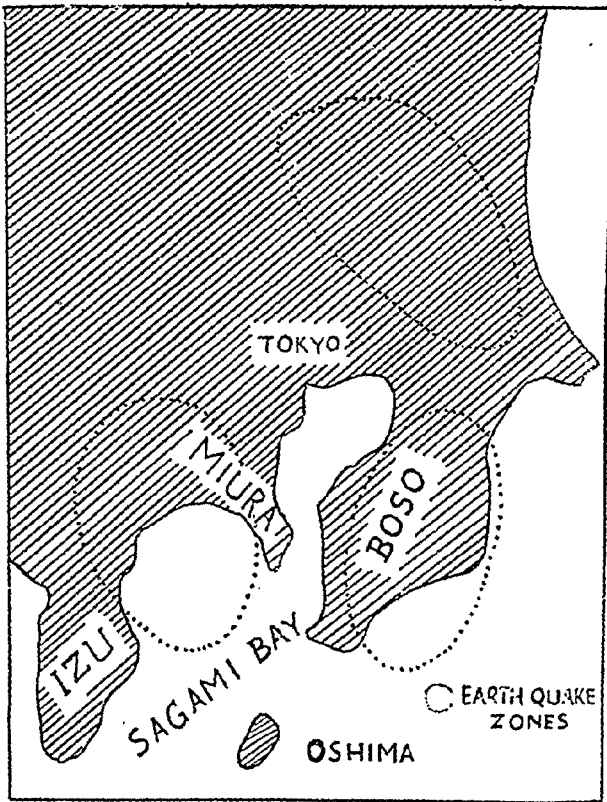
चित्र १३४—जापान के भूकम्प क्षेत्र

घंटे बाद, २ सितम्बर को ११ बजकर ४७ मिनट पर दूसरा भूकम्प आया। इस भूकम्प का आरम्भ बोसो प्रायद्वीप में कात्सुऊरा के दक्षिण पूर्व से हुआ।

इन भूकम्पों के कारण स्थानीय समुद्रतल में परिवर्तन हो गये थे। मिऊरा प्रायद्वीप में २ से ५ फीट तक तल ऊपर उठ गया। इसी प्रकार का उत्थान सागामी आखात में भी हुआ। बोसो प्रायद्वीप के पूरे भाग में उत्थान हुआ, पर बाद में भूमि अपनी पूर्वावस्था में आ गई। पीछे दिये चित्र में जापान के भूकम्प क्षेत्र-दिखाये गये हैं।

भूकम्प क्षेत्रों का वितरण—संसार के अधिकतर भूकम्प, विशेषतः बड़े-बड़े भूकम्प, दो बड़ी-बड़ी पेटियों में होते हैं, भूमध्यसागरीय पेटी, और मध्य एटलांटिकीय पेटी। प्रमुख पेटी को भूमध्यसागर-प्रशान्त महासागर की पेटी कह सकते हैं। यह पेटी पुर्तगाल से लेकर भारत होती हुई प्रशान्त महासागर तक फैली है। दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र में इसका विस्तार अधिक

है। इसकी एक शाखा बर्मा से इन्डोनेशिया होती हुई निउगिनी तक जाती है। एक अन्य शाखा जापान से फिलिप्पीन होती हुई निउगिनी तक जाती है। जापान से निउगिनी तक एक और शाखा बोनिन और लारियाना द्वीपों से होकर जाती है। कैरीबियन सागर के चारों ओर भी भूकम्प क्षेत्र हैं।

मध्य एटलांटिक पट्टी मुख्य पट्टी से कुछ बातों में भिन्न है। यहाँ भूकम्पों की संख्या, विशेषकर बड़े-बड़े भूकम्प की संख्या से कम है। इस पेटी में अधिकतर भूकम्प समुद्री क्षेत्र में आते हैं; मुख्य पेटी में अधिकतर भूकम्प तट के किनारे आते हैं। मध्य एटलांटिक में समुद्र के भूमध्य रेखीय भागों में अधिक भूकम्प आते हैं। मध्य एटलांटिक भूकम्प क्षेत्र का सम्बन्ध मध्य एटलांटिक पहाड़ (मिड एटलांटिक रिज) से भी देखा जाता है। दक्षिणी एटलांटिक में बहुत कम भूकम्प आते हैं। वहाँ पर उनका मुख्य क्षेत्र त्रिस्तन दो कुनहा के निकट है।

भूकम्प क्षेत्र विशेषतया नवीन पर्वतों से सम्बन्धित है। आल्प्स हिमालय, एन्डीज और राकी पर्वत आदि भूकम्प क्षेत्र में हैं। महासागरों के सबसे गहरे भाग भी भूकम्प क्षेत्र में है, और संसार की बड़ी-बड़ी फटी घाटियाँ भी भूकम्पों के क्षेत्र हैं।

भारत में भूकम्प क्षेत्र हिमालय पर्वत से सम्बन्धित है। जहाँ हिमालय की नवीन चट्टानों का प्रायद्वीप की प्राचीन चट्टानों से मेल होता है, वहाँ पर भूकम्प क्षेत्र है। इस क्षेत्र में मिट्टी के नीचे दबा हुआ ग्रेट हिमालयन बाउन्ड्री फाल्ट है। इस क्षेत्र में नीचे लिखे हुए उपक्षेत्र हैं:—

(१) सदिया, (२) काश्मीर, (३) क्वेटा (पाकिस्तान में), और (४) वजीरिस्तान (पाकिस्तान में)।

इस मुख्य क्षेत्र के अतिरिक्त बिहार और आसाम के मैदानों में भी भूकम्प आते हैं। इन मैदानों के नीचे दरारें हैं जिनके कारण भूकंप आते हैं। १९३४ का बिहार का मोतीहारी और मुंगेर के निकट भीतरी दरारों के ही कारण हुआ था।

भूकम्प पट्टी के अतिरिक्त कभी-कभी काफी बड़े भूकंप अन्य क्षेत्रों में भी आते हैं। नीचे दिये हुए चित्र में भूकंप दिखाये गये हैं—
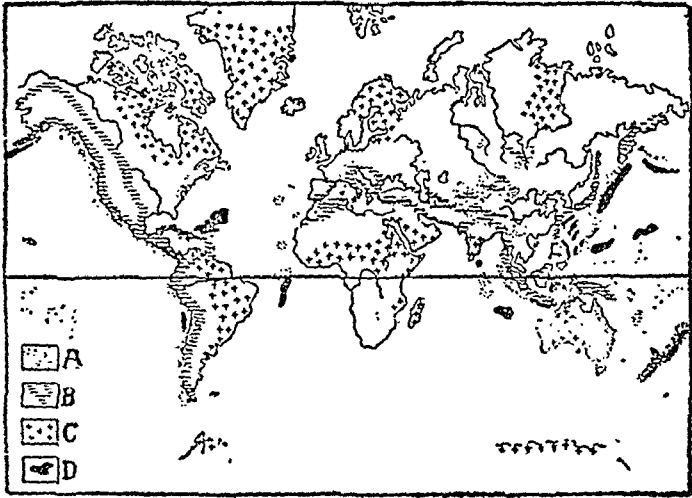
चित्र १३५—(A—मुख्य क्षेत्र, B—नवीन पहाड़ों का क्षेत्र, C—प्राचीन दरारें D—समुद्री दरारें)

मूँगा (कोरल)

कुछ आकार वास्तविक 'चट्टान' के नहीं बने होते हैं, वरन् समुद्र में रहने वाले एक विशेप प्रकार के बहुत छोटे-छोटे जीवों के मृत शरीरों से। परन्तु इस प्रकार के आकारों की नींव वास्तविक चट्टान से बने हुए आकार पर ही पड़ती है। नींव पड़नेवाला आकार तोड़-फोड़ वाली भूगर्भीय शक्ति से ही बना होता है। संसार में कहीं-कहीं महाद्वीप तथा द्वीप के तट भीतियों (रीफ) से घिरे होते हैं। ये भीतियाँ विशेप प्रकार के जीवों (मादरे पोर) द्वारा बनाई गई हैं। ये जीव गर्म जल में ही जीवित रह सकते हैं, इसलिये ऐसी भीतियाँ भूमध्य रेखा के ३० अंश उत्तर और ३० अंश दक्षिण के मध्य ही पाई जाती हैं। परन्तु प्राचीन काल में बने हुए मूँगे के आकार इस क्षेत्र के बाहर शीतोष्ण कटिबन्ध में भी पाये जाते हैं। नियागरा जल प्रपात में चूने की चट्टान प्राचीन मूँगा है। आजकल ये भीतियाँ प्रशान्त महासागर में बहुत अधिक बनी हैं। ६८ फ० और ८५ फ० के मध्य तापमान में इन जीवों की अधिक वृद्धि होती है। इन जीवों के शरीर में चूना (कारबोनेट आव लाइम) होता है। इसी से मूँगे की भीतियाँ बनती हैं।

अध्ययन करने से पता चला है कि मूँगा बनने के लिए निम्नलिखित आवश्यकतायें होती हैं:—

(अ) मिट्टी से रहित स्वच्छ जल,

(ब) उथला जल, लगभग ३० फैदम, और

(स) उष्ण तापमान।

३०० फीट से अधिक गहराई पर मूँगा नहीं बनता है। समुद्र में मूँगे का निर्माण नीचे से ऊपर की ओर और पार्श्व में बढ़ता है। थोड़े समय में मूँगे की भीति इतनी ऊंची हो जाती है कि नीचे भाटा के समय उनकी चोटी जल के ऊपर दिखलाई देने लगती है। भीति का विस्तार पार्श्व भाग में अधिक होता है; क्योंकि वहाँ भीतरी भाग की अपेक्षा जीवों को भोजन अधिक मिलता है। इस पार्श्व भाग से मूँगा पानी के ऊपर पहले उठता है। इस प्रकार, ३० फैदम की गहराई से मूँगे की भीति सीधे ढाल से ऊपर की ओर उठती है। थल की ओर भीति का ढाल कुछ मन्द होता है। थल और मूँगे के मध्य का भाग जल से भरा होता है और लैगून कहलाता है।

आकार के मूँगे की भीतियाँ तीन प्रकार की होती हैं, किनारे वाली भीति (फ्रीजिंग रीफ), रोकने वाली भीति (बैरियर रीफ), और वृत्ताकार भीति (एटोल)। किनारे वाली भीति किसी स्थल के किनारे होती है। यह जल से ढकी रहती है और उसके ऊपर नहीं निकलती है। थल से इस भीति को जो लैगून अलग करता है वह बहुत उथला और सकरा होता है। परन्तु रोकने वाली भीति थल से बहुत दूर होती है और इस भीति और थल को अलग करने वाला लैगून गहरा और चौड़ा होता है। यह भीति जल के ऊपर निकली रहती है। आस्ट्रेलिया में पूर्वी तट पर स्थित 'ग्रेट बैरियर रीफ' कहीं-कहीं थल से लगभग १५० मील दूर है, और लगभग १००० मील तक तट के किनारे-किनारे मिलती है। जब मूँगे की भीति प्रायः वृत्ताकार हो जाती है, तब उसको एटोल कहते हैं। वृत्ताकार भीति में भीतर की ओर जल भरा होता है। यही एटोल का लगून कहलाता है। चित्र १३६ में एटोल का आकार है। इस चित्र में भीतरी भाग में एक ऊँचा द्वीप है। उसके चारों ओर एटोल की भांति फैली है।

मूँगे की भीति के विषय में अब भी मतभेद है। मूँगे की भीति के निर्माण के दो मत हैं :
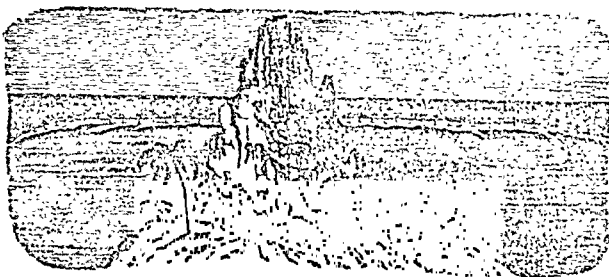
चित्र १३६—एटोल

डार्विन का मत यह है कि मूँगे की सभी भीतियाँ किनारे वाली (फ्रींजिंग) भीतियों के रूप में आरम्भ होती हैं। उनका लैगून धरातल के नीचे धँस जाने से बनता है। इस समय भीति बनाने वाले जीव अपना कार्य करते रहते हैं, और इस प्रकार भीति ऊपर उठती रहती है, यद्यपि लैगून गहरा और चौड़ा होता जाता है। इसी प्रकार, जिन द्वीपों के किनारे मूँगे की भीति पहले बन चुकी थी उनके नीचे धँसने से एटोल बनते हैं।

डार्विन के मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं:–

(१) गहराई से निकले हुए मूँगे के अवशेषों से ज्ञात होता है कि जीवों की मृत्यु डूबने से हुई थी, और इसलिए जब कि भीति की उन्नति हो रही थी उसी समय उसका अन्त हो गया। इसलिए धरातल अवश्य धँस गया होगा।

(२) मूँगे की भीतियों की मोटाई से यह ज्ञात होता है कि उनका आरम्भ धँसती हुई सतह पर हुआ होगा, क्योंकि इतनी अधिक गहराई पर मूँगे के जीव पनप नहीं सकते हैं।

(३) एटोल में स्थित द्वीपों में घर्षण क्रिया से निर्माणित मन्द ढाल नहीं मिलते हैं। इससे यही निर्णय होता है कि ये डूबे हुए बड़े पहाड़ों की चोटियों के अवशेष हैं।

(४) थल और मूँगे की भीति के मिलने के स्थान पर प्रतिरूपता (अनकनफार्मिटी) पाई जाती है। साधारण दशा में घर्षित थल के ढाल नीचे की ओर जाते हैं; परन्तु मूँगे की भीति के ढाल ऊपर की ओर जाते हैं।

(५) स्थल के जिन क्षेत्रों के निकट मूँगे की भीतियाँ मिलती हैं वहाँ समुद्र में अनेक आखात होते हैं। ये आखात नदियों की उन घाटियों में हैं जो अब डूब गई हैं।

(६) जिन द्वीपों के विषय में यह निश्चित है कि वे जल से ऊपर उठे हैं, उनमें मूँगे की भीति नहीं होती है।

डाली ने मूँगे की भीतियों के निर्माण को हिम का प्रभाव (ग्लेशियल कन्ट्रोल) बताया। डाली का कहना है कि हिम युग में उष्ण कटिबन्धीय समुद्रों का तल २००-३०० फीट नीचे हो गया था; क्योंकि उनका बहुत सा जल बर्फ में जम गया था। अपने अध्ययन से डाली ने यह पता लगाया कि बड़े-बड़े लैगूनों की तली समान है, और उनके भीतर की गहराई २००-३०० फीट ही है। ऐसा विचार है कि तली की यह समानता लहरों से कटने कारण थी। डेविस ने इस मत का खंडन इस आधार पर किया कि तली की गहराई समान नहीं होती। एक ही एटोल के भीतर २०० से ३०० फीट की गहराई देखी गई है।

सर जान मरे के मत से मूँगे की भीतियों का निर्माण अन्य प्रकार की नींव पर हुआ। यह नींव समुद्र में डूबी हुई ज्वालामुखी पर्वतों की चोटियाँ थीं। कहीं-कहीं उपस्थित मूँगे की भीतियों के मलवे में ही इनकी नींव पड़ी। थोड़े समय के बाद भीतर की ओर चूना गल गया और उससे जो गढ़ा बना उसमें पानी भर जाने से लैगून बन गया।

उत्तरी-पूर्वी आस्ट्रेलिया में स्थित ग्रेट वैरियर रीफ के अतिरिक्त निउकैलीडोनियन रीफ सबसे बड़ी है। ल्वायल्टी द्वीप को छोड़कर मूँगे की भीतियाँ निउकैलीडोनियन द्वीप समूह को पूर्ण प्रकार से घेरे हुए हैं। यह पूरी भीति एक ही है।

पूर्वी तट पर जहाँ किनारे वाली भीति नहीं है वहाँ मूँगे का विकास वैरियर रीफके रूप में भली-भाँति हुआ है। यहाँ पर वैरियर रीफ स्थल से १ से ८ मील की दूरी पर है। इस भीति के बाहर जल की गहराई अधिक है, परन्तु भीतर की ओर जल बहुत उथला है।

भारत में माल द्वीप (माल्दीव) और लखा द्वीप (लकादीव) समूह मूँगे के बने हैं।

अध्याय ११

जल मण्डल

पृथ्वी पर जल अनेक प्रकार से मिलता है। हमारे शरीर में, वनस्पति में तथा चट्टान आदि में जल भरा पड़ा है। परन्तु स्पष्ट रूप से जल समुद्र, झील अथवा नदी में ही दिखाई देता है। भौगोलिक दृष्टि से यही स्पष्ट रूपी समुद्र तथा झील आदि का जल ही जलमंडल में सम्मिलित माना जाता है ।

इसी जल मंडल के कारण पृथ्वी का महत्व सारे सौर मंडल में है। पृथ्वी को छोड़ कर और किसी ग्रह अथवा नक्षत्र पर समुद्र नहीं है। यदि कोई हमारी पृथ्वी को दूसरे ग्रह से देखे, तो वह इसको 'समुद्र' कहेगा पृथ्वी नहीं, क्योंकि यहाँ पर उसको चारों ओर जल ही जल दिखाई देगा।

पृथ्वी के बाहर अथवा भीतर जो भी जल पाया जाता है वह सब आदि कालीन गैसों के शीतल होने से ही प्राप्त हुआ है। ज्वालामुखी उद्‌गारों से ये गैसें अब भी प्राप्त होती हैं और उनसे पृथ्वी के भीतर आया हुआ जल अब भी प्राप्त होता है। पृथ्वी के भीतर-बाह जल की महान राशि है। उसके क्षेत्रफल का लगभग तीन-चौथाई भाग समुद्र से ढँका है। ऐसा अनुमान किया गया है कि पृथ्वी के समुद्रों में लगभग ३२ करोड़ घन-मील जल भरा है। आरम्भ में यह सारा जल गैस के रूप में था। शीतल होने पर इस जल से बादल बने और बादलों से जल वर्षा हुई। तरल होने के कारण आकर्षण शक्ति के प्रभाव में पड़कर यह जल बहकर पृथ्वी के निचले स्थानों में भर गया। उन स्थानों से, सूर्य के ताप के कारण भाप बन कर आज भी यह जल बादल बनकर बरसता है और नदियों द्वारा बहकर उन्हीं नीचे स्थानों में फिर लौट जाता है। ऐसा अनुमान है कि प्रति वर्ष ८०,००० घनमील जल भाप बन जाता है और उससे २४,,००० घनमील जल बरसता है। इस प्रकार, प्रकृति द्वारा दिये हुए कार्य को जल अपने रूप-परिवर्तन की सहायता से लगातार करता रहता है। वर्षा से प्राप्त जल पृथ्वी के ऊपरी भाग में नदियों और झीलों में भरता है, और पोली चट्टानों के छिद्रों द्वारा पृथ्वी के भीतर भर जाता है। यह भीतरी जल अवसर पाकर सोतों से बाहर फिर आ जाता है। कुओं में भी यही भीतरी जल आता है।

जलराशि की महानता का ज्ञान इस बात से भी हो सकता है कि यदि पृथ्वी का सारा स्थल भाग समुद्र तल के बराबर कर दिया जाय तो सारी पृथ्वी डेढ़ मील गहरे जल मे ढँक जायगी। यदि स्थल का सबसे ऊँचा पर्वत, एवरेस्ट, महासागर के सबसे गहरे स्थान में

डाल दिया जाय तो भी वह स्थान भरेगा नहीं वरन् उसके ऊपर जल की गहराई १ मील से अधिक होगी।

प्रकृति में जल का कार्य महान् है। जल के विना पृथ्वी पर किसी भी प्रकार का जीवन असम्भव है; विशेषकर मनुष्य का जीवन। मनुष्य के शरीर में ही लगभग ७० प्रतिशत अंश जल का है। जल का मुख्य कार्य न केवल प्राणीमात्र की प्यास बुझाने में, सफाई करने, पृथ्वी की तोड़-फोड़ में तथा जल मार्ग देने में है, वरन् सूर्य से प्राप्त ताप के समुचित प्रबन्ध करने में है। जलराशि सूर्य के ताप का एक अनुपम भंडार है जिसके द्वारा ताप की अधिकता का संचय और उसकी कमी की पूर्ति बराबर हुआ करती है। यदि ऐसा न होता तो पृथ्वी पर दिन में, तथा ग्रीष्म-ऋतु में अथवा भूमध्यरेखीय खंडों में ताप की इतनी अधिकता हो जाती है की जीवन असंभव हो जाता। इसी प्रकार रात्रि में तथा जाड़े की ऋतु में, अथवा ध्रुवीय क्षेत्रों में ताप की बहुत बड़ी कमी हो जाती। वास्तव में चन्द्र तथा मंगल आदि मंडलों में जीवों का अभाव जल के अभाव के कारण ही माना जाता है। सौर्य मंडल में हमारी पृथ्वी की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि यहाँ पर जल है। यह देखते हुए कि समुद्र ताप-भंडार, मछली-भंडार, लवण-भंडार तथा रसायनों का भंडार है, पृथ्वी के क्षेत्रफल का तीन-चौथाई भाग जलराशि का होना हमारे हित में ही है।

अभी तक मनुष्य को समुद्र का पूरा ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान को प्राप्त करने में मनुष्य को कई प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि समुद्र की पेंदी पानी से ढकी है, और वह भली भाँति दिखाई नहीं देती है। अधिक गहराई में समुद्र के भीतर नितान्त अंधकार है। अधिकतर भागों में पानी की गहराई बहुत अधिक है। इस गहराई का नापना भी कठिन है। गहराई नापने के लिए एक बोझीली धातु को रस्सी में बाँध कर पानी में लटकाया जाता था। जब यह धातु पेंदी में छू जाती थी तो रस्सी का तनाव कम हो जाता था। रस्सी की लम्बाई से समुद्र की गहराई इस प्रकार मालूम हो जाती थी। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि समुद्र की गहराई नापने के लिए कई मील लम्बी रस्सी आवश्यक होती थी। बहुधा इस रस्सी का ही बोझ इतना अधिक हो जाता था कि धातु के पेंदी छू जाने के बाद भी अपने ही बोझ से रस्सी नीचे खिंचती जाती थी। इससे समुद्र की गहराई का ठीक पता नहीं लगता था। इसके अतिरिक्त, जल में संचालन होने के कारण रस्सी तिरछी हो जाती थी जिससे उसकी लम्बाई समुद्र की वास्तविक गहराई से अधिक हो जाती थी।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए लार्ड केलविन साहब ने एक ऐसा यंत्र बनाया कि उससे पानी का दबाव मालूम किया जाता है। इस दबाव को जानने पर समुद्र की

इयों को 'सागरी दरार' (सबमेरीन कैनियन) कहते हैं। कहीं-कहीं ये दरारें नदियों के मुख से जुड़ी हैं। इसका उदाहरण न्यूयार्क के निकट हडसन नदी का मुख है। इस बात से ऐसा विश्वास किया जाता है कि पहले किसी समय ये नदियाँ इन दरारों में होकर बहती
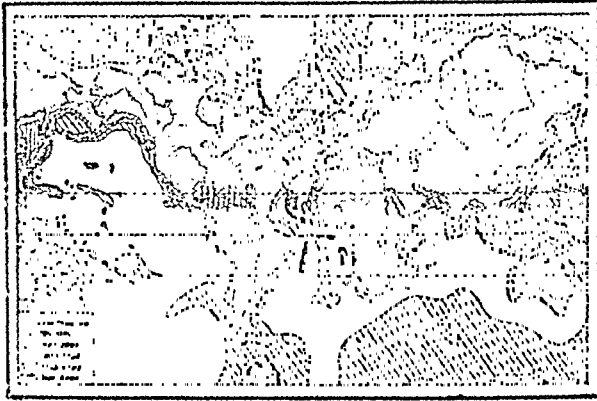
चित्र १३७

थीं। हो सकता है कि समुद्रतल के नीचा हो जाने से ये दरारें सागर के नीचे डूब गई हैं। स्पेन के निकट तथा उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों के निकट इस प्रकार की सागरी दरारें विशेष रूप से मिलती हैं।

जल के भीतर प्रायः सभी महासागरों में पहाड़ियाँ मिलती हैं। इनकी ढाल प्रायः खड़ी होती है। एटलांटिक महासागर में स्थित पहाड़ी 'मिड एटलांटिक रिज' से बहुत से लोग परिचित हैं। उत्तरी एटलान्टिक में एजोर्स द्वीप इसी पहाड़ी का ऊपरी भाग है। यह मिड-एटलान्टिक रिज लगभग ५०° उत्तरी अक्षांश से लेकर ५०° दक्षिणी अक्षांश तक धनुषाकार होकर फैली है। भूमध्य रेखा के निकट इसके दो भाग हो जाते हैं; उत्तरी मिड एटलान्टिक रिज और दक्षिणी मिड एटलान्टिक रिज। उत्तरी भाग को डाल्फिन रिज और दक्षिणी को चैलेन्जर रिज भी कहते हैं। दक्षिणी मिड एटलान्टिक रिज की एक भुजा उत्तर-पूर्व की ओर अफ्रीका तक चली गई है। इस भुजा को वेलविस रिज कहते हैं। दक्षिण की ओर मिड एटलान्टिक रिज अधिक चौड़ी है और एटलान्टिक-इंडियन रिज कहलाती है। मिड एटलान्टिक रिज की गहराई लगभग २ मील है; अर्थात् उसकी चोटी के ऊपर लगभग २ मील गहरा जल है। मिड एटलान्टिक रिज का घुमाव पश्चिमी अफ्रीका के तट के घुमाव के समान है। यह रिज पृथ्वी का सबसे बड़ा पर्वत है। इसकी लंबाई लगभग १०,००० मील और चौड़ाई लगभग ५०० मील

है । इसकी ऊँचाई भी बहुत अधिक है। एजोर्स द्वीप का माउन्ट पीको जल के ऊपर ७६०० फीट निकला है और २०,००० फीट जल के भीतर डूबा है। इन डूबे हुए पहाड़ों के अतिरिक्त समुद्र के भीतर अनेक ज्वालामुखी के कोण हैं। इन में से कुछ पहले जल के ऊपर निकले हुए थे जहाँ पर लहरों के प्रभाव से उनका ऊपरी भाग कटकर जल में गिर गया। इसलिये इनकी चोटियाँ सपाट हैं, उठी हुई नहीं। पीछे दिये हुए चित्र में समुद्र के भीतर के पहाड़ और कुछ दरारें दिखाये गए हैं।

समुद्री पहाड़ों का प्रभाव समुद्र के जल के ताप पर बहुत पड़ता है। कहीं-कहीं इनके कारण ध्रुवीय क्षेत्रों का ठंडा जल खुले समुद्रों में नहीं पहुँच पाता है जिससे वहाँ पर नीचे ताप नहीं मिलते हैं।

ऊपर कहा गया है कि सागर और महासागर को पृथक् करने वाली गहराई का सीधा ढाल है। इसीलिए समुद्र के बेसिन की तुलना चाय पीने की छिछली रकाबी से नहीं वरन् शोरवा खाने वाली गहरी रकाबी से की जाती है। गहरी रकाबी के किनारे का भाग महाद्वीपीय स्तर के उथले जल का उदाहरण है, और उसकी पेंदी का भाग महासागरीय बेसिन का उदाहरण है।

सागर और महासागर को द्वीप मालायें भी एक दूसरे से पृथक् करती हैं। यद्यपि दोनों भागों में जल प्रायः एक ही प्रकार का होता है, द्वीपों और मुख्य स्थली भाग के मध्य के जलभाग को सागर कहते हैं, और उसके बाहरी भाग को महासागर कहते हैं। मछली पकड़ने के लिए सागर का ही महत्व है।

पृथ्वी पर निम्नलिखित महासागर माने गये हैं:—

नाम		क्षेत्रफल	औसत गहराई
१–प्रशान्त महासागर	(पैसफिक ओशन)	१६$\frac{१}{२}$ करोड़ व० मी०	२$\frac{१}{२}$ मी०
२–आन्ध्र महासागर	(एटलान्टिक ओशन)	३ करोड़ ,,	२$\frac{१}{२}$ मी०
३–हिन्द महासागर	(इन्डियन ओशन)	२$\frac{१}{६}$ करोड़ ,,	२$\frac{१}{३}$ मी०
४–ध्रुवी महासागर	(आर्कटिक ओशन)	५५ लाख ,,	
५–*दक्षिणी महासागर	(सदर्न ओशन)	.....	....:

उत्तरी-ध्रुव-महासागर को छोड़कर अन्य भी महासागर दक्षिण की ओर खुले हुए हैं और उन सब का सम्बन्ध दक्षिणी महासागर से है। यही कारण है कि दक्षिणी महासागर का ठंडा जल नीचे ही नीचे सभी सागरों में फैल जाता है। आन्ध्र महासागर और प्रशान्त महासागर में ध्रुवी-महासागर का भी कुछ ठंडा जल डेविस जल-डमरूमध्य,

*पहले इसको एन्टार्कटिक महासागर कहते थे। परन्तु जब यह ज्ञात हुआ कि दक्षिणी ध्रुव एक महाद्वीप पर स्थित है, महासागर में नहीं; तब से इस महासागर का नाम दक्षिणी महासागर पड़ा।

डेनमार्क जल-डमरूमध्य तथा बेरिंग जल-डमरूमध्य के द्वारा उत्तर से आ जाता है। परन्तु जल के भीतर पूर्व-पश्चिम स्थित पहाड़ों के कारण इस महासागर का ठंडा जल प्रायः बाहर नहीं निकल पाता, उस जल की केवल कुछ ऊपरी तहें ही इन पहाड़ों को पार करती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में समुद्र में इसलिए इतना ठंडा जल नहीं मिलता जितना कि दक्षिणी गोलार्द्ध में, जहाँ दक्षिणी महासागर का ठंडा जल बहता है। एन्टार्कटिक महाद्वीप पर सहस्रों फीट गहरी बर्फ जमी है। इस बर्फ के सम्पर्क से दक्षिणी महासागर का जल अति ठंडा हो जाता है और नीचे बैठ जाता है। नीचे ही नीचे यह जल उत्तर की ओर धीरे-धीरे खिसकता हुआ भूमध्य रेखा को पार कर जाता है। इस प्रकार पृथ्वी के सभी महासागरों की निम्नतम तल दक्षिणी महासागर के अधिक से अधिक ठंडे जल की है।

इसलिए समुद्र के जल को ताप के अनुसार दो बड़े भागों में बाँटा जाता है: ऊपरी जल जहाँ ताप अधिक होता है, और भीतरी जल जहाँ ताप कम होता है। यद्यपि ऊपरी जल में ताप अधिक होता है, परन्तु जल की तरलता और संचार के कारण वह इतना अधिक नहीं होता है जितना कि थल पर। समुद्र में अधिक से अधिक ताप ९६०० फा० फारस की खाड़ी में नापा गया है।

समुद्र में लगभग ३००० फीट की गहराई तक ताप वेग से कम होता है, परन्तु इससे अधिक गहराई में ताप बहुत धीरे-धीरे कम होता है और अधिकतर भागों में लगभग ३२ फा० से नीचे नहीं जाता है। यद्यपि इस ताप पर साधारण जल जम जाता है, परन्तु लवणयुक्त होने के कारण समुद्र का जल २८½° फा० पर ही जमता है। समुद्र के नीचे भाग में इतना नीचा ताप प्रायः कभी नहीं होता है, और इसलिए उसका ऊपरी भाग जम जाने पर भी नीचा भाग मुक्त रहता है और उसमें संचालन बना रहता है। जमा हुआ भाग जल में उतरता रहता है; क्योंकि जम जाने पर बर्फ पानी से हल्की हो जाती है और इस-लिए उसमें उतराती है। यदि ऐसा न होता तो समुद्र के सारे जीव-जन्तु बर्फ में जमकर नष्ट हो जाते। समुद्री धारायें भी न चलतीं जिनसे जलवायु में सुधार हुआ करते हैं।

जिन क्षेत्रों में समुद्र का जल घिरा हुआ है और अधिक मुक्त नहीं है वहाँ पर काफी गहराई तक जल का ताप ऊँचा रहता है। इसका उदाहरण हिन्द महासागर और लाल सागर (रेड सी) के तापों से मिलता है।

गहराई	हिन्द महासागर का ताप	लाल सागर का ताप
०	८०° फ०	८०° फ०
६०० फीट	७०° फ०	७०° फ०
१२०० फीट	६०° फ०	७०° फ०
१८०० फीट	५०° फ०	७०° फ०

आगे दिये हुए चित्र में भूमध्य सागरीय क्षेत्रों में समुद्र जल की गहराई के कारण

ताप परिवर्तन दिखाया गया है। इस चित्र में ५०० फैदम की गहराई तक ताप का तीव्र परिवर्तन स्पष्ट है ।
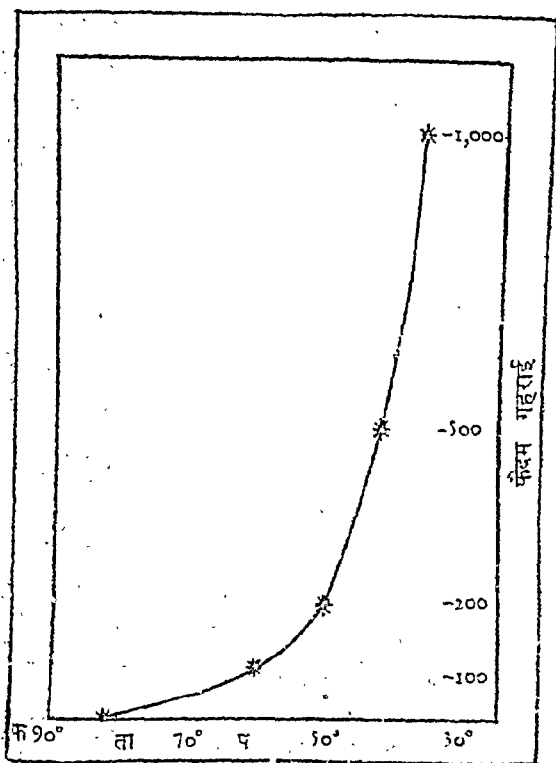
चित्र १३८

समुद्र धारायें

समुद्र के जल के तापों में न केवल ऊपरी और भीतरी जल में ही अन्तर पाया जाता है, वरन् सूर्य से प्राप्त तापों की भिन्नता के कारण भूमध्य रेखीय और ध्रुवीय क्षेत्रों के जल के तापों में भी अन्तर पाया जाता है। ताप में अन्तर होने के कारण जल के घनत्व में भी अन्तर होता है। ठण्डे जल का घनत्व अर्थात् बोझ अधिक होता है, और गर्म जल का कम। इस अन्तर के कारण पृथ्वी की आकर्षण शक्ति में पड़ कर भारी अर्थात् ठण्डा जल नीचे बैठने लगता है और हल्का अर्थात् गर्म जल ऊपर उठकर तह पर फैलने लगता है। इस प्रकार, समुद्र के जल में संचालन आरम्भ हो जाता है। यह संचालन वास्तव में घनत्व के अन्तर से आरम्भ होता है। घनत्व का अन्तर न केवल जल के ताप के अन्तर से होता है, वरन् जल में मिश्रित लवणों से भी । जिस जल में अधिक लवण होते हैं,

वह जल अधिक भारी होता है। जिस जल में कम लवण होते हैं, वह जल हल्का होता है। लवणों की मात्रा में अन्तर होने के दो मुख्य कारण हैं, जलवर्षा और वाष्पीकरण। वास्तव में ताप और लवण के कारण भीतरी समुद्र जल में अदृश्य ढाल बन जाते हैं। ये ढाल सदा परिवर्तित होते रहते हैं। इन्हीं ढालों के सहारे समुद्र जल चलने लगता है। जहाँ कहीं ऊपर उतराते हुए हल्के जल को पवनें फाड़ देती हैं वहाँ नीचे से ठंडा जल ऊपर उठने लगता है।

समुद्र जल के घनत्व के अन्तर से उत्पन्न संचालन को पवनों द्वारा स्पष्टता मिल जाती है। इस प्रकार समुद्र धाराएँ निम्नलिखित कारणों से होती हैं:—

(अ) पवन,
(ब) असमान ताप,
(स) असमान मिश्रण।

समुद्र धाराओं की दिशा कई बातों पर निर्भर है जिनमें नीचे दी हुई बातें मुख्य हैं:—

(१) पवनों की दिशा,
(२) समुद्रतट की बनावट,
(३) पृथ्वी की कीली-परिक्रमा (रोटेशन) का प्रभाव।

इन सब बातों का प्रभाव धाराओं की दिशा पर एक साथ पड़ता है। जिस दिशा से समुद्र की धारा बहती है वही उसकी दिशा मानी जाती है। समुद्र धाराओं का वास्तविक महत्व जल के ऊपरी भाग में ही है। वहीं पर धाराओं का प्रभाव जलवायु पर तथा जहाजों की चाल पर पड़ता है। इसलिए भौगोलिक अध्ययन में समुद्र धारा का तात्पर्य ऊपरी धारा से ही है। इस ऊपरी धारा का आरम्भ भूमध्यरेखीय क्षेत्रों के उष्ण जल में होता है। अधिक ताप के कारण इस क्षेत्र में हल्के जल की महान् राशि ऊपर उतराती रहती है। इस दिशा-शून्य उतराते जल को (ड्रिफ्ट) व्यापारिक पवनें धारा का रूप देती हैं, और वह धीरे-धीरे लगभग २ या ३ मील प्रति घन्टा की चाल से व्यापारिक पवनों के साथ बहने लगता है। इस बहती हुई धारा को भूमध्यरेखीय धारा (ईक्वेटोरियल करेन्ट) कहते हैं। आन्ध्र महासागर में जब यह धारा पेरानाम्बुको के निकट दक्षिणी अमेरिका के तट से टकराती है, तो उसके दो भाग हो जाते हैं। उसका एक भाग अमेजन नदी के मुख के निकट होता हुआ पश्चिमोत्तर दिशा में ब्राजील के तट के किनारे-किनारे गायना में स्थित जार्जटाउन तक चला जाता है। इस भाग को उत्तरी भूमध्य रेखीय धारा कहते हैं। जार्जटाउन के निकट इस उत्तरी भाग के फिर दो भाग हो जाते हैं जिनमें से बड़ा भाग विन्डवर्ड और लीवर्ड द्वीपों के बाहर-बाहर बर्मूडा द्वीप की ओर बहता है, और दूसरा भाग पश्चिम की ओर कैरीबियन सागर में चला जाता है। वहाँ से यह यूकाटन जल डमरूमध्य से होकर मेक्सिको की खाड़ी में पहुँचता है, जहाँ पर प्रसिद्ध 'गल्फस्ट्रीम' की उत्पत्ति होती है।

उत्तरी आन्ध्र महासागर में समुद्र का एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ 'सारगासो' नामक

एक प्रकार की बड़ी लम्बी घास उगती है। यह क्षेत्र सारगासो सागर कहलाता है। उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा इसी सारगासो सागर का चक्कर लगाती रहती है।

भूमध्यरेखीय धारा का दक्षिणी भाग ब्राजील के तट के किनारे-किनारे दक्षिणी आन्ध्र महासागर में ब्राजील धारा के नाम से बहता है। यह धारा आगे चल कर पूर्व की ओर मुड़ जाती है और अफ्रीका के पश्चिमी तट के किनारे बेनगुअला धारा के नाम से बहती है। बेनगुअला धारा में दक्षिणी महासागर का ठंडा जल नीचे से बहकर मिल जाता है। इसलिए यह धारा ठंडे जल की धारा बन जाती है। बेनगुअला धारा अन्त में उत्तर की ओर बहती हुई भूमध्य रेखीय धारा में मिल जाती है।
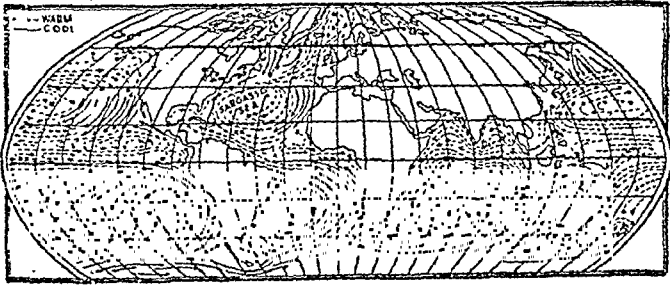
चित्र १३९—धारायें

चित्र को देखने से ज्ञात होता है कि समुद्र धारायें प्रायः गोलाकार पथ ग्रहण करती हैं। इसका कारण यह है कि पृथ्वी की कीली-परिक्रमा के कारण, फेरल-नियम के अनुसार बहते हुए जल की दिशा सदैव बदलती रहती है। उत्तरी गोलार्द्ध में बहाव अपने दाहिनी ओर मुड़ता है, और दक्षिणी गोलार्द्ध में अपनी बाईं ओर। चित्र में दिये हुए तीरों की दिशा से यह स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में अधिकतर समुद्र धारायें बड़ी-बड़ी भँवरों (एडीज) के भाग हैं जो सदैव समुद्र में सदावाहिनी पवनों (प्रिवेलिंग विन्ड) की दिशा में चक्कर लगाया करती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में इनकी गति घड़ी की सुई की दिशा में रहती है, और दक्षिणी गोलार्द्ध में घड़ी की सुई के विरुद्ध। उत्तरी आन्ध्र महासागर और उत्तरी प्रशान्त महसागर में इन भँवरों के दक्षिणी भाग को व्यापारिक पवनें पश्चिम की ओर ठेल देती हैं और उनके उत्तरी भाग को पछुआ पवनें उत्तर-पूर्व की ओर ठेल देती हैं।

जहाँ पर भूमध्यरेखीय धारा को उत्तरी और दक्षिणी भागों में विभाजित करने के लिए स्थली भाग नहीं होता है, वहाँ भी व्यापारिक पवनों की लगातार गति के कारण इस धारा का बहाव उत्तरी और दक्षिणी भागों में स्वयं बँट जाता है; क्योंकि पवनें अपने साथ ऊपर उतराते हुए जल को बराबर घसीटती चलती हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध की व्यापारिक पवनों के साथ घसीटा हुआ जल अपने बीच एक 'विपरीत धारा' (काउंटर

पछुआ पवन के साथ पड़ कर भूमध्यरेखीय क्षेत्रों से आया गर्म जल धारा बन कर ध्रुवों क्षेत्रों के पश्चिमी तटों पर पहुँचता है। इस प्रकार की धाराओं में मेक्सिको की खाड़ी की धारा से सम्बन्धित 'एटलान्टिक ड्रिफ्ट' और क्यूरोसोवो प्रमुख हैं।

फेरल के नियम के अनुसार ठण्डी धारायें ऊँचे अक्षांशों में पूर्वी तटों पर और नीचे अक्षांशों में पश्चिमी तटों पर वहती हैं। उष्ण धारायें ऊँचे अक्षांशों में पश्चिमी तटों पर, तथा नीचे अक्षांशों में पूर्वी तटों पर वहती हैं।

पृथ्वी की सबसे प्रमुख समुद्र धारायें उत्तरी आन्ध्र महासागर में हैं, क्योंकि अधिकता भूमध्यरेखीय गर्म जल ब्राजील के तट की वनावट के कारण इसी महासागर में आ जाता है। ध्रुवी महासागर का ठण्डा जल भी डेविस तथा डेनमार्क जलडमरूमध्यों से होकर अधिकतर इसी महासागर में आ जाता है।

खाड़ी धारा (गल्फस्ट्रीम)

पिछले कथन के अनुसार उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा का एक भाग यूकाटन होता हुआ मेक्सिको की खाड़ी में प्रवेश करता है। यह खाड़ी अधिकतर थल से घिरी हुई है, जिससे यहाँ पर जल का ताप अधिक ऊँचा हो जाता है। इस खाड़ी में फ्लारिडा जलडमरूमध्य से ही अधिकतर जल वाहर निकल सकता है। यह निकास वहुत छोटा है। इसलिये मेक्सिको की खाड़ी में जल इकठ्ठा होता रहता है और दवाव के साथ उत्तरी आन्ध्र महासागर में आता है। पानी इकट्ठा होने का प्रमाण यह है कि मेक्सिको की खाड़ी में गालवेस्टन और सेडरकीज स्थानों के बीच खुले हुए आन्ध्र महासागर की सतह से जल ६ इंच अधिक ऊँचाई पर और सेडरकीज और आगस्टाईन के बीच ४ इंच अधिक ऊँचाई पर है। इस महासागर में आने पर खाड़ी की धारा फैल जाती है यहाँ तक कि केप हैटरास के निकट उसकी चौड़ाई ५० मील के लगभग और हैलीफैक्स के अक्षांश में लगभग ७० मील हो जाती है। यद्यपि खाड़ी की धारा की उत्पत्ति मेक्सिको की खाड़ी में होती है उसका वास्तविक विकास केप हैटरास और नोवास्कोशिया के मध्य होता है। यहाँ पर उसका वहाव केवल २ नाट (२$\frac{1}{3}$ मील) प्रति घंटा ही रह जाता है, परन्तु उसकी जलराशि वहुत वढ़ जाती है। यहाँ पर उसमें फ्लारिडा जलडमरूमध्य की अपेक्षा लगभग तीन गुना अधिक जल वहता है। यह जल मिसीसिपी नदी के वाढ़ के जल से लगभग ७०० गुना अधिक है। नोवास्कोशिया के निकट खाड़ी की धारा पूर्व की ओर मुड़ जाती है। मुड़ने पर वह अधिक चौड़ी हो जाती है और न्यूफाउन्डलैंड के पूर्व की ओर उसकी तीन शाखायें हो जाती हैं; (१) उत्तर-पश्चिमी यूरप की ओर जाने वाली शाखा, (२) पोर्चुगाल की ओर जाने वाली शाखा, और (३) सारगासो सागर की ओर जाने वाली शाखा।

खाड़ी की धारा में फ्लारिडा के निकट एन्टलीज धारा और न्यूफाउन्डलैंड के निकट लेवराडोर धारा का सम्वन्ध है।

नीचे दिये हुए चित्र में खाड़ी की धारा तथा उसका प्रसार छोटे विन्दुओं द्वारा दिखाया गया है। इस चित्र में वह भाग भी दिखाया गया है जहाँ गर्म और ठंडा जल एक दूसरे में मिलते हैं। खाड़ी की धारा के जल का ताप निकटवर्ती अन्य जल की अपेक्षा लगभग २° से ४° सेन्टीग्रेड तक ऊँचा रहता है।
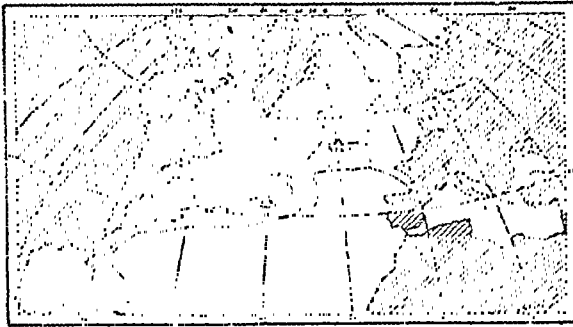
चित्र १४१—खाड़ी की धारा

आजकल वैज्ञानिकों का मत यह है कि खाड़ी को धारा में प्रायः चार सँकरी जल धारायें जुड़ी हैं। इन सँकरी धाराओं के मध्य विपरीत धारायें हैं। एक नदी की भाँति खाड़ी को धारा मोड़दार पथ से वहती है। इसका मोड़दार पथ बहुवा इधर-उधर हुआ करता है। कहीं-कहीं इस पथ में बड़ी-बड़ी भँवरें पड़ जाती हैं जिनका व्यास लगभग १०० मोल होता है। खाड़ी की धारा में लगभग सवा सात करोड़ घन गज जल प्रति सेंकंड बहता है। यह बहाव मिसीसिपी नदी के वहाव से लगभग १२०० गुना अधिक है। इसीलिये इस धारा को लोग 'समुद्र की नदी, कहते थे।

खाड़ी की धारा की उपस्थिति उसके ऊँचे ताप से जानी जाती है। कहीं-कहीं जाड़े में पड़ोस के जल से २०°-३०° फा० का अन्तर हो जाता है। परन्तु गर्मी की ऋतु में यह अन्तर ६° फा० के ही लगभग रह जाता है। खाड़ी की धारा के इन ऊँचे तापों का प्रभाव जाड़े में यूरप की जलवायु पर अधिक पड़ता है।

जापान या क्यूरोसीवो भी गर्म धारा है। य; इतनी अधिक नहीं फैली है जितनी कि मेक्सिको की खाड़ी की धारा, क्योंकि इसके पथ में बहुत से द्वीप हैं। फार्मूसा के निकट इसकी चौड़ाई लगभग २०० मील है और उसकी गति लगभग ४ नाट प्रति घंटा। जापान तट के ्वीं भाग में यह पछुआ पवन के कारण पूर्व की ओर मुड़ जाती है और अन्त में एलास्का ेर ब्रिटिश कोलम्बिया के तट तक पहुँचती है। वहाँ से यह धारा भूमध्य रेखीय ्राव में सम्मिलित हो जाती है।

एशिया के पूर्वी तट और क्यूरोसीवो के मध्य एक ठंडे जल की धारा बहती है जिसको ओयासीवो कहते हैं। ओयासीवो का जल पीलापन लिये हुए हरा और क्यूरोसीवो का जल गहरे नीले रंग का है। इसीलिये क्यूरोसीवो को जापानी भाषा में "काली धारा" कहते हैं।

पेरू तटीय धारा (हम्बोल्ट कोस्टल करेन्ट) दक्षिणी गोलार्द्ध की ठंडे जल की धारा है जो पछुआ पवनों के क्षेत्र से आरम्भ होकर व्यापारिक पवन क्षेत्र में पहुँच जाती है। इसका ठंडा जल समुद्र के भीतर से कोकिम्बों से पेटा तक ऊपर उठता है। यहाँ पर महाद्वीपीय (कान्टीनेन्टल शेल्फ) काफी चौड़ा है जिससे पानी को ऊपर उठने में अधिक सहायता मिलती है।

ज्वार-भाटा—समुद्र के निकट रहने वाले लोगों का यह अनुभव है कि समुद्र का जल दिन में दो बार बढ़ता है और दो बार घटता है। जल के इस बढ़ने को ज्वार (फ्लड) और घटने को भाटा (एब) कहते हैं। पृथ्वी पर सूर्य और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के प्रभाव से ही ज्वार-भाटा होते है। सम्पूर्ण जगत के प्रत्येक अंग में दूसरे अंग को अपनी ओर खींचने की शक्ति होती है। अंगों की इस आकर्षण शक्ति का प्रभाव छोटे-बड़े सभी अंगों पर पड़ता है। परन्तु सब अंगों की शक्ति समान नहीं होती है।*

---

*न्यूटन के प्रथम नियम के अनुसार यह आकर्पण शक्ति अंगों की राशि के अनुपात से तथा उनके बीच की दूरी के वर्ग के विपरीत अनुपात से न्यूनाधिक होती है; अर्थात् जितना ही बड़ा अंग, उतनी ही अधिक उसकी आकर्पण शक्ति, परन्तु जितनी ही अधिक उसकी दूरी, उतनी ही कम उसकी आकर्पण शक्ति। गणित में इसको निम्नलिखित प्रकार से लिखते हैं:—

$$F = \frac{M_1 \times M_2}{d_2} \text{ अर्थात् आकर्पण शक्ति } \frac{\text{राशि}_1 \times \text{राशि}_2}{\text{दूरी}}$$

इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा की आकर्पण शक्ति पृथ्वी पर निम्नलिखित है:—

चन्द्रमा

जिस ओर चन्द्रमा दिखता है $\frac{\cdot ०१२३ \times १}{(५९)^२}$

जिस ओर चन्द्रमा नहीं दिखता है $\frac{\cdot ०१२३ \times १}{(५९ \times २)^२}$

$$= \frac{\cdot १२३ \times १}{(५९)} - \frac{\cdot ०१२३ \times १}{(५९ \times २)^२} = \cdot ०,००,०००२,२७९$$

पृथ्वी के अति निकट होने के कारण ज्वार-भाटा उत्पन्न करने में चन्द्रमा का ही प्रभाव मुख्य है। सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा ३७२ गुना पृथ्वी के निकट है। चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है और पृथ्वी चन्द्रमा को अपने साथ लिये हुए, सूर्य की परिक्रमा करती है। इस प्रकार, चन्द्रमा और सूर्य की आकर्षण शक्ति का प्रभाव (१) पृथ्वी के केन्द्र पर और (२) पृथ्वी पर स्थित उस जल पर सदा पड़ा करता है जो सूर्य और चन्द्रमा के सामने किसी समय होता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि पृथ्वी एक ठोस वस्तु है जो पूरी की पूरी, एक साथ, खिचती है। इसके विपरीत, जल तरल है और इसलिये उसके केवल वही कण खिचते हैं जो चन्द्रमा अथवा सूर्य के केन्द्र के सामने पड़ते हैं। तीसरी बात यह है कि पृथ्वी और जल का खिचाव अलग-अलग समझना चाहिए।

जब सूर्य अथवा चन्द्रमा का खिचाव जल और पृथ्वी पर होता है, तब जल ऊपर उठ जाता है और जल का एक ढेर इकट्ठा हो जाता है। चूँकि पृथ्वी घूमती है, इसलिए क्षण प्रति क्षण नये स्थान चन्द्रमा के केन्द्र के सामने आते रहते हैं और वहाँ जल का ढेर इकट्ठा होता रहता है। ज्योंही एक स्थान केन्द्र के सामने से हट जाता है त्योंही वहाँ का ढेर गिर जाता है। इस प्रकार, जल के इस ढेर से ही ज्वार-भाटा का आरम्भ होता है।

सूर्य अथवा चन्द्रमा के सामने वाले जल भाग में जो ज्वार होता है उसको प्रत्यक्ष ज्वार (डायरेक्ट हाई टाइड) कहते हैं।

इसलिए यद्यपि पृथ्वी पर सूर्य की आकर्षण शक्ति चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक है, ज्वार-भाटा उत्पन्न करने में चन्द्रमा की शक्ति ११ है और सूर्य की ५। इसका कारण यह है कि चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच की दूरी केवल २½ लाख मील है, और सूर्य और पृथ्वी के बीच की दूरी ९ करोड़ मील से अधिक।

इस गणना में सूर्य और चन्द्रमा की राशि पृथ्वी की राशि के अनुपात से मानी गई है, और दूरी त्रिज्या में दी गई है।

सूर्य

जिस ओर सूर्य दिखता है $\frac{३३००००\times १}{(२३४८१)^{२}}$

जिस ओर सूर्य नहीं दिखता है $\frac{३३००००\times १}{(२३४८१\times २)^{२}}$

$$=\frac{३३००००\times १}{(२३४८१)^{२}}-\frac{३३००००\times १}{(२३४८१\times २)^{२}}$$

$$=०,०००,००१,०१९$$

परन्तु जब सूर्य या चन्द्रमा की ओर जल खिचता है, तब उसी समय पूरी पृथ्वी भी उसके साथ-साथ खिच जाती है। पृथ्वी के खिच जाने से प्रत्यक्ष ज्वार वाले स्थान के बिल्कुल दूसरी ओर जल का एक दूसरा ढेर इकट्ठा हो जाता है। इस ढेर को अप्रत्यक्ष ज्वार (इनडाइरेक्ट हाई टाइड) कहते हैं। जल का यह दूसरा ढेर सरलता से समझ में आ जायगा, यदि हम यह बात मान लें कि ज्वार में जल के कण ऊपर उठते या नीचे गिरते हैं, अपना स्थान नहीं छोड़ते हैं। जब पूरी पृथ्वी एक ओर को खिच जाती है, तब जल और पृथ्वी की सतह में अन्तर पड़ जाता है। इस अन्तर को भरने के लिए कणों का घनत्व कम हो जाता है; अर्थात् उतने वही कण अब अधिक गहराई को भरते हैं, ऐसा करने में अड़ोस-पड़ोस के जल की अपेक्षा उनकी ऊँचाई अधिक हो जाती है। सूर्य अथवा चन्द्रमा के सामने वाले जल-भाग में भी इसी प्रकार ढेर बनता है। वहाँ भी जल-कण चन्द्रमा की ओर खिच कर उठ जाते हैं, और उनका घनत्व कम हो जाता है; क्योंकि अब वे अधिक स्थान में फैल जाते हैं। यहाँ पर यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि जल का ढेर उस पूरी मध्यान्ह रेखा (मेरीडियन लाइन) पर उठता है जो कि चन्द्रमा के सामने होती है। इस ढेर को उठी हुई तरबूज की फाँक के समान समझना चाहिए, न कि चीनी के ढेर के समान।

इन दोनों ढेरों के कारण किसी एक समय में पृथ्वी पर दो ज्वार और दो भाटा उपस्थित रहते हैं जो प्रति १२ घंटे २६ मिनट के बाद प्रत्येक मध्यान्ह पर पहुँचते हैं। ज्वार होने के ६ घंटे १३ मिनट के बाद भाटा होता है; भाटा होने के ६ घंटे १३ मिनट के बाद ज्वार होता है। इतने ही समय के बाद फिर भाटा और फिर ज्वार का क्रम रहता है।

पृथ्वी और चन्द्रमा की गति में अन्तर होने से कभी सूर्य और चन्द्रमा एक ही दिशा में स्थित होते हैं। ऐसे समय पर सूर्य और चन्द्रमा की ज्वार-भाटा उत्पन्न करने की शक्ति सम्मिलित हो जाती है। ये समय अमावस्या और पूर्णमासी को होते हैं। इसलिये इन दोनों तिथियों पर ज्वार की ऊँचाई अन्य दिवसों की अपेक्षा अधिक होती है। इस अधिक ऊँचे ज्वार को ऊँचा ज्वार (स्प्रिंग टाइड) कहते हैं। दूसरे समय पर सूर्य और चन्द्रमा की स्थितियाँ समकोण बनाती हैं। इस दशा में चन्द्रमा की शक्ति में ह्रास हो जाता है जिससे ज्वार की ऊँचाई साधारण से कम होती है। ऐसी अवस्था दोनों पक्षों की सप्तमी को होती है। इस ज्वार को नीचा ज्वार (नीप टाइड) कहते हैं।*

ऊँचे ज्वार के समय शक्ति की मात्रा ११+५=१६ होती है;
नीचे ज्वार के समय शक्ति की मात्रा ११—५=६ होती है।

नीचे दिये हुए चित्र में ऊँचा और नीचा ज्वार दिखाये गये हैं :

चित्र १४२

उपरोक्त विवरण ज्वार-भाटा के सिद्धान्त का है। व्यावहारिक दृष्टि से सिद्धान्त में दी हुई बातें अनेक कारणों से बहुत कुछ परिवर्तित हो जाती हैं। इस परिवर्तन में मुख्य बात यह है कि ज्वार उस समय नहीं होता है जब कि चन्द्रमा बिल्कुल ऊपर होता है। वास्तव में चन्द्रमा का ऊपर होना ज्वार पर कुछ महत्व नहीं रखता है; क्योंकि उसकी आकर्षण शक्ति जल पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से अधिक नहीं है।

चन्द्रमा के ऊपर होने का महत्व केवल इतना है कि उससे जल पर पृथ्वी का खिचाव कुछ कम हो जाता है। जल पर चन्द्रमा का खिचाव कुछ सीधा और कुछ तिरछा है। तिरछे खिचाव का महत्व ज्वार के लिए अधिक है; क्योंकि जल के ऊपर उठाने की अपेक्षा तरलता के कारण उसको सतह के सहारे-सहारे खींचना अधिक सरल है। इस विचार से चन्द्रमा के उदय होने से लगभग ६ घंटे बाद तक जब कि वह आकाश में सबसे ऊँचे स्थान पर पहुँचता है, जल पर खिचाव पूर्व की ओर रहता है और इसलिए जल ओर को इकट्ठा होता है। इस समय से अस्त होने तक चन्द्रमा का खिचाव पश्चिम की ओर होता है और इसलिए जल पश्चिम की ओर खिचने लगता है जिससे भाटा आरंभ हो जाता है।
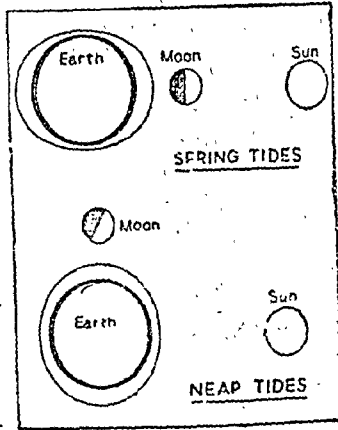
ज्वार और भाटा के समयों पर समुद्रतट की बनावट का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये कहीं-कहीं प्रति १२ घंटे में और कहीं-कहीं प्रति २४ घंटे में ज्वार आता है। कहीं-कहीं प्रति दो-दो घंटे बाद ही ज्वार आता है। ज्वार की ऊँचाई भी तट की बनावट पर बहुत कुछ निर्भर है। जहाँ कहीं नदियों के मुख में ज्वार पहुँच जाता है वहाँ पर उसकी ऊँचाई बहुत हो जाती है, और वह धारा का रूप ग्रहण कर लेता है; जैसे हुगली नदी में, तथा फंडी के आखात में। फंडी के आखात में कभी-कभी ५०-६० फीट ऊँचा ज्वार आता है। इसकी अपेक्षा खुले हुए समुद्र जल में केवल ५-६ फीट ऊँचा ही ज्वार होता है। भूमध्य सागर में तो ज्वार की ऊँचाई केवल नाममात्र को ही है, क्योंकि वह सागर लगभग चारों ओर से घिरा है।

ज्वार होने के समय के अन्तर के अनुसार तीन प्रकार के ज्वार होते हैं : (१) दैनिक

ज्वार (ड्युर्नल टाइड) जो प्रति २४ घंटे में एक बार आता है; (२) अर्द्ध-दैनिक ज्वार (सेमी-ड्युर्नल टाइड) जो प्रति १२ घंटे में एक बार आता है; और (३) मिश्रित ज्वार (मिक्स टाइड) जिसमें प्रति १२ घंटे में एक अधिक ऊँचाई का ज्वार आता है, परन्तु इस बीच के समय में एक या दो बार कुछ कम ऊँचाई का ज्वार आता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्वार भिन्न-भिन्न प्रकार की समुद्र की पेंदियों से संबंधित हैं। घिरे हुए समुद्र में, भूमध्य सागर में दैनिक ज्वार आता है, आन्ध्र महासागर में अर्द्ध-दैनिक ज्वार आता है; और प्रशान्त महासागर में मिश्रित ज्वार आया करते हैं।

वास्तव में ज्वार-भाटा का समय ऊँचाई-नीचाई तथा गति समुद्र की पेंदी (बेसिन) और उसकी गहराई पर अधिक निर्भर है। प्रत्येक समुद्र में उसकी पेंदी कई भागों (बेसिन) में बँटी होती है। इन भागों में जल एक ओर से दूसरी ओर आगे-पीछे होता रहता है। जब किसी बेसिन के किनारे आकर्षण शक्ति का प्रभाव उस समय पड़ता है जब कि उसके किनारे आगे-पीछे होने वाला जल ऊँचा होता जब वहाँ विशेष ऊँचा ज्वार होता है, और उसके दूसरे कोने पर विशेष भाटा। फन्डी आखात ऐसे स्थान पर है जहाँ आकर्षण शक्ति ऐसे ही समय पड़ती है जब कि बेसिन का हिलता पानी उसी किनारे ऊँचा होता है।

मनुष्य के जीवन पर ज्वार-भाटा का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव विशेषकर समुद्र के किनारे रहने वालों पर अधिक है। बन्दरगाहों की स्थिति ज्वार-भाटा की दृष्टि से ही निर्धारित होती है। किसी बन्दरगाह में जहाजों का सुगम अथवा कठिन आना-जाना ज्वार-भाटा के कारण ही अधिकतर होता है। समुद्र तट की बनावट अधिकतर ज्वार-भाटा पर ही निर्भर होती है। तट के निकट नमक के दलदल ज्वार से ही बनते हैं।

तट की बनावट के कारण सभी स्थानों में एक ही समय में ज्वार-भाटा नहीं पहुँचता है। भिन्न-भिन्न बन्दरगाहों में उनके पहुँचने का समय भिन्न रहता है। जहाजों का बन्दरगाह में प्रवेश तथा उनका निकास ज्वार के समय ही हो सकता है, भाटा के समय नहीं। इसलिए उनकी सुविधा के लिए 'टाइड टेबुल' और 'कोटाइडल मैप' तैयार किये गये हैं जिनकी सहायता से जहाजों के आने-जाने का समय नियत किया जाता है।

समुद्र तट—ज्वार-भाटा में जल कितना ऊँचा उठता है अथवा कितना नीचे गिरता है, यह समुद्र तट पर निर्भर है। कटे-फटे तट पर जहाँ अनेक आखात और कटाव होते हैं, ज्वार का जल अधिक उठता है। परन्तु जहाँ समुद्र तट में गहरे कटाव कम होते हैं वहाँ ज्वार का जल कम ऊँचा उठता है। पीछे इस बात का वर्णन किया गया है कि समुद्र तट में अधिक कटाव होना अथवा उसका बिना कटाव के सीधा होना थल के धँसने अथवा ऊपर उठने से संबंधित है। धँसने वाले तट (सबमर्जिंग कोस्ट) में अधिक कटाव होते हैं; और उठने वाले तट (इमर्जिंग कोस्ट) में सीधापन होता है। थल के धँसने में जहाँ कहीं

नदियों द्वारा बनाये हुए तट के कटाव समुद्र के नीचे आ जाते हैं वहाँ के समुद्रतट को 'रिया' तट कहते हैं। ऐसे कटाव प्रायः नदियों की घाटियों के अन्तिम भाग होते हैं। 'रिया' तट बहुधा उथला तट होता है। जहाँ कहीं बर्फ द्वारा बने हुए कटाव समुद्र जल के नीचे आ जाते हैं, वहाँ के समुद्रतट को 'फियोर्ड' तट कहते हैं।

समुद्रतट और समुद्रतल में घनिष्ठ संबंध है। यदि समुद्र का जल कम हो जाय तो जल नीचे हो जाने के कारण समुद्रतट आगे बढ़ जाता है और यदि समुद्र का जल बढ़ जाय तो जल ऊपर हो जाने से समुद्र तट पीछे हट जाता है। पिछले इतिहास में पृथ्वी पर कई बार कुछ भागों में बर्फ जमी और पिघली। इस बर्फ के कारण समुद्र के जल की कमी व बढ़ती हुई; क्योंकि बर्फ में समुद्र का ही जल था। इस समय हम लोग ऐसे काल में हैं जब कि बर्फ पिघल रही है। इसलिए समुद्र का जल बढ़ रहा है। इसलिये समुद्र तल प्रति १०० वर्ष में ८ इंच उठ रहा है।

साधारणतः समुद्र तट के आकार के बनाने में समुद्र की लहरें और ज्वार-भाटा से उत्पन्न धारायें ही मुख्य हैं। परन्तु कभी-कभी थल का ऊपर उठना और नीचे धँसना तट के आकार में परिवर्तन कर देता है।
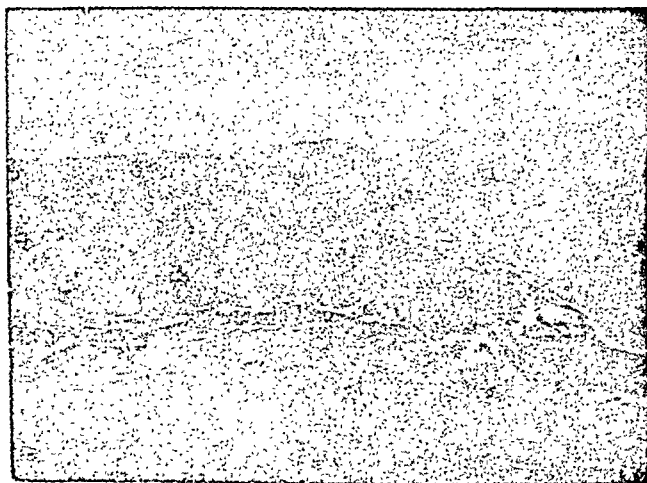
चित्र १४३—'रिया' तट

चित्र १४४—'फियोर्ड' तट

ऊपर कहे हुए दोनों प्रकार के तटों के आकार का ज्ञान ऊपर दिये हुए चित्रों से होता है।

समुद्र में लवण—पृथ्वी पर पहली वर्षा का जल पूर्ण प्रकार से शुद्ध था। परन्तु उसके बाद जितनी वर्षा हुई वह अपने साथ स्थल का कुछ न कुछ भाग समुद्र में बहा ले गई। इसलिये कालान्तर में समुद्र का जल स्थल की अनेक वस्तुओं से मिश्रित हो गया। चूँकि वर्षा होने से पहले समुद्र का जल भाप बन जाता है, इसलिये एक बार जो कुछ मिश्रण समुद्र में पहुँच जाता है वह प्रायः वहीं बना रहता है। इसका फल यह हुआ कि आजकल साधारण समुद्र के जल में लगभग ३.५% मिश्रण है; अर्थात् प्रति घनमील समुद्र जल में लगभग १७½ करोड़ टन नमक मिला है। यह मिश्रण अधिकतर मामूली खाने वाला नमक (सोडियम क्लोराइड) है। ३½% मिश्रण में से लगभग २.७% यही खाने वाला नमक है। नीचे दी हुई तालिका में मिश्रण का विवरण है:—

समुद्र-जल का मिश्रण

नाम मिश्रण	प्रतिशत
सोडियम क्लोराइड	७७.८%
मैगनेशियम क्लोराइड	१० ८%
मैगनेशियम सलफेट	४.७%
कैलशियम सलफेट	३.६%
पोटेशियम सलफेट	२.५%

इस मिश्रण से समुद्र जल का घनत्व (बोझ) बढ़ जाता है। चूँकि भाप बन जाने पर समुद्र में जल की मात्रा कम हो जाती है, इसलिये उसमें लवण मिश्रण का अनुपात बढ़ जाता है। घिरे हुए, छोटे समुद्र में ताप अधिक होने से भाप बनने की मात्रा अधिक होती है और इसलिए ऐसे समुद्र के जल में लवण अधिक होता है। यही कारण है कि लाल सागर में ४.१ प्रतिशत लवण है और यही कारण है कि खुले समुद्र में सबसे अधिक लवण २०° उत्तरी और दक्षिणी अक्षांश में मिलता है, क्योंकि वहां व्यापारिक पवनों की प्रधानता के कारण जल से भाप अधिक बनती है। जिस स्थान पर बड़ी-बड़ी नदियाँ स्थल का मीठा जल समुद्र में लाती हैं, वहां पर लवण का अनुपात कम हो जाता है। सबसे कम लवण भूमध्य के निकट समुद्रों में होता है, क्योंकि वहां जलवर्षा बहुत होती है।

नीचे दी हुई तालिका में कुछ समुद्रों का मिश्रण दिया हुआ है:—

समुद्र का नाम	लवण मिश्रण
लाल सागर (उत्तरी भाग)	४.१
भूमध्य सागर (पूर्वी भाग)	३.९
उत्तरी भाग (नार्थ सी)	३.४
ग्रीनलैण्ड के निकट	३.३
काला सागर (ब्लैक सी)	१.८
बाल्टिक सागर	२ से ८%

मिश्रण अधिक बढ़ जाने से जल भारी हो जाता है और नीचे की ओर बैठने लगता है। स्थान रिक्त हो जाने से पड़ोस का कम मिश्रण वाला हल्का जल आने लगता है। इस प्रकार एक घनत्व-धारा (डेन्सिटी करेंट) उत्पन्न हो जाती है जिसमें भारी जल नीचे बहता है और हल्का जल ऊपर। ऐसी धारा भूमध्य सागर और आन्ध्र महासागर के बीच जिबराल्टर जलडमरूमध्य से होकर बहती है।

गत विश्व-युद्ध में जिबराल्टर को छिपे-छिपे पार करने में इन धाराओं से जर्मन पनडुब्बियों ने बड़ा लाभ उठाया था। वे अपना इंजिन बन्द कर देती थीं और धारा के साथ भूमध्य सागर से आती-जाती थीं।

जल में मिश्रण के कारण घनत्व बढ़ जाने से कोई वस्तु डूब नहीं सकती है। मृत-सागर (डेड सी) में कोई मनुष्य डुबकी नहीं लगा सकता है। उसमें बिना तैरना जानने वाला भी पानी में घुसते ही तैराक हो जाता है, क्योंकि उसका बदन पानी से हल्का होने के कारण उतराने लगता है।

पाताल जल (अन्डरग्राउन्ड वाटर)*

पृथ्वी पर अधिकतर भागों में मनुष्य अपने काम के लिए पृथ्वी के भीतर से ही जल लेता है। लवण मिश्रित होने के कारण समुद्र का जल न तो नहाने के काम आ सकता है और न पीने के। उससे खेती की सिचाई भी नहीं हो सकती। नदियाँ, झीलें अथवा सोते सभी जगह नहीं होते हैं और इसलिए उनसे केवल थोड़े ही मनुष्य जल ले सकते हैं। वहुधा इनसे जल लाने में सुविधा भी नहीं होती। परन्तु प्रकृति ने पृथ्वी की चट्टानों में जल का एक वहुत वड़ा भंडार भर दिया है जिसको वहुत आसानी से मनुष्य खोल सकता है और भरपूर जल ले सकता है। जल का यह भंडार चट्टानों के छेदों में भरा है और पृथ्वी पर हुई वर्षा का ही एक भाग है। पृथ्वी पर जो वर्षा होती है उसका कुछ भाग नदियों और नालों में वहकर झीलों अथवा समुद्र में चला जाता है; कुछ भाग भाप वन कर हवा में जाता है और शेष भाग भूमि में सोख जाता है और पृथ्वी के भीतर पाताल में इधर-उधर विचरता रहता है। पृथ्वी के भीतर जल का सोखना इसीलिये संभव है कि कुछ चट्टानों में छेद होते हैं।

जल सोखने के विचार से चट्टानें दो प्रकार की होती हैं; छिद्रपूर्ण चट्टान (पोरस राक) और छिद्र रहित (नान पोरस राक) चट्टान। यों तो प्रायः कोई भी चट्टान ऐसी नहीं होती है जिसमें थोड़े-वहुत छेद न हों, अथवा दरारें न हों; परन्तु कुछ चट्टानें ऐसी होती हैं जिनका एक वहुत वड़ा भाग छिद्रों से ही घिरा होता है। नीचे दी हुई तालिका में कुछ चट्टानों का छिद्र भाग अर्थात् जो भाग खाली है, दिया है:—

चट्टान का नाम	छिद्र भाग
चीका (क्ले)	४५%
वालू-कंकड़ (सैन्ड-ग्रेवेल)	३५%
चूने की चट्टान (लाइम स्टोन)	३०%
वालू का पत्थर (सैन्ड स्टोन)	१५%
खड़िया (चाक)	५%
शेल चट्टान	५%
स्लेट	३%
आग्नेय चट्टान (इगनियस)	१%

*पाताल जल तीन प्रकार का होता है; (१) उल्का (मीटियोरिक) जल, जो सतह से सोखता है, (२) कोनेट जल जो चट्टानों के मुड़ते समय भीतर दब गया है, और (३) जुवइनल जल, जो ज्वालामुखी के द्वारा भाप बनकर ऊपर आ जाता है। दूसरे और तीसरे प्रकार को फासिल जल भी कहते हैं।

कुछ चट्टानें ऐसी होती हैं जिनमें छिद्र नहीं होते हैं; परन्तु उनमें जोड़ और दरारें (ज्वायन्ट और फिशर) अवश्य होती हैं जिनमें छिद्रों की भाँति ही जल भर जाता है। ऐसी चट्टान को भेद्य चट्टान (परमियेबुल राक) कहते हैं। ऐसी चट्टानों में ग्रेनाइट चट्टान मुख्य हैं। उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी की चट्टानों में जल भरने के लिए बहुत बड़ा स्थान है।

पृथ्वी की चट्टानें अधिकतर क्षेत्रों में मुड़ी हुई हैं। मुड़ने के कारण चट्टानों में ढाल उत्पन्न हो जाता है जिससे पृथ्वी के भीतर का पाताल जल बहने लगता है और उसमें दबाव उत्पन्न हो जाता है। चट्टान की मोड़ के द्वारा कहीं-कहीं भीतर का जल पृथ्वी की सतह के बहुत निकट पहुँच जाता है जिससे उसको ऊपर निकालने में बहुत सुविधा होती है।

पाताल-जल पृथ्वी की सतह से जितनी नीचाई पर होता है, उस नीचाई को जलस्तर (वाटर टेबुल) कहते हैं। ज्यों-ज्यों पृथ्वी की सतह ऊँची-नीची होती है, त्यों ही त्यों पाताल-जल का स्तर भी ऊपर-नीचे होता रहता है। नदियों की घाटी में जहाँ पृथ्वी की सतह नीची होती है, पाताल-जलस्तर अधिक नीचा होता है; अर्थात् पृथ्वी की सतह से बहुत नीचे होता है। पहाड़ों में जहाँ पृथ्वी की सतह ऊँची होती है, यह जलस्तर भी ऊँचा होता है; अर्थात् वह सतह के थोड़े ही नीचे होता है। परन्तु पहाड़ों का खोदना कठिन होता है, इसलिए पहाड़ों में बहुत कम कुएँ बनते हैं। घाटी में भूमि का खोदना आसान होता है, इसलिए वहाँ पर कुएँ अधिक होते हैं। पृथ्वी की सतह के ऊँचे-नीचे होने के अनुसार ही कुओं की गहराई घटती-बढ़ती है। नदी के निकट कुआँ अधिक गहरा होता है और नदी से दूर कम गहरा। यहाँ पर उस कुआँ से तात्पर्य है जिसमें पाताल जल खींचा जाता है, न कि वह कुआं जिसमें पृथ्वी की सतह का, नदी वाला जल।

छिद्रपूर्ण अथवा छिद्ररहित चट्टानें पृथ्वी में एक दूसरे के ऊपर नीचे मिलती हैं। जहाँ पर छिद्ररहित चट्टान की पर्त छिद्रपूर्ण चट्टान की तह के नीचे होती है, वहाँ पर छिद्रपूर्ण चट्टान में भरा हुआ जल नीचे नहीं जा सकता है। जहाँ पर छिद्रपूर्ण चट्टान के ऊपर छिद्ररहित चट्टान की पर्त है, वहाँ पर जल ऊपर नहीं जा सकता है जब तक कि ऊपर की छिद्ररहित चट्टान को तोड़ा न जाय। छिद्रपूर्ण चट्टान में भरा हुआ जल पृथ्वी की सतह पर तभी आ सकता है जब कि सतह से उस चट्टान का सीधा संबंध स्थापित हो जाय। मनुष्य यह संबंध कुआँ खोदकर स्थापित करता है और प्रकृति यह संबंध ढकने वाली चट्टानों के घर्षण द्वारा और मुड़न द्वारा स्थापित करती है। पहाड़ी भागों में दरारें बन जाने से भी इस प्रकार का संबंध स्थापित हो जाता है। पहाड़ी भागों में कहीं-कहीं पाताल-जलस्तर पहाड़ी ढाल के घिस जाने से या टूट जाने से सतह पर आ जाता है और उससे पाताल-जल

बाहर बहने लगता है। चूँकि पहाड़ी भागों में अनेकों मोड़ें होती हैं जिनके द्वारा पाताल जलस्तर ऊँचा उठा रहता है, इसलिए उन भागों में मैदानों की अपेक्षा अधिक जल स्रोत (स्प्रिंग) पाये जाते हैं। पहाड़ों पर अधिक जल वर्षा होने के कारण भी जलस्तर ऊँचा उठा रहता है और इसलिए प्राय: थोड़ी घर्षण के बाद ही वह बाहर आ जाता है। इसलिए भी वहाँ जल स्रोत अधिक होते हैं।

ऊपर कहा गया है कि पाताल-जल वास्तव में पृथ्वी पर होनेवाली जल वर्षा का ही एक भाग है। जब-जब जल वर्षा होती है, तब-तब उसका कुछ भाग भूमि में सोखकर पाताल-जल में मिल जाता है। जब वर्षा अधिक होती है, तब अधिक जल सोखता है और इसलिए तब पाताल जलस्तर और ऊँचा हो जाता है। जब वर्षा कम होती है, तब कम जल सोखता है और इसलिए ऐसे समय जलस्तर कम ऊँचा उठता है। जब वर्षा बिलकुल नहीं होती है और इसलिए जल बिलकुल नहीं सोखता है, तब जलस्तर नीचा हो जाता है; क्योंकि पाताल-जल का कहीं न कहीं निकास अवश्य होता है जहाँ यह भीतरी जल पृथ्वी की सतह पर बराबर निकलता रहता है। इसलिए जल वर्षा पर निर्भर होने के कारण, जलस्तर दो प्रकार के होते हैं; (१) स्थायी (परमानेन्ट) और (२) अनस्थायी (इन्टरमिटेन्ट)। जहाँ पर स्थायी जलस्तर का संबंध पृथ्वी की सतह से है, वहाँ पर जल स्रोत स्थायी होता है, जहाँ पर क्षणिक जलस्तर सतह पर छूता है, वहाँ पर जलस्रोत अनस्थायी होता है जो केवल जल वर्षा की ऋतु में ही चलता है।

पाताल-जलस्तर के विचार से छिद्रपूर्ण चट्टानों के तीन भाग होते हैं :—

(१) अपरिपूर्ण भाग (जोन आफ नानसैचुरेशन) जिसमें होकर जल सोखता है, और जो सतह से मिला होता है।

(२) क्षणिक परिपूर्ण भाग (इन्टरमिन्टेट सैचुरेशन जोन) जो वर्षा की ऋतु में भर जाता है।

(३) परिपूर्ण भाग (परमानेन्ट सैचुरेशन जोन) जो सदा भरा रहता है और जो सतह से २०००-३००० फीट नीचे होता है।

आगे दिये हुए चित्र में जल स्रोत और पाताल जलस्तर का संबंध दिखाया गया है। इस चित्र में छिद्ररहित चट्टान घनी रेखाओं द्वारा दिखाई गई है और छिद्रपूर्ण चट्टानें बिन्दुओं द्वारा। ध्यान देने की विशेष बात यह है कि छिद्ररहित चट्टान के द्वारा ही पाताल जल की रक्षा होती है। चित्र में जलस्तर दो प्रकार की रेखाओं से दिखाया गया है, टूटी रेखा क्षणिक जलस्तर और अटूट रेखा स्थायी जलस्तर दिखाती है। इन रेखाओं की मोड़ ध्यान देने योग्य है। पृथ्वी की सतह की ऊँचाई-नीचाई के कारण जलस्तर रेखा सदा टेढ़ी होती है। ये जलस्तर रेखायें एक ओर मिली हैं और दूसरी ओर अलग-अलग हैं। जहाँ ये मिली हैं, वहाँ स्थायी स्रोत है; जहाँ अलग हैं वहाँ केवल अनस्थायी स्रोत हैं। इस दूसरे स्रोत के

स्थान पर केवल क्षणिक जलस्तर ही सतह पर आता है, स्थायी जलस्तर नहीं। इसलिए वर्षा ऋतु में ही यह स्रोत चालू रहता है, सूखा ऋतु में नहीं। इस चित्र से यह बात स्पष्ट है कि स्रोत होने के लिए यह आवश्यक है कि जलस्तर पृथ्वी की सतह पर खुल जाय।

जहाँ कहीं छिद्रपूर्ण चट्टान पृथ्वी की सतह पर नहीं पहुँचती है, वरन् वह छिद्ररहित चट्टान के नीचे दबी रहती है, वहाँ जल प्राप्त करने के लिए कुआँ खोदना पड़ता है। अधिकतर स्थानों में सतह पर छिद्रपूर्ण चट्टान होने पर भी कुआँ खोदने की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि वह चट्टान जल से अपरिपूर्ण है। इसलिए जलस्तर तक पहुँचने के लिए कुआँ खोदना आवश्यक है।
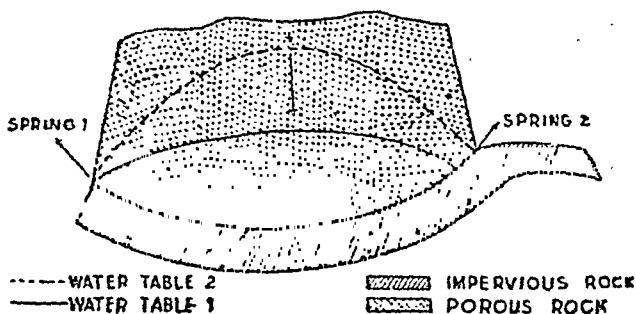
चित्र १४५—स्रोत की उत्पत्ति

कहीं-कहीं छिद्ररहित चट्टान के नीचे पानी का दबाव अधिक होता है। ऐसे स्थान पर जब ऊपर की चट्टान कुआँ के लिए तोड़ी जाती है, तब नीचे के दबाव के कारण पानी अपने आप सतह पर आ जाता है। ऐसे कुओं को पाताल तोड़ कुआँ (आर्टीजियन वेल) कहते हैं। पाताल जल का दबाव जल की अधिकता और चट्टान की ढाल के कारण होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि पाताल-जल की पूर्ति बड़ी दूर-दूर से होती है। यह आवश्यक नहीं है कि पाताल-जल के लिए स्थानीय जल-वर्षा ही हो। अन्य-अन्य स्थानों की जलवर्षा का जल भूमि में सोखकर सैकड़ों मील तक सतह की नदियों की भाँति इधर-उधर बहता रहता है। यही कारण है कि सहारा मरुभूमि अथवा आस्ट्रेलिया में जल वर्षा न होने पर भी चट्टानों के सहायक होने के कारण पाताल तोड़ कुएँ खोदे जा सके हैं। उत्तर प्रदेश में तराई क्षेत्र में कई स्थानों पर पाताल तोड़ कुएँ हैं। काशीपुर में भी ऐसा एक कुआँ है।

आगे दिये हुए चित्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के कुओं की प्राकृतिक दशा दिखाई गई है। इसमें कई प्रकार की चट्टानें हैं जिनमें चट्टान B छिद्ररहित चट्टान है और चट्टान W छिद्रपूर्ण चट्टान है, जिसमें D कुआँ है। पहले कुआँ में जल का दबाव प्रायः नहीं है, इसलिए

उसमें से पानी निकालने के लिए ताकत लगानी पड़ती है। दूसरे कुआँ में भी ऐसा ही करना पड़ता है; परन्तु उसमें बहुत दूर तक जल आता है और इसलिए उसकी मात्रा अधिक है। तीसरे कुआँ में जल का दबाव भी अधिक है और उसकी मात्रा भी अधिक है। इसलिए वहाँ अपने आप ही जल सतह पर पहुँच जाता है; और इसलिए वह पाताल तोड़ कुआँ है। इस चित्र में C वह स्थान है जहाँ पर छिद्रपूर्ण चट्टान पृथ्वी की सतह पर है और जहाँ वर्षा का जल उसमें प्रवेश करता है।
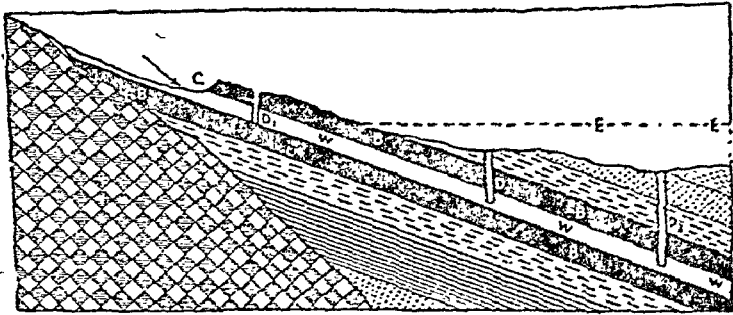
चित्र १४६

समुद्र की लहरें

समुद्र पर जब पवन चलती है तब उसको बहुत कम रुकावट होती है। इसलिए थल की अपेक्षा जल पर उसकी गति अधिक वेगवती होती है। वेग से चलने के कारण वह जल को इधर-उधर हिला देती है। हिलने से समुद्र-जल में लहरें उत्पन्न हो जाती हैं; परन्तु लहर बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी गति अधिक हो। आवश्यकता है कि वह निरंतर चले। यह स्मरण रखना चाहिए कि लहरें तभी उठती हैं जब पवन चलती है। एक बार बनने के बाद लहर स्वयं चलती जाती है। ऐसी लहर कभी-कभी ५०० मील प्रति घंटा चलती है। अधिकतर लहरों में जल अपना स्थान नहीं छोड़ता है; केवल उसमें एक आकार बन जाता है, जिस प्रकार सूखने के लिये फैलाये हुए वस्त्र में पवन के द्वारा लहरें पड़ती हैं। जल का यही आकार लहर कहलाता है। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा के खिंचाव से समुद्र जल में ज्वार बन जाता है, उसी प्रकार पवन के खिंचाव से समुद्र जल में लहरें बन जाती हैं। जिस प्रकार झूले में बैठ कर हम इधर-उधर होते हैं उसी प्रकार लहर में पड़ कर पानी के कण इधर-उधर ही होते हैं, लहरों के बाहर नहीं जा पाते हैं। समुद्र की लहरें ऊपरी जल में ही रहती हैं, जल के भीतर प्रवेश नहीं करती हैं। ऐसा देखा गया है कि ६०० फीट की गहराई पर समुद्र जल बिलकुल शान्त रहता है।

झूले की पेंग की भाँति लहर की ऊँचाई भी कम या अधिक होती है। झूले की पेंग झूला चलाने वाले की शक्ति के अनुसार होती है। लहर की ऊँचाई पवन की शक्ति अर्थात् उसके वेग पर निर्भर होती है। वास्तव में नीचे दी हुई पवन की तीन बातें लहरों की ऊँचाई नियत करती हैं :—

(अ) पवन का वेग,

(ब) पवन की देरी,

(स) जल पर पवन के खिचाव (फेच आफ वाटर) की दूरी अर्थात् कितने जल पर पवन का प्रभाव पड़ता है। खिचाव की लंबाई को वेव लेंग्थ भी कहते हैं। यह देखा जाता है कि लहर में तीन भाग होते हैं: दो ऊँचाइयाँ और उनके बीच की नीचाई (ट्रफ)। ये तीनों भाग एक वृत्त में होते हैं; इस वृत्त के ही चारों ओर जल के कण घूमते रहते हैं। लहर में यदि एक कार्क का टुकड़ा छोड़ दिया जाय तो वह पहले पहली ऊँचाई की चोटी तक जायगा और वहाँ से उस ऊँचाई के दूसरी ओर नीचे उतरेगा, वहाँ से नीचे भाग में पीछे वापस लौटेगा और फिर आती हुई दूसरी लहर की ऊँचाई की चोटी पर पहले की भाँति चलेगा। इस प्रकार उसका पूरा वृत्ताकार चक्कर लगता है। इस वृत्ताकार पथ का व्यास लहर की ऊँचाई के बराबर होता है। लहर में जल का कण झूले की भाँति जितना आगे जाता है उतना ही पीछे लौटता है। इस प्रकार की लहर को 'झूलनी लहर' (वेव आफ ओसीलेशन) कहते हैं। ऐसी लहर की ऊँचाई पवन के प्रति घंटा वेग को आधा करने से फीट में निकलती है; अर्थात् यदि पवन का वेग ४० मील प्रति घंटा है, तो लहर की ऊँचाई उसका आधा, २० फीट, होगी। यही कारण है कि तूफान के समय जब पवन का वेग अधिक होता है, तब ऊँची-ऊँची लहरें समुद्र में उठती हैं। ऐसा देखा गया है कि लहर की ऊँचाई उसकी लंबाई का सातवाँ भाग होती है।

खुले हुए समुद्र पर लहरों की ऊँचाई प्रायः ५ फीट से १५ फीट हुआ करती है। उनके खिचाव की दूरी (वेव लेंग्थ) प्रायः २०० से ७०० फीट होती है।

उथले समुद्र में अथवा तट के निकट लहर में पड़े हुए जल-कण जितना पीछे जाते हैं उससे कुछ अधिक आगे की ओर बढ़ जाते हैं जिससे लहर टूट जाती है। ऐसी लहर को "भग्न लहर" (ब्रेकर) कहते हैं। इस प्रकार की लहर को 'अग्रगामी लहर' (वेव आफ ट्रान्सलेशन) भी कहते हैं। जब समुद्रतट पर लहर टूटती है तब उसका जल नीचे ही नीचे धारा की भाँति समुद्र की ओर बह जाता है। इस धारा को 'लौटता जल' (बैकवाश) कहते हैं।

जब समुद्र में ज्वालामुखी का उद्गार होता है, अथवा भूकम्प आता है, तब भी लहरें उत्पन्न होती हैं। ऐसी लहरों का सम्बन्ध पवन से नहीं होता है।

समुद्र की लहरों के रूप तीन प्रकार के होते हैं; (अ) लहर (सी) जो पवन-जनित होती है, (ब) जल उभार (स्वेल) जो स्वयं-चालित होती है और (द) जल-उछाल (सर्फ या ब्रेकर) जो लहर का अन्त रूप होता है और जो स्थल से लड़कर टूट जाता है।

समुद्र की लहरों में बहुत बड़ी शक्ति होती है। तट की चट्टानों से लड़ने पर इस शक्ति के कारण पूरा तट ही परिवर्तित हो जाता है।

झील—जल भाग का एक क्षणिक आकार झील है। स्थल के एक ऐसे नीचे स्थान में जल के भर जाने से जहाँ से उसका पूर्ण निकास न हो, झील बनती है। झीलें प्रायः छोटी होती हैं और उनका जल उथला होता है। पृथ्वी पर जितनी भी झीलें हैं उनका अन्त, अपेक्षाकृत, शीघ्र ही हो जायगा। झीलों के नीचे स्थानों की बनावट धरातल की उलट-फेर से सम्बन्धित है; ज्योंही उलट-फेर के परिणाम स्थायी हो जाते हैं; त्यों ही झीलों का अन्त हो जाता है। झीलों का अन्त उनके नीचे भाग में मिट्टी भर जाने और उससे जल का पूरा-पूरा निकास-पथ बन जाने पर होता है।

झीलें निम्नलिखित प्रकार की होती हैं :—

(१) धरातल के घिरे हुए नीचे भाग; जैसे काश्मीर की वूलर झील या नैनीताल के निकट भीमताल—कभी-कभी ये नीचे भाग ज्वालामुखी पर्वतों के मुख (क्रेटर) होते हैं जिनमें भरी झीलों को ज्वालामुखी झील (क्रेटर लेक) कहते हैं।

चित्र १४७—एक क्रेटर झील

(२) नदियों की बन्द घाटियाँ—ऐसी झीलें प्रायः प्राचीन काल के बर्फ वाले प्रदेशों में मिलती हैं जहाँ नदियों की घाटियों में जल का बहाव बर्फ से लाई हुई मिट्टी और पत्थर से रुक गया है। कभी-कभी कृत्रिम रूप से नदियों का बहाव रोककर बिजली

बनाने के लिए नदियों की घाटी में झील बना लेते हैं। ऐसी झील पश्चिमी घाट पहाड़ों में पूना के निकट आन्ध्र झील है। यह झील आन्ध्र नदी में बाँध बनाकर बनाई गई है।

(३) नदियों के प्राचीन बहाव (आक्सबो झील)—कहीं-कहीं बाढ़ के समय में नदियों का मोड़ का मुख बन्द हो जाने से छोटी, परन्तु लम्बी झील बन जाती है। ऐसी झीलें नदी के निचले भाग में अधिक होती हैं।

(४) तटीय झील (लैगून)—कभी-कभी समुद्र के किनारे भी बालू की दीवारें इकट्ठा हो जाने से समुद्र का कुछ जल समुद्र से अलग हो जाता है। भारत के पूर्वी तट पर स्थित चिल्का झील ऐसी ही झील है।

(५) दरारें—धरातल में अनेक दरारें पाई जाती हैं। ये दरारें चट्टान के फटने से बनी हैं। इन दरारों की तह में कहीं-कहीं कुछ नीचे भाग हैं। इन नीचे भागों में जल भर जाने से दरारी झीलें (फाल्ट लेक) बन गई हैं। अफ्रीका की दरारी झीलें, टैन्गनीक आदि प्रसिद्ध हैं। नैनीताल की झील भी दरारी झील है।

पृथ्वी पर सबसे अधिक झीलें उन प्रदेशों में पाई जाती हैं जिनमें हाल ही में बर्फ की मोटी तहें जमी हुई थीं। उत्तर-पश्चिमी योरप तथा उत्तरी अमेरिका में ऐसी झीलें बहुत हैं। इन प्रदेशों में अधिकतर भागों में बर्फ के बोझ से धरातल टेढ़ा हो गया है। वहाँ पर पिघली हुई बर्फ का जल भर गया है और इस प्रकार झीलें भर गई हैं। अन्य स्थानों में बर्फ द्वारा लाई हुई बालू मिट्टी से नीचे भाग घिर गये हैं जिनमें पानी भर जाने से झीलें बन गई हैं।

झीलों में पानी की मात्रा वर्षा के अनुसार घटती-बढ़ती है। सूखी ऋतु में भाप बन कर बहुत-सा जल सूख जाता है। इसलिए उस समय झील का जल कम हो जाता है। वर्षा होने पर उनमें चारों ओर से जल इकट्ठा हो जाता है और इसलिए उनमें जल उस समय अधिक हो जाता है।

संसार की बड़ी-बड़ी झीलों की तालिका नीचे दी गई है:—

झीलें

नाम	क्षेत्रफल वर्गमील	गहराई फीट
कास्पियन सागर	१,६९,०००	३,२००
सुपीरियर झील	३१,२००	१,००८
अरल सागर	२६,९००	१,२००
विक्टोरिया नियानजा	२६,०००	२४०
मिशीगन झील	२२,५००	८७०
ह्यूरन झील	२२,३३२	७५०
नियासा झील	१४,०००	२,३००
टंगानिका झील	१२,६५०	४,१८८
बैकाल झील	१२,५००	४,९९७

अध्याय १२

जीव मण्डल (वायोस्फियर)

पृथ्वी पर अन्य मण्डलों के साथ-साथ जीव मंडल भी पाया जाता है। जीव मंडल में जीवधारियों का स्थान-वितरण है। यह वितरण विशेष कारणों द्वारा होता है और भूगोल के अध्ययन में सम्मिलित है। जीव मंडल में सभी चेतनायुक्त अवयवधारी सम्मिलित हैं। पेड़, पशु, पक्षी और मनुष्य सभी इस मंडल के अंग हैं। जीव मण्डल के जीवन की उन्नति और प्रसार के लिए आकार अथवा अवयव आवश्यक हैं। इस आकार और अवयव को बनाये रखने के लिए जीव को भोजन की आवश्यकता पड़ती है। भोजन की उत्पत्ति पृथ्वी पर स्थित थल-मण्डल से ही संबंधित है। इसलिए जीव मण्डल को भी थल-मण्डल से ही सम्बन्धित होना पड़ता है। पहले कहा गया है कि जल में रहने वाली मछलियों का भी भोजन नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से पैदा होता है। वायुमंडल में उड़ने वाले पक्षी भी भोजन के लिए थल पर उगे हुए वृक्षों के फल ही ढूँढ़ते हैं। जहाँ भोजन सुविधापूर्वक मिल जाता है, वे ही स्थान जीव मण्डल के लिए श्रेष्ठ समझे जाते हैं। भोजन की प्राप्ति भौगोलिक बातों पर, विशेषकर जलवायु पर, निर्भर है। इसलिए जीव मण्डल का प्रसार भौगोलिक बातों पर पूर्णतया निर्भर है। यही नहीं, किसी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में भोजन-प्राप्ति के लिए रहने से जीव मण्डल को उसी परिस्थिति के अनुकूल अपने अवयव बना लेने पड़ते हैं। विज्ञान-वेत्ता प्राचीन जीव मंण्डल के अवशेषों (फासिल) को देखकर यह बताते हैं कि जल-वायु के परिवर्तनों का प्रभाव जीवधारियों के अवयवों पर अधिक पड़ा है।

जीव मंडल में तीन मुख्य प्रकारें होती हैं: (अ) वनस्पति, (ब) पशु और (स) मनुष्य। पशु और मनुष्य को चलने-फिरने की स्वतंत्रता है; परन्तु वनस्पति को यह स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त है। वनस्पति अपनी जड़ों द्वारा भूमि से बँधी होती है। जो वनस्पति समुद्र में उगती है, वह भी अपनी इच्छानुसार इधर-उधर नहीं जा सकती है; समुद्र के जल द्वारा ही वह इधर-उधर पहुँच सकती है। पशुओं से मनुष्य अपनी मनन शक्ति और विशेष प्रकार के मस्तिष्क के कारण भिन्न हैं। इस मनन शक्ति के कारण मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपने को अथवा अपनी परिस्थिति को सुविधापूर्वक अदल-बदल लेता है।

ऊपर कहा हुआ जीव मण्डल अनुकूल परिस्थितियों में पृथ्वी पर इधर-उधर फैल

जाता है। वनस्पति के बीज पवन द्वारा अथवा बहते जल द्वारा इधर-उधर दूर तक पहुँच जाते हैं। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं, तो वे बीज नये स्थानों में उगते हैं और इस प्रकार वनस्पति का प्रसार होता है।

वनस्पति—किसी न किसी प्रकार की वनस्पति पृथ्वी पर सब जगह मिलती है। मरुभूमि में एक विशेष प्रकार की वनस्पति होती है; यद्यपि वह वनस्पति अधिक नहीं होती है। पृथ्वी पर वनस्पति का जीवन निम्नलिखित बातों पर निर्भर रहता है:—

(अ) ताप, (ब) जल, (स) पवन, (द) प्रकाश, (ग) भूमि।

इन बातों में ताप का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। इसका प्रमाण यह है कि वनस्पति मुख्य कोटियाँ ताप निर्धारण करने वाली अक्षांश रेखाओं की दिशा में फैली हुई हैं। ताप की सहायता से वनस्पति को मिट्टी से भोजन लेने में सहायता मिलती है, इसी प्रकार जल भी वनस्पति के जीवन में सहायक है। जल के द्वारा भोजन वनस्पति के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचता है। प्रायः यह देखा जाता है कि अधिक जल वाले देश में वनस्पति को भोजन अधिक पहुँच सकता है और इसलिए ऐसे देश में वन अधिक पाये जाते हैं। जहाँ जल कम होता है, अथवा वनस्पति को कम मिलता है, वहाँ घास उगती है; और कम जल वाले प्रदेश में मरुभूमि होती है। पवन से वनस्पति में स्थित जल की अधिकता दूर होती है। पवन के साथ उड़ जाने के बाद वनस्पति में नया जल जड़ों से आता है, और इस प्रकार वनस्पति में जल का संचार स्थापित हो जाता है। पवन के वेग के कारण पेड़ों के उगने तथा उनके बढ़ने में कठिनाई पड़ती है। श्री ब्राकमैन का कहना है कि सायबेरिया में पवनों के वेग अधिक न होने से लगभग ७२½° उत्तरी अक्षांश तक पेड़ उगते हैं, परन्तु एल्यूशियन द्वीपों में पवनों के अधिक वेग के कारण ५०° उत्तरी अक्षांश तक ही पेड़ उगते हैं। प्रकाश से वनस्पति को शक्कर बनाने (फोटो सिन्थिसिस) में सहायता मिलती है। यह शक्कर वनस्पति के लिए अनमोल भोजन है। अधिक समय तक प्रकाश मिलने से वनस्पति के लिए ताप की कमी बहुत अंश तक पूरी हो जाती है। ऊँचे अक्षांशों में अधिक ताप न होते हुए भी प्रकाश मिलने के समय की लम्बाई की सहायता से घने वन उगे हुए हैं। यही कारण है कि फिनलैंड और नार्वे के ऊँचे अक्षांशों में जौ की फसल ८९ दिन में ही पक जाती है, और स्वीडेन में ५५° उत्तरी अक्षांश में उसके पकने में १०० दिन लगते हैं। मिट्टी से वनस्पति को न केवल भिन्न प्रकार के रसायन प्राप्त होते हैं, वरन् उसके द्वारा जड़ों को पानी भी पहुँचता है। वनस्पति को कम व अधिक पानी मिलना मिट्टी की बनावट पर निर्भर है। मिट्टी की सहायता से पेड़ सीधा खड़ा भी रहता है।

पृथ्वी पर वनस्पति के तीन भाग हैं; (१) वन, (२) तृण, और (३) मरुभूमि।

उपरोक्त विभाजन में वनस्पति की अधिकता को महत्व दिया गया है। यह अधिकता जलवर्षा के अनुसार होती है; अर्थात् अधिक जलवर्षा अधिक वनस्पति; कम वर्षा कम वनस्पति।

वन—अधिक जलवर्षा वाले प्रदेशों में वन अधिकतर उगते हैं। थोड़ी जलवर्षा वाले क्षेत्रों में भी वन उगते हैं, यदि जलवर्षा का वितरण थोड़े-थोड़े समय पर होता रहे जिससे अधिक लम्बी सूखी ऋतु न हो। वनस्पति को उन्नति के लिए कितना जल मिलता है, यह मिट्टी की बनावट और पवन के द्वारा वनस्पति के जल के उड़ने (ट्रान्स-पायरेशन) पर निर्भर होता है।

वन तीन प्रकार के होते हैं: (१) चौड़ी पत्ती के सदाबहार वन (ब्राडलीफ एवर-ग्रीन फारेस्ट), (२) पतझड़ी वन (डेसीडुअस फारेस्ट), और (३) कोणधारी सदा बहार वन (कॉनीफरस एवरग्रीन फारेस्ट)।

इन वनों का भौगोलिक वितरण क्षेत्रों के पाला-रहित समय अर्थात् वनस्पति की परिपक्वण ऋतु (ग्रोइंग सीजन) से सम्बन्धित है। चौड़ी पत्ती वाले सदाबहार वन के प्रदेश में पूरे वर्ष ताप ऊँचे रहते हैं जिससे वहाँ पर किसी भी समय वनस्पति परिपक्व हो सकती है। पतझड़ी वन प्रदेशों में जाड़े की ऋतु कठोर होती है जिससे उस ऋतु में वहाँ वनस्पति परिपक्व नहीं हो सकती है; परन्तु परिपक्वण ऋतु काफी लंबी होती है। कोणधारी वनों में परिपक्वण ऋतु इतनी छोटी होती है कि बहुत प्रकार की वनस्पति वहाँ पक ही नहीं सकती है। ऊपर दिये हुए वन प्रदेश प्रायः पृथ्वी के मुख्य तापखंडों से संबंध रखते हैं। चौड़ी पत्ती वाले वन उष्ण कटिबंध में, पतझड़ी वन गर्म शीतोष्ण खंड में और कोणधारी वन शीतल शीतोष्ण खंड में पाये जाते हैं।

(१) चौड़ी पत्ती वाले सदाबहार वन—उष्ण कटिबंध के ऐसे नीचे मैदानों में मिलते हैं जहाँ किसी भी समय उगने के लिए ताप अथवा जल की कमी नहीं होती है। इन वन प्रदेशों में वनस्पति बड़े वेग से बढ़ती है। यहाँ ५ दिन में बाँस की ३ फीट बाढ़ देखी गई है। यही कारण है कि यहाँ पर ऊँचे पेड़ और घने वन मिलते हैं। परन्तु यहाँ के वनों में ऊँचे ताप और कड़ी धूप के कारण पेड़ सड़ते भी बहुत शीघ्र हैं। इस प्रदेश के वास्तविक 'वर्षा-वन' (रेन फारेस्ट) वहीं मिलते हैं जहाँ जलवर्षा बहुत होती है; जैसे अमेजन और कांगो नदियों की घाटियों में, जहाँ जलवर्षा कम होती है और भूमि में जल कम रहता है, वहाँ 'मौसमी वन' (मान्सून फारेस्ट) मिलते हैं। इन वनों में गर्मी की सूखी ऋतु में वनों में उगनेवाली घास सूख जाती है। इस सूखी ऋतु में मौसमी वन में पेड़ों की उन्नति रुक जाती है। इस रुकावट का फल वनों के लिए शीतल शीतोष्ण खंड के जाड़े की ऋतु की रुकावट के समान ही होता है। उष्ण कटिबंध

के तीव्र प्रकाश के कारण चौड़ी पत्ती वाले सदावहार वनों में पेड़ों की चोटियाँ घनी पत्तियों से छाई होती हैं। वहाँ पेड़ों के तनों में लतायें लपट कर ऊपर के प्रकाश की ओर बढ़ा करती हैं। जाड़े और गर्मी की ऋतु के अभाव से पेड़ों के लिए वहाँ पतझड़ का कोई नियत समय नहीं होता है। ऐसा देखा गया है कि एक ही पेड़ पर, एक ही समय पर एक डाल में पतझड़ है, दूसरी डाल में फूल आ रहे हैं और तीसरे डाल में फल पक रहे हैं।

अमेजन नदी की घाटी में इस प्रकार के सबसे विस्तृत वन मिलते हैं। इन वनों को वहाँ 'सेल्वा' कहते हैं। इस वन में पेड़ों की जातियों की विभिन्नता विशेष रूप से दिखती है। वहाँ पर एक एकड़ में पेड़ों की ८० से १०० तक भिन्न-भिन्न जातियों का मिलना साधारण बात है। उष्णकटिबंध में कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ पर जल की कमी के कारण कम घने गुल्म वन (स्क्रब) ही मिलते हैं जिनमें छोटी-छोटी झाड़ियाँ अधिक होती हैं। इन झाड़ियों वाले वनों को 'काटिंगा' कहते हैं। काटिंगा शब्द ब्राजील भाषा का शब्द है। इस वन में जलवर्षा के समय बहुत हरियाली रहती है और सूखी ऋतु में घास-फूस सूख जाने से सूखा दृश्य रहता है। काटिंगा में बहुत थोड़ी जाति के पेड़ मिलते हैं।

(२) **पतझड़ी वन**—वहाँ पाये जाते हैं जहाँ तीव्र ऋतु परिवर्तन होता है। परिवर्तन के अकस्मात् परिणाम से अपनी रक्षा करने के लिए पेड़ अपनी पत्तियाँ गिरा देते हैं। यह ऋतु-परिवर्तन चाहे ताप का हो अथवा जल का पेड़ों के लिए उसका परिणाम एक ही होता है। पतझड़ का समय पेड़ के लिए 'विश्राम-काल' (रेस्टिंग पीरियड) होता है। पतझड़ वन में पेड़ों का छोटा कद और उनमें पत्तियों की अपेक्षा लकड़ी की अधिकता विशेष उल्लेखनीय है। इस अधिक लड़की में पेड़ के विश्राम काल के लिए भोजन एकत्रित रहता है।

उत्तरी गोलार्द्ध में पतझड़ी वनों के दो मुख्य क्षेत्र हैं: उत्तरी अमेरिका का पूर्ण भाग और योरप का पश्चिमी भाग। अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में पतझड़ी वनों का प्रायः अभाव है।

पतझड़ी वनों में जहाँ-तहाँ कोणधारी पेड़ भी मिलते हैं। इसीलिए पतझड़ी वनों को 'मिश्रित वन' (मिक्सड फारेस्ट) भी कहते हैं।

(३) **कोणधारी वन**—अधिकतर ऐसे क्षेत्रों में पाये जाते हैं जहाँ पर जाड़े की लम्बी ऋतु के कारण तथा पवनों में जल की कमी के कारण चौड़ी पत्ती वाले पतझड़ी पेड़ नहीं उग पाते हैं और इसलिए कोणधारी पेड़ को किसी पेड़ से प्रतियोगिता नहीं करनी पड़ती है। वास्तव में यह देखा गया है कि जहाँ कहीं पतझड़ी वन खंडों में कोणधारी पेड़ को उगने का मौका मिल गया है वहाँ उसकी उन्नति उत्तरी क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत

अच्छी होती है। कोणधारी वन अधिकतर पूर्ण शीतोष्ण कटिबंध में मिलते हैं और मिश्रित वनों के मुख्य भाग हैं। परन्तु इन वनों का एकाकी क्षेत्र शीतल शीतोष्ण कटिबंध में पूर्व से पश्चिम तक बराबर फैला है। थल के भीतरी भागों में इन वनों का क्षेत्र अधिक चौड़ा हो जाता है। उत्तरी अमेरिका में इन वनों की दक्षिणी सीमा ४५° उत्तरी अक्षांश है; एशिया में ४५° और योरप में ६०° है। कोणधारी वनों को 'बोरियल फारेस्ट' या 'टैगा' कहते हैं। इन वनों में पेड़ों के नीचे घास या लतायें नहीं उगती हैं। इसलिये काफी घने होते हुए भी इन वनों में बहुत दूर तक दिखाई देता है। इन वनों में पेड़ों की थोड़ी ही जातियाँ मिलती हैं; मीलों तक प्राय: एक ही

चित्र १४८—वनस्पति विभाग

जाति के पेड़ उगे रहते हैं। यहाँ के पेड़ों की लकड़ी मुलायम होती है; परन्तु उसमें तारपीन का तेल होने से वह सड़ती देर में है। इसी तेल के कारण उसमें आग जल्द लग जाती है। इसलिए सूखी ऋतु में कोणधारी वनों में आग बहुधा लग जाती है।

तृण—जहाँ वनस्पति के लिए जल की मात्रा कम होती है, वहाँ तृण ही प्राय: उगता है। केवल नदियों अथवा झीलों के निकट ही वहाँ पेड़ उगते हैं। तृण क्षेत्र तीन प्रकार के होते हैं, शीतोष्ण कटिबंध में (१) छोटी घास के मैदान (स्टेप) (२) बड़ी घास के मैदान (प्रेरी) और (३) उष्णकटिबंध में झाड़ीयुक्त घास के मैदान (सवन्ना)। घास के मैदानों की यह विशेषता है कि सूखी ऋतु में घास बिलकुल सूख जाती है। घास के मैदान मरुभूमि की सीमा पर होते हैं। ध्रुव की ओर की सीमा पर छोटी घास और भूमध्य रेखा की ओर की सीमा पर झाड़ीयुक्त घास के मैदान होते हैं। ऐसा

देखा गया है कि घास की उन्नति पर जलवर्षा का परिणाम बहुत शीघ्र होता है। वर्षा होने के कुछ घंटे बाद ही घास हरी हो जाती है और बढ़ने लगती है।

चित्र १४९

मरुभूमि—मरुभूमि दो प्रकार की होती है; उष्ण मरुभूमि (हॉट डेजर्ट) और शीत मरुभूमि (कोल्ड डेजर्ट)। उष्ण भूमि में ऊँचे ताप के कारण वायु इतनी शुष्क होती है कि वहाँ पर अधिकतर जल भाप बनकर उड़ जाता है, जिससे स्थायी वनस्पति का उगना कठिन होता है। शीत मरुभूमि में ताप अधिकतर नीचे रहते हैं जिससे जल जमा हुआ रहता है और वनस्पति के काम नहीं आ सकता है। वहाँ पर भूमि भी पाले से ग्रसित होती है और इसलिए उसमें पेड़ों की जड़ें नहीं घुस सकती हैं। इसलिए भी वहाँ पर वनस्पति की कमी रहती है। दोनों ही प्रकार के मरुभूमि में जल ही वनस्पति की कमी का कारण है; एक में अधिक ताप के कारण और दूसरे में नीचे ताप के कारण उसे जल नहीं मिल पाता। परन्तु घोर मरुभूमि में भी विशेष प्रकार की वनस्पति समय पाकर उग लेती है और अपना बीज छोड़ देती है। उष्ण मरुभूमि में काँटेदार झाड़ी और नागफनी कहीं-कहीं होती है। इनमें जल जमा करने की शक्ति रहती है जिसकी सहायता से मरुभूमि में उनका अस्तित्व बना रहता है। कहीं-कहीं वर्षा की एक-आध बौछार के कुछ दिन बाद तक लम्बी घास उग आती है, और शीघ्र पकने वाली जाति की घास होने से थोड़े ही दिनों में उसमें फूल आकर बीज बन जाते हैं। ये बीज घास सूख जाने के बाद मिट्टी में पड़े रहते हैं और फिर वर्षा होने पर उगते हैं। शीत मरुभूमि को टुण्ड्रा कहते हैं। वहाँ पर मोस और लाइकेन (लिचेन)

नामक दो प्रकार की वनस्पति होती है जो गर्मी की ऋतु में उन्नति करती है। मोस एक छोटी झाड़ी की भाँति वनस्पति होती है जिसके ऊपर कभी-कभी लाइकेन उग आती है और उसी के सहारे जीवित रहती है। वास्तव में लाइकेन पराश्रयी (पैरासाइट) वनस्पति है। मोस और लाइकेन में कड़ा भाग (लकड़ी) नहीं होता है; और न इनमें जड़ें होती हैं। मरुभूमि की वनस्पति को जल-अनैच्छुक (जेरोफाइट) वनस्पति कहते हैं। इस वनस्पति को बहुत कम जल चाहिए।

वनस्पति का विभाजन उसकी जल की आवश्यकता के अनुसार भी किया जाता है। इस विभाजन से निम्नलिखित प्रकार की वनस्पति होती हैः—(१) जल-अनैच्छुक वनस्पति (जेरोफिल), तथा परिवर्तनशील वनस्पति (ट्रोपोफिल)। जल-अनैच्छुक वनस्पति (हाइग्रोफिल) को जल की अधिक आवश्यकता होती है। जल की अधिकता के कारण इस प्रकार की वनस्पति में पत्तियाँ अधिक होती हैं। जल-अनैच्छुक वनस्पति (जेरोफिल) को कम जल की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की वनस्पति में जड़ की उन्नति विशेष रूप से होती है जिससे आवश्यकता पड़ने पर वनस्पति भूमि की गहराई से जल खींच सके। परिवर्तनशील वनस्पति (ट्रोपोफिल) अपने को आवश्यकतानुसार बदल लेती है। सूखी ऋतु होने पर उसकी पत्तियाँ गिर जाती हैं जिससे पेड़ में स्थित जल बहुत दिन तक चल सके। आर्द्र ऋतु आने पर फिर पत्तियाँ निकल आती हैं। हमारे देश की मानसून वनस्पति इस परिवर्तनशील जाति की है।

वनस्पति का एक और विभाजन जातिगत है। पेड़ों से संबंधित वनस्पति एक जाति की होती है; और घास से संबंधित वनस्पति दूसरी जाति की होती है। पेड़ और घास वनस्पति की दो भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं।
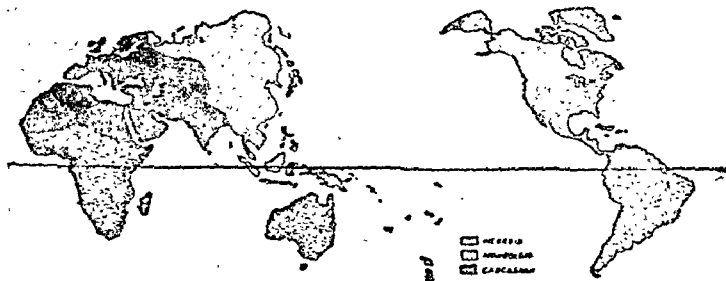
चित्र १५०

पशु—पृथ्वी पर जितने भी पशु हैं उनका जीवन परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से वनस्पति पर ही निर्भर है। बहुत से पशु वनस्पति खाकर जीवित रहते हैं; अन्य जंगली

पशु वनस्पति खाने वाले पशु के मांस को खाकर जीते हैं । इस प्रकार सभी पशुओं का वास्तविक भोजन वनस्पति से ही मिलता है । इसीलिए भिन्न-भिन्न प्रकार की वनस्पति में भिन्न-भिन्न प्रकार के पशु पाये जाते हैं । भूमध्यरेखीय अगम्य वनों में विशालकाय हाथी बहुत पाया जाता है । अपनी बलवान सूड़ को अथवा शरीर की सहायता से वह अपना रास्ता इस घने वन में आसानी से बना लेता है । जहाँ यह वन कम घना है और जहाँ घास के मैदान निकट हैं, वहाँ भूमि पर चलने वाले पशुओं की अधिकता पाई जाती है । वहीं पर आखेट करने वाले शेर और चीते भी पाये जाते हैं । परन्तु घने वनों में रहने और चलने वाले जीव ही अधिकतर होते हैं । साँप, अजगर, बन्दर तथा पक्षी वहाँ बहुत होते हैं। कोणधारी वनों में दो मुख्य प्रकार के जीवधारी होते हैं; एक तो वन में ही रहने वाले, जैसे गिलहरी आदि और दूसरे, जो वन में केवल छिपने के लिए आते हैं,—जैसे भालू आदि । ये छिपने वाले पशु प्रायः खुले स्थानों में अपना भोजन खोजते हैं । घास के मैदानों में घास चरने वाले पशु, जैसे हिरन अथवा भैंसें आदि पाये जाते हैं । मरुभूमि में वनस्पति की कमी के कारण पशु भी बहुत ही थोड़े होते हैं । मरुभूमि में रहने वाले पशु बहुत दिनों तक बिना भोजन और बिना जल के अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं । ऊँट के शरीर में पानी जमा करने की एक विशेष थैली ही इसलिये बनी होती है । शरीर में पानी की रक्षा करने के लिए ही मरुभूमि के पशुओं को पसीना नहीं आता है । झाड़ी-युक्त घास के मैदान (सवन्ना) में ऊँची झाड़ियों की पत्तियों को आसानी से पहुँचने के लिए जिराफ की गर्दन और उसके अगले पैर बहुत लंबे होते हैं ।

ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ पशु अपना स्थान भी परिवर्तन कर देते हैं । गर्मी में शिकार मिलने के स्थान प्रायः ध्रुव की ओर खिसक जाते हैं, क्योंकि बर्फ पिघलने से वहाँ घास उगने लगती है और पशुओं को भोजन मिलता है । जाड़े में इसके विपरीत होता है । उस समय पशु भूमध्य रेखा की ओर आ जाते हैं । इसी प्रकार उष्ण खंडों में सूखी ऋतु आने पर पशु धीरे-धीरे स्थायी जल के अधिक निकट रहने लगते हैं ।

पृथ्वी पर जनसंख्या अधिक बढ़ने के कारण कई जातियों के पशुओं का अन्त होता जा रहा है । उत्तरी अमेरिका में भैंस (बिसन) तथा भारत में शेर इस बात के उदाहरण हैं ।

भूमि पर रहने वाले पशुओं की अपेक्षा जल में कहीं अधिक जीवधारी पाये जाते हैं । जल-पशु की तीन मुख्य प्रकारें हैं; (१) मीठे जल में रहने वाले; (२) समुद्र में कम गहराई में रहनेवाले तथा (३) अधिक गहरे जल में रहने वाले पशु । इन तीनों प्रकारों के जल-पशुओं पर उनकी परिस्थिति का बहुत घना प्रभाव पड़ा है । एक परिस्थिति का जल-पशु दूसरी परिस्थिति में पहुँचते ही मर जाता है । गहरे जल में रहने वाली मछली उथले जल में आते ही मर जाती है । जल की परिस्थितियों में लवण,

ाप, संचार, दबाव आदि में इतना अधिक अन्तर है कि एक परिस्थिति से दूसरी परि-स्थिति में जाने में जल-पशु अपने को बदली हुई दशा में व्यवस्थित नहीं कर पाते हैं और सीलिए मर जाते हैं।

मनुष्य—पृथ्वी जीवधारियों में मनुष्य पर का ही सबसे अधिक महत्व है। अपने स्तिष्क की शक्ति के द्वारा पृथ्वी के अन्य जीवों के विषय में मनुष्य बहुत-कुछ जानता । वह यह जानता है कि पेड़ कैसे उगता है और कैसे उन्नति करता है; वह अनेक ाणियों की उत्पत्ति और विकास का पूरा ज्ञान रखता है। परन्तु यह एक अत्युचित है क मनुष्य को स्वयं अपनी उत्पत्ति का पूर्ण ज्ञान नहीं है। प्राचीन मनुष्य के अवशेष फासिल) बहुत कम मिले हैं। इन अवशेषों से अभी तक यह पता नहीं चल सका है क मनुष्य की उत्पत्ति कैसे और कहाँ पहले पहल हुई है परन्तु लोगों का यह विश्वास कि आदि-मनुष्य की उन्नति किसी निम्नकोटि के जीवधारी से ही हुई होगी। वह निम्न. ोटि का जीवधारी कौन था इसकी खोज अभी तक जारी है।

एक प्राचीन अवशेष जावा द्वीप में त्रिनिल के निकट १८९१ में पाया गया था। यह क खोपड़ी है जो खड़े-खड़े चलने वाले आदि मनुष्य (पियेकैन्थरोपस इरैक्टस) की ानी जाती है। इस खोपड़ी में मस्तिष्क का जो रिक्त स्थान है उससे मनुष्य की खोपड़ी वहुत कुछ समानता पाई जाती है। परन्तु अन्य बातों से इस खोपड़ी का सम्बन्ध ाधुनिक मनुष्य से नहीं लगाया जा सकता है। इस अवशेष को जावा-मैन कहते हैं।

सन् १९०७ में जर्मनी में हाइडेलवर्ग के निकट नीचे के जवड़ा का अवशेष मिला। स जवड़े में जो दाँत हैं, वे मनुष्य के दाँतों के समान हैं। ऐसा विश्वास है कि यह हाइ-लवर्ग मैन लगभग २ लाख वर्ष पहले रहता था। इसकी अपेक्षा जावा-मैन बहुत राना माना जाता है। १९११ में इंगलैंड में पिल्टडाउन के निकट एक प्राचीन खोपड़ी ा कुछ भाग मिला। इसी के पास, परन्तु अलग, एक दाँत और हड्डी के कुछ टुकड़े भी ले। इनसे विश्वास किया जाता है कि यह पिल्टडाउन-मैन लगभग १ लाख वर्ष ा था। १८५७ में जर्मनी में डुइसलडोर्फ के निकट एक खोह में कई खोपड़ियाँ मिलीं। स खोज से नियान्दरथाल-मैन की उपस्थिति मानी गई। यह विश्वास है कि यह मनुष्य ०,००० वर्ष पहले का था। सन् १९२९ में चीन में पेकिन नगर के निकट एक प्राचीन ोपड़ी मिली। इसको पेकिनमैन (सिनानथ्रोपस पेकिनेन्सिस) कहते हैं। यह मनुष्य ावा-मैन से अधिक उन्नत समझा जाता है, यद्यपि इसका समय अन्य अवशेषों से राना माना जाता है। अभी हाल में दक्षिणी अफ्रीका में भी कुछ अवशेष मिले हैं; रन्तु उनका पूर्ण विवरण अभी तक निश्चित नहीं है।

पृथ्वी पर जितने मनुष्य पाये जाते हैं उनमें रंग, बनावट और बालों आदि में बहुत

अन्तर पाया जाता है। लोगों का विचार है कि यह अन्तर परिस्थितियों की भिन्नता के कारण है। इस अन्तर के अनुसार मनुष्य को अनेक जातियों में विभाजित किया गया है। इस विभाजन में रंग पर अधिक ध्यान दिया गया है। मनुष्य की मुख्य जातियाँ नीचे दी जाती हैं:—

१—गोरी जाति, काकेशियन, २—काली जाति, नीग्रोयड और ३—पीली जाति मंगोल्वायड।

प्रत्येक जाति के निम्नलिखित भाग हैं:—

१—काकेशियन में—(अ) नार्डिक
(ब) अल्पाइन,
(स) भूमध्यसागरीय,
(द) आर्य

२—नीग्रोयड में— (अ) अफ्रीकन नीग्रो,
(ब) मेलानोशियन नीग्रो,
(स) नीग्रीटो (बौने)।

३—मंगोल्वायड में—(अ) मंगोलियन,
(ब) मलयशियन,
(स) अमेरिकन इन्डियन।

आजकल आवागमन की सुविधा और शिक्षा बढ़ जाने से जातियों में अन्तर्जातीय सम्बन्ध अधिक हो गया है। अधिकतर जातियाँ अब अपनी आदि परिस्थिति में से इधर उधर हट गई हैं। इसलिए भौगोलिक जाति-विभाजन अब बहुत ढीला पड़ गया है। पृथ्वी के किसी भी भाग में भिन्न-भिन्न जाति के लोग आजकल मिलते हैं।